छात्रोपयोगी ग्रंथमाला २

प्राचीन कवियों की काव्य-साधना

[हिन्दी के दस प्रमुख प्राचीन कवियो के जीवन और काव्य की आलोचना]

संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण

लेखक

राजेन्द्रसिंह गौड़, एम० ए०

संपादक

श्री रामनाथ 'सुमन'

साधना-सदन

७७ लूकरगंज,

इलाहाबाद—१

साधना-सदन
इलाहाबाद—१

चतुर्थावृत्ति
अगस्त, १९५८

मूल्य
पाँच रुपये

मुद्रक : हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग

निवेदन

प्रस्तुत आलोचना पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् १६४७ में प्रकाशित हुआ था। उस समय तक हिन्दी का जो आलोचना-स्तर था उसी के अनुरूप इसकी रचना की गई थी। नई खोजो के अभाव मे इसके दूसरे और तीसरे संस्करण भी ज्यो के त्यो प्रकाशित हुए। परन्तु जब इसके चतुर्थ संस्करण की नौबत आई और इसके साथ ही हिन्दी कतिपय प्राचीन कवियों के संबंध मे नई खोजो के फलस्वरूप आलोचको के दृष्टिकोण में परिवर्तन की झलक दिखाई देने लगी तब मुझे भी अपनी इस रचना में हेर-फेर करने की प्रेरणा मिली। मैंने प्राचीन कवियो के संबंध में उपलब्ध सामग्री का यथा शक्ति अध्ययन किया और इस अध्ययन पर मैंने आदि से अन्त तक इसकी रूपरेखा ही बदल दी। प्राचीन कवियो मे सेनापति और घनानंद को त्याग देने की जो भूल मैंने इसके पूर्व-संस्करणो मे की थी उसका मैंने इस संस्करण मे परिमार्जन किया जिससे आठ के स्थान पर इसमें दस प्राचीन कवियो को स्थान मिल गया और इस कारण इसकी पहले से कहीं अधिक उपयोगिता बढ गई। अब इंटर, बी० ए०, विशारद तथा एम० ए० के परिक्षार्थी इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं।

प्राचीन कवियों के जीवन और काव्य की आलोचना करते समय मैंने किसी विशिष्ट शैली का अनुगमन नहीं किया है। मैंने उन्हे भीतर और बाहर, दोनों ओर से देखने की चेष्टा की है। उन्हे अपनी किन-जीवन परिस्थितियो से कविता करने की प्रेरणा मिली, उन पर उनके समय के वातावरण का क्या प्रभाव पड़ा और उस प्रभाव के फलस्वरूप उन्हें अपने काव्य में क्या-क्या परिवर्तन करने पड़े, इन सब बातो पर ध्यान रखते हुए मैंने उनके काव्य के भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष पर एक सुनिश्चित क्रम से विचार किया है। ऐसा करते समय मैंने विद्यार्थियो की कठिनाइयो का पूरा ध्यान रखा है। गूढ और सूक्ष्म आलोच्य विषयों को अपने अध्यापन अनुभव के आधार पर मैंने अत्यन्त सरल ढंग से समझाने की चेष्टा की है

और उपयुक्त उद्धरणों-द्वारा अपने कथन की पुष्टि की है। तात्पर्य यह कि मेरी आलोचना-शैली वही है जो शिक्षक तथा विद्यार्थियों के बीच समाहृत है और जिसके आधार पर परीक्षक परीक्षाओ मे प्रश्न पूछा करते हैं। इस दृष्टि से इस आलोचना-पुस्तक का अपना महत्व है।

इस पुस्तक के प्रणयन मे मैंने सर्वत्र अपनी ही सूझ-बूझ का परिचय नहीं दिया है। मुझे उन सभी आलोचकों की अमूल्य रचनाओ से सहायता लेनी पड़ी है जिन्होंने कबीर, सूर, जायसी, तुलसी, केशव, सेनापति, बिहारी, भूषण, देव और घनानन्द के जीवन और कृतित्व पर अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाया है। जहाँ तक हो सका है, मैंन प्रसगानुकूल उनके नामो का उल्लेख किया है और उनकी रचनाओ के उद्धरण देकर मैंने अपने तत्संबंधी मत की पुष्टि की है। अतः मैं उन सबका हृदय से आभारी हूँ।

प्रत्येक रचना अपने मे पूर्ण नहीं होती, इसमे कुछ न कुछ भूलें रह ही जाती हैं। खोजने से इस रचना मे भी अनेक भूले मिल सकती हैं। यदि आलोचना-प्रेमियो ने उन भूलों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया तो इस रचना के अगले संस्करण में मैं उन्हे सुधारने की भरपूर चेष्टा करूँगा। इस निवेदन के साथ मुझे पूर्ण आशा और विश्वास है कि हिन्दी के विद्यार्थी मेरी इस पुरानी रचना को नए रूप में पाकर सहर्ष इसका स्वागत करेंगे और इसकी उपयोगिता से लाभ उठा कर मेरे परिश्रम को सफल करने की चेष्टा करेंगे।

२५७, नेहरू नगर
इलाहाबाद-३

—राजेन्द्रसिंह गौड़

विषय-क्रम

कवि	समय	पृष्ठ
१. संत कबीर	सं० १४२५—१५०५	१-४०
२. मलिक मुहम्मद जायसी	सं० १५२०—१५६६	४१-६४
३. सूरदास	सं० १५३५—१६४०	६५-१५२
४. तुलसीदास	सं० १५८६—१६८०	१५३-२०६
५. केशवदास	सं० १६१२—१६७४	२०७-२३७
६. सेनापति	सं० १६४६—१७२६	२३८-२७६
७. बिहारी	सं० १६५२—१७७१	२७७-२९९
८. भूषण	सं० १६६५—१७८८	३००-३२६
९. देवदत्त	सं० १७३०—१८२४	३२७-३५७
१०. घनानंद	सं० १७४६—१८१७	३५८-४२६

—: ० :—

: १ :

संत कबीर

जन्म सं०—१४२५ : मृत्यु सं०—१५०५

जीवन-परिचय

संत कबीर का जन्म कब और कहाँ हुआ, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। कबीर-पंथियो का विश्वास है कि वह ज्योति-स्वरूप होकर लहरतारा के कमल-पत्र पर अवतीर्ण हुए थे। इसी प्रकार उनमे यह भी किंवदन्ती है कि उनका जन्म स्वामी रामानन्द के आशीर्वाद के फलस्वरूप एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था। उस विधवा ब्राह्मणी ने लोक-लज्जा के भय से उन्हे लहरतारा तालाब के निकट फेंक दिया। संयोगवश नीरू नाम का एक जुलाहा अपनी स्त्री नीमा के साथ उसी मार्ग से जा रहा था। नीरू सन्तानहीन था, अतएव उसने नवजात शिशु को उठा लिया और पुत्रवत् उसका पालन-पोषण किया। परन्तु इस कथन का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर की जन्म तिथि ज्येष्ठ अमावस्या, सं० १४५५ मानी है। इसी प्रकार डा० श्याम सुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनका जन्म-सं० १४५६ स्वीकार किया है। पं० परशुराम चतुर्वेदी का मत इन सब से भिन्न है। उन्होने कई संतों के समय की छान-बीन करके यह अनुमान लगाया है कि कबीर का जन्म सं० १४२५ के लगभग हुआ था। जब तक इसके विरुद्ध पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते तब तक हमें यही तिथि मान्य है।

कबीर का जन्म-स्थान भी विवादास्पद है। कुछ लोग उनका जन्म-[illegible]न मगहर, कुछ लोग आजमगढ़ का बेलहरा ग्राम और कुछ लोग काशी [illegible]ानते है। 'धनी धरमदास की शब्दावली' मे एक पद है—'प्रगट भये कासी दास कहाइया'। इससे स्पष्ट होता है कि कबीर का जन्म काशी में ही हुआ

था। वह काशी के जुलाहा थे। उनके पिता का नाम नीरू अथवा नूरी और माता का नाम नीमा था। लोई और धनियाँ नाम की उनकी दो पत्नियाँ भी थी जिनसे दो सन्ताने थी—एक पुत्र कमाल और एक पुत्री कमाली। इन सब के भरण-पोषण का भार कबीर पर ही था। आर्थिक दृष्टि से उनका परिवार सुखी नही था। साधु-सन्तों के स्वागत-सम्मान मे उनकी आय का अधिक भाग निकल जाता था। कपड़ा बुनना खास पेशा था, परन्तु राम-धुन में मस्त रहने के कारण उनके पास इसके लिए भी समय का अभाव रहता था। फिर भी उन्होने कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। दान और भिक्षावृत्ति की ओर वह कभी नही झुके। गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करते हुए साधु-संतो की सेवा करना और रामधुन मे मस्त रहना उन्होने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। आडम्बरों से वह दूर रहते थे। व्रत, रोजा, नमाज आदि मे उनका विश्वास नहीं था। गृहस्थ होकर भी वह गृहस्थ नहीं थे, लौकिक होकर भी वह लौकिक नहीं थे, मुसलमान होकर भी वह मुसल-मान नहीं थे। वह केवल मानव थे, सीधे-सच्चे मानव!

कबीर अशिक्षित थे। वह जिस परिवार मे उत्पन्न हुए थे उसमे साक्षरता का कोई महत्त्व नही था। उन्होने कभी 'कागद' और 'कलम' का स्पर्श नहीं किया। किसी धर्म-विशेष में वह दीक्षित भी नहीं हुए। कहा जाता है कि स्वामी रामानन्द उनके गुरू थे। परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणो से यह बात सिद्ध नहीं होती। स्वामी रामानन्द संत ज्ञानेश्वर (सं० १३३१-५२) के समय में हुए थे। इस प्रकार दोनों के आविर्भाव-काल मे लगभग एक शताब्दी का अन्तर है। ऐसी स्थिति में स्वामी रामानन्द कबीर के गुरु नहीं हो सकते। कबीर की रचनाओ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनका 'विवेक' ही उनका गुरु था। वह न तो किसी धर्म के फेर मे पड़े और न किसी गुरु के। **'बारह बरस बालापन बीते, बीस बरस कछु तपन कियो'**—से स्पष्ट होता है कि लगभग ३०-३२ वर्ष की अवस्था में उन्हे पूर्ण वैराग्य हुआ। इसके बाद वह घर से निकले और झूँसी, मानिकपुर, वृन्दावन, मथुरा, मक्का, बगदाद, समरक़न्द, बुखारा आदि की यात्रा की। अपनी इन यात्राओ से उन्होने बहुत कुछ सीखा-समझा और फिर उसी के आधार पर

उन्होने अपनी उपासना का मार्ग निश्चित किया।

कबीर की मृत्यु स० १५०५ मे मगहर मे हुई। कबीर-पन्थियो का कहना है कि जब उनके शव को हिन्दुओ ने जलाना तथा मुसलमानो ने दफनाना चाहा तब वह लुप्त हो गया और उसके स्थान पर कुछ फूल बच रहे। इन फूलो को हिन्दू तथा मुसलमान-शिष्यों ने आपस मे बॉट लिया। यह किंवदन्ती भी निराधार और ऐतिहासिक प्रमाण-रहित है। इस समय मगहर मे उनके मृत्यु-स्थान पर एक समाधि और एक मक़बरा बना हुआ है।

कबीर का समय

कबीर का जीवन-वृत्त उनके युग का संक्षिप्त इतिहास है। इस इतिहास में हमे उस समय की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक, सभी प्रकार की प्रवृत्तियो का समावेश मिलता है। राजनीतिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वह उथल-पुथल का युग था। कबीर का जन्म यदि स० १४२५ में होना मान लिया जाय तो फीरोज़ तुग़लक़ के शासन-काल (स० १४०८-४५) से सैयद-वश के शासन-काल (सं० १४७१-१५०४) तक उनका होना सिद्ध होता है। भारतीय इतिहास मे यह समय अत्यन्त अशान्ति का समय माना जाता है। महमूद तुगलक़ की अयोग्यता, अमीरो की दलबन्दो, प्रान्तीय सूबेदारो की विद्रोह-भावना और फिर सं० १४५५ मे तैमूर लग का आसुरी आक्रमण—इतिहास की ऐसी घटनाऍ थी जिनसे उस समय भारत का सपूर्ण राजनीतिक वातावरण विषाक्त हो गया था। दिल्ली नष्ट हो गयी थी, मुसलिम-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था, प्रान्तो के सूबेदार स्वाधीन हो गये थे और चारो ओर गडबड़ी फैल गयी थी। दुर्भिक्ष और महामारी का भी इसी समय प्रकोप बढ़ा और सहस्रों व्यक्ति काल के ग्रास बन गये।

राजनीतिक वातावरण की भॉति ही तत्कालीन धार्मिक वातावरण भी अत्यन्त दूषित और विपाक्त था। एक ओर हिन्दू और मुसलमानो के बीच धार्मिक झगड़े हो रहे थे तो दूसरी ओर हिन्दुओं मे भिन्न-भिन्न मतो के माननेवालो के बीच ईर्ष्या और द्वेष की भावना प्रबल होती जा रही

थी। बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त, जैनी, योगी, यती, संन्यासी, नाथ-पंथी, सब आपस में लड़-भिड़ रहे थे। पाखड का बोल-बाला था। वेद, उपनिषद्, गीता आदि धार्मिक ग्रथो के उपदेश से जनता का संपर्क छुटता जा रहा था और अंधविश्वास में लोगो की आस्था दृढ़ होती जा रही थी। चमत्कारी साधु-संतो का समाज में विशेष आदर होता था। इस्लाम-धर्म की मूल भावना में भी परिवर्तन हो चला था। उसमे भी 'पीर' और 'औलिया' पूजे जाने लगे थे। उसके अन्तर्गत एक नया सम्प्रदाय—सूफी सम्प्रदाय—भी धीरे-धीरे फैल रहा था। ऐसे धार्मिक वातावरण मे सामाजिक विषमता का होना स्वाभाविक था। छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, धनी-निर्धनी, छूत-अछूत, ब्राह्मण-अब्राह्मण की दूषित भावनाओ के कारण संपूर्ण भारतीय समाज की शक्ति छिन्न-भिन्न होती जा रही थी। आश्चर्य की बात तो यह है कि मानव-मानव के बीच जातिगत-विभाजनो एव वर्गीकरणो के कारण अशान्ति के होते हुए भी उनका विरोध करना तो दूर रहा, भिन्न-भिन्न धर्म-ग्रथों के आधार पर उन्हे आवश्यक एवं धर्म-सगत बताकर पारस्परिक अनैक्य की भावनाओ को और भी दृढ़ किया जा रहा था। पाखडी, पापी, स्वार्थी, आडम्बर-प्रिय और धूर्त साधु-संन्यासी चारो ओर घूम-घूमकर गृहस्थो को उल्टे-पुल्टे उपदेश देते थे और उन्हें उल्लू बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते थे।

साहित्यिक दृष्टि से कबीर का समय एक विशेष प्रकार के साहित्य का युग था। उसमे जो साहित्य पनप सकता था वह था—संत-साहित्य। इस साहित्य की नीव पड़ चुकी थी। चौरासी सिद्ध, नाम देव, त्रिलोचन, सधना आदि सतो की बानियों का प्रचार बढ रहा था। गीत-गोविन्दकार जयदेव (सं० १२३६-६२) के पद भी गाये जाते थे। मैथिल-कवि विद्यापति (सं० १४१७-१५०५) के गीतों का भी प्रचार था। संतो की बानियों मे काव्य के शास्त्रीय विधि-विधानो का उपभोग कम अथवा नाम मात्र के लिए होता था। उनमे अधिकांश ब्रह्म-विचार और माया की निन्दा को ही स्थान प्राप्त था। दोहा, चौपाई, सबद, बानी आदि मे सत अपनी-अपनी भावनाएँ व्यक्त करते थे और इन्हो को उनके शिष्य-प्रशिष्य चारो

ओर गाते फिरते थे। संक्षेप मे यह तानपूरे का साहित्य था। इस साहित्य के साथ-साथ काव्य-रचना की शास्त्रीय पद्धति का भी प्रचार था। सामन्ती दरबारो मे शास्त्रीय पद्धति से कविता करनेवाले कवि थे। यश और अर्थ प्राप्त करने के लोभ से वे अपनी-अपनी रचनाओ मे नवीन कला-कौशल का आयोजन करते थे। काव्य-रचना मे उनका उद्देश्य होता था—अपने अपने सामन्तो का गुण-गान करना और उनकी शृङ्गार-प्रियता को उत्तेजित करना। कुशल कवि वही समझा जाता था जो इन दोनो उद्देश्यो का सफलतापूर्वक निर्वाह कर सके। तात्पर्य यह कि उस समय जैसा समाज था वैसा ही उसका साहित्य !

कबीर का व्यक्तित्व

देश की ऐसी विषम परिस्थितियो मे जन्म लेकर कबीर ने उसका पथ-प्रदर्शन किया। उनके-जैसे व्यक्ति के लिए यह बड़े साहस का काम था। एक तो जुलाहा, दूसरे अपढ़। इन असुविधाओ के अतिरिक्त काशी के पडितो और इस्लामी राज्य के मौलवियो और काजियों का विरोध ! पर कबीर ने किसी की भी परवाह नही की। वह अपनी आत्मा के सच्चे उपासक थे। आत्मा का सच्चा उपासक न तो किसी सम्प्रदाय में विश्वास करता है और न किसी के सामने घुटने टेकता है। वह किसी पिटे-पिटाए मार्ग पर भी नहीं चलता। किसी का अनुशासन भी उसे प्रिय नहीं होता। वेद, शास्त्र, गीता और कुरान मे भी उसकी आस्था नही होती। व्रत, रोज़ा, नमाज और पूजा-पाठ भी उसके लिए महत्व-हीन होते हैं। वह यदि किसी का विश्वास करता है तो अपनी आत्मा का, वह यदि किसी का कहना मानता है तो अपनी आत्मा का, वह यदि कुछ करता है तो अपनी आत्मा के विकास के लिए। कबीर इसी अर्थ मे आत्म-विश्वासी थे। वह जो कुछ करते थे, जो कुछ कहते थे उसका मूलाधार होता था उनका आत्म-विश्वास। उनकी निर्भीकता, उनकी फटकार, उनका फक्कड़पन, उनकी मस्ती, उनकी साधु-सेवा, उनका गार्हस्थ्य-प्रेम, उनकी वाणी, सब उनके आत्म-विश्वास से ओत-प्रोत थे। उनके-जैसा आत्म-विश्वासी उस समय कोई था ही नहीं। आत्मा न तो हिन्दू है न मुसलमान; न तो शेख है न

जुलाहा, न तो ब्राह्मण है न शूद्र, न तो छूत है न अछूत ! वह अजर-अमर है, अविनाशी है, ईश्वर का अश है। इसलिए वह विश्वसनीय है। मनुष्य का वही सच्चा गुरु है। जिसने अपनी आत्मा का कहना माना, वह कभी नहीं भटका। कबीर भी अपने पथ मे कभी नही भटके। उन्होने स्वय अपना मार्ग बनाया और दूसरो को भी इसी प्रकार अपना-अपना मार्ग बनाने का उपदेश दिया। 'कागद की लेखी' पर विश्वास करनेवालो को उन्होने फटकारा और कहा :—

'पोथी पढ़ि-पढि जग मुआ, पंडित भया न कोय।'

× × ×

'वेद कतेब कहो क्यों झूठा, झूठा जो न विचारै।'

कबीर के युग में सारा झगड़ा विचार-हीनता का ही तो था। हिन्दू और मुसलमान दोनो अपनी-अपनी विचार-शक्ति खो बैठे थे। कबीर ने आत्म-विश्वास के आलोक में सब को अपनी स्थिति पर विचार करने के लिए आमंत्रित किया। वह स्वयं विचारक थे। खोटा-खरा परखने की उनमें अद्भुत शक्ति थी। वह पूर्व-निश्चित किसी भी मान्यता को मनाने के लिए तैयार न थे। वह उस समाज मे उत्पन्न हुए थे जिसे विजेता होने का अभिमान और राज्य-संरक्षण प्राप्त होने का गर्व था। वह उस सम्प्रदाय में जन्म से दीक्षित थे जो अपनी धार्मिक असहिष्णुता के कारण दिन-दहाड़े अपने विरोधी सम्प्रदायवालो को मौत के घाट उतार रहा था। वह उस कुल से सबधित थे जो आज की ही भाँति अपनी कट्टरता, अपनी हठधर्मी, अपने धार्मिक अधविश्वास और अपने अक्खड़पन के लिए प्रसिद्ध था। परन्तु ऐसे समाज, ऐसे सम्प्रदाय और ऐसे कुल मे जन्म लेकर भी वह स्वतंत्र विचार-शक्ति के कारण सब से अलग-थलग रहे। अपनी 'कथनी' और 'करनी' मे उन्होंने भेद नही किया। वह न तो सुधारक थे और न किसी मत-विशेष के प्रवर्तक। वह इन सब से परे थे। चिन्तन के क्षेत्र में वह किसी से समझौता करना नहीं चाहते थे। 'सत्य' की खोज में वह इसे बाधक समझते थे। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण उन्होने न तो किसी का शिष्यत्व स्वीकार किया और न 'कागद की लेखी' से ही कुछ

नाता रखा। परमात्मा के घर से वह जो शरीर, जो मन, जो हृदय और जो मस्तिष्क लेकर आये थे उस पर उन्होने कभी भी बाहरी रंग नही चढ़ाया। निर्जन वन अथवा गुफाओ में प्रवेश न कर उन्होने अपने शरीर, मन और मस्तिष्क में ही 'सत्य' की खोज की और दूसरों का भी ऐसा ही करने के लिए प्रोत्साहित किया। डा० गोविन्द त्रिगुणायत के शब्दों मे 'सत्य के उस अनन्य उपासक में श्रेष्ठ दार्शनिक बुद्धिवादिता और चिन्ता, कट्टर क्रान्तिकारियो की क्रान्ति-भावना और कठोरता, अनन्य भक्त की ओर प्रेमानुभूति, सच्चे आलोचक की स्पष्ट वादिता, सच्चे साधु की आचरण-प्रियता, आदर्श पुरुष की कर्तव्य-परायणता, योगियो की अक्खड़ता तथा पक्के फकीर की साधना थी।' वह 'राम' के ही नही, राम-भक्तो के भी भक्त थे। वह कहते थे :—

'सपनेहु बरराई के जेहि मुख निकसे राम।
ताके पग की पाँवरी, मेरे तन को चाम॥'

कबीर श्रमजीवी थे। उत्तराधिकार के रूप मे उन्हे जो व्यवसाय मिला था उसका उन्होने कभी परित्याग नहीं किया। अपने परिवार का भरण-पोषण और साधु-संतो की सेवा वह अपनी ही कमाई से करते थे। उनमे इतनी आत्म-निर्भरता थी कि वह जीवन की किसी भी परिस्थिति मे घबड़ाते नही थे। उनकी माता उनके स्वतंत्र विचारो के लिए उन्हे फटकारती थीं, उनकी पत्नियाँ उन्हे कोसती थीं, पर वह रहते थे अडिग और अचल। पारिवारिक जीवन में उनके व्यक्तित्व की इसी विशेषता ने उन्हे सहिष्णु, उदार, गभीर और शान्त बना दिया था। भाग्यवाद मे उनका अटल विश्वास था। अपने संबंध मे वह कहते थे:—

'कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाँव।
गले राम की जेवडी, जित खैंचै तित जाऊँ॥'

ऐसा था कबीर का व्यक्तित्व जिसके निर्माण मे उनका अपना ही हाथ था। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उनके व्यक्तित्व के संबध में ठीक ही लिखा है कि 'हजार वर्ष के इतिहास में कबीर-जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नही उत्पन्न हुआ।'

कबीर का महत्व

कबीर संधि-काल के विचारक और चिन्तक थे। उनका समय दो परस्पर विरोधी सभ्यताओ एवं संस्कृतियो के संघर्ष का युग था। इस संघर्ष का प्रभाव तत्कालीन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक तथा धार्मिक—पर पड़ रहा था और उसके दुखद परिणाम स्पष्ट होते जा रहे थे। साथ ही यह भी अनुभव किया जा रहा था कि यदि विजेताओं को विजितो के साथ इसी देश में जमकर रहना है तो उन्हे यहाँ के जीवन-सिद्धान्तो के साथ किसी-न-किसी रूप मे समझौता करना होगा। समझौते की यह भावना उच्च स्तर के लोगो की अपेक्षा निम्न स्तर के लोगो में विशेष रूप से घर कर रही थी। वस्तुतः निम्न स्तर के लोग ही हेय, तिरस्कृत, उपेक्षित और पीड़ित थे। कोई उन्हे पूछने वाला नहीं था। शासक, साधु, संन्यासी, पूँजीपति—सब उन्हीं के परिश्रम की कमाई पर मौज उड़ाते थे। संक्षेप में, उनका वर्ग शोषित वर्ग था जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनो सम्मिलित थे। आर्थिक दृष्टि से ही नही, सामाजिक दृष्टि से भी इस वर्ग के लोग उपेक्षित थे। वर्ण-व्यवस्था की जटिलता और उससे उत्पन्न दोषो के कारण हिन्दू क्षुब्ध थे और मुसलमान तुर्की, अरबी, नव मुस्लिम आदि कई वर्गों में विभाजित हो गये थे। इस प्रकार हिन्दू तथा मुसलमान दोनों अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थओ से पीड़ित थे। धर्म-साधना की दृष्टि से भी इनमें कहीं साम्य नही था। हिंन्दुओ में बौद्ध, जैनी, वैष्णव, शैव, शाक्त, संत, नाथ-पंथी आदि अनेक परस्पर विरोधी मतों के माननेवाले थे तो मुसलमानों मे शिया, सुन्नी, सूफ़ी आदि कई परस्पर-विरोधी सम्प्रदायवाले उत्पन्न हो गये थे। तात्पर्य यह कि क्या हिन्दू और क्या मुसलमान सब का जीवन संघर्षमय हो गया था। सबके जीवन मे अनैतिकता, पाखंड, अंधविश्वास और स्वार्थपरता ने घर कर लिया था।

ऐसे समाज और ऐसे वातावरण मे जन्म लेकर कबीर ने उसके संस्कार एवं उद्धार का दावा नहीं किया। उनके हृदय पर तत्कालीन वातावरण की छाप अवश्य पड़ी, परन्तु उस छाप से प्रभावित होकर उन्होने

सामाजिक अथवा धार्मिक नेता बनने की चेष्टा नहीं की। वह साधक थे, सुधारक नही। वह सर्व-धर्म समन्वयकारी भी नही थे। सर्व-धर्म समन्वय से जो तात्पर्य ग्रहीत होता है वह उनमे नही था। अपने समय के दूषित वातावरण मे उन्होने या तो अपने मन को समझाया या फिर उन साधु-संतो को जो उनके सपर्क मे आते थे। सार्वजनिक रंगमच से उन्होने कभी कोई उपदेश नही दिया। वह व्यक्तिवादी थे, तुलसी की भाँति समाजवादी नही थे। उनके 'राम' तुलसी के लोकनायक 'राम' नहीं, उनके अपने 'राम' थे, उनके हृदय, मन और मस्तिष्क मे निवास करनेवाले 'राम' थे। ऐसे 'राम' की उपासना के मार्ग मे अधविश्वास, पाखड, छूत-अछूत, ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान, व्रत-उपवास, रोजा-नमाज, मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि से संबंधित जो भी कूड़ा-करकट उन्हे दिखाई दिया उसे उन्होने स्वानुभूति-जन्य-ज्ञान की झाड़ू से कही हलके हाथो और कहीं कुछ जोर लगाकर साफ किया। इससे उनकी साधना का मार्ग तो परिष्कृत हो ही गया, साथ ही उस समय के साधु-संतो तथा उनके संपर्क मे आनेवाले गृहस्थों को भी लाभ उठाने का अवसर मिला। इसे यदि कोई सुधार की सज्ञा देना चाहे तो दे सकता है, परन्तु इसके बल पर कबीर को 'समाज सुधारक', 'सर्व-धर्म-समन्वयकारी', 'हिन्दू मुस्लिम-ऐक्य-विधायक', 'विशेष संप्रदाय के संस्थापक' आदि कहना उनकी साधना के प्रति अन्याय करना होगा। वह इनमे से एक भी नही थे। वह केवल व्यष्टिवादी थे, 'समष्टि वृत्त उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नही था।' इसलिए वह सामाजिक जीवन-निर्माण की कोई चिर नवीन योजना, कोई अभिनव कार्यक्रम लेकर सामने नहीं आये। उन्होने कहा :—

'सुर, नर, मुनि, जन, औलिया ये सब उरली तीर।
अलह-राम का गम नहीं, तँह घर किया कबीर॥'

× × ×

'कोई ध्यावै निराकार को, कोई ध्यावै साकारा।
वह तो इन दोऊ ते न्यारा, जानै जाननहारा॥'

× × ×

'एक कहो तो है नहीं दोय कहो तो गारि।
है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर विचारि॥'

× × ×

'ज्यों तिल माही तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुज्झ में, जागि सकै तो जागि॥'

× × ×

'आतम में परमातम दरसै, परमातम में झाईं।
झाईं में परछाईं दरसै, लखै कबीरा साईं॥'

× × ×

'बीज मध्य ज्यौं वृच्छा दरसै, वृच्छा मद्धे छाया।
परमातम मे आतम तैसे, आतम मद्धे माया॥'

× × ×

'गुप्त प्रकट है एकै मुद्रा। काको कहिए ब्राह्मन-सुद्रा।
झूठ गरब भूलै मत कोई। हिन्दू तुरक झूठ कुल दोई॥'

यही आध्यात्मिक रस कबीर की वाणी का शृङ्गार है और इसी रस से उनका सारा जीवन ओत-प्रोत है। इसमें सुधार की प्रवृत्ति है अवश्य, पर वह समष्टि की ओर उन्मुख न होकर व्यष्टि की ओर है। कबीर व्यक्ति को संबोधित करके कहते थे, समाज को संबोधन करके नहीं। उनके पास सबसे कहने के लिए एक बात थी और वह थी :—

'लोगा भरमिन भूलहू भाई!
खालिकु खलकु, खलकु महिं खालिकु पूरि रह्यो सब ठाईं।
मांटी एक अनेक भांति कर, साजी साजनहारे॥
न कछु पोच मांटी के भांड़े, न कछु पोच कुम्हारे।
सब महिं सच्चा एकौ सोई, तिसका कीआ सब कुछ होई।'

इसे कोई माने तो वाह-वाह, न माने तो वाह वाह! कबीर मस्त मौला थे। दाएँ-बाएँ, आगे-पीछे मुडकर देखने की उन्हें फुर्सत नही थी। कोई दल बनाकर, कोई सम्प्रदाय खड़ा कर चलनेवालों में वह नही थे। कोई उनके पीछे चले या न चले, इसकी चिन्ता उन्होंने नहीं की। 'अपनी

राह तू चले कबीरा'—उनका आदर्श था। इस 'अपनी राह' का निर्माण उन्होने धर्म, सम्प्रदाय, जाति, कुल और शास्त्र की रूढ़ियो से मुक्त हो कर किया था।

कबीर-व्यक्तिवादी होकर भी समाज-विरोधी नहीं थे। जिन आचार-विचारो से समाज को क्षति पहुँचती थी उनसे उनका विरोध अवश्य था। एक शब्द में वह मानव-समाज के पक्षपाती थे, मानव समाज को हिन्दू और मुसलमान के रूप मे विभाजित देखना वह पसन्द नहीं करते थे। यही उनका समता-भाव था। मानव-मानव के बीच इस समता-भाव की प्रतिष्ठा करने के लिए ही उन्होने तत्कालीन पाखंड पूर्ण जीवन की आलोचना की। वह पर-छिद्रान्वेषी नहीं थे। वह आत्मा और शरीर दोनो का सस्कार करने पर बल देते थे। वह स्वय इस मार्ग के पथिक थे। **'घट-घट में साहब रम रहा'** कहकर उन्होंने आत्मा की एकता घोषित की थी, **'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया'** कहकर उन्होने शरीर की शुद्धता प्रमाणित की थी और **'हिन्दू-तुरक न कोई'** कहकर उन्होने मानव-समाज की प्रतिष्ठा की थी। यही उनके जीवन का लक्ष्य, यही उनका धर्म और यही उनका मूलमत्र था। वह अपने समय के सभी धर्मो, मतो और सम्प्रदायो मे इसी मूलमत्र का आभास पाते थे, परन्तु जनता थी इससे विमुख। वह बाह्याडम्बरो मे लिप्त थी। ऐसी स्थिति मे कबीर को उन पर चोट करनी पड़ती थी। उन पर चोट करते समय वह दूसरो को ही सावधान नहीं करते थे, स्वयं भी उन से अपनी रक्षा करते थे।

कबीर उच्च कोटि के साधक थे। अपनी साधना के क्षेत्र में वह किसी से समझौता करना पसन्द नही करते थे। आलोचको ने उन्हें बौद्ध, जैन, सूफ़ी, नाथ-सम्प्रदाय, हठयोग, वेद, उपनिषद, कुरान आदि विभिन्न सम्प्रदायो एव धर्म-ग्रन्थों से प्रभावित घोषित किया है और उनकी रचनाओं से प्रमाण भी दिये हैं। आलोचना की दृष्टि से इन बातो का महत्त्व हो सकता है, पर कबीर की साधना-पद्धति की दृष्टि से इनका कोई महत्व नही है। कबीर ने उस 'सत्य' को ग्रहण कर लिया था जिसके प्रकाश में जीवन और जगत का कोई रहस्य छिप ही नहीं सकता था। ज्ञान के मूल स्रोत को वह पहचान गये थे। उससे उनका पूर्ण सम्पर्क स्थापित हो चुका

था। इसलिए सभी धर्मों, मतो और सम्प्रदायो के मूल भाव स्वतः उनकी वाणी मे आ गये थे। उन्होने कभी किसी मत अथवा सम्प्रदाय से प्रभावित होकर कोई रचना नही की। अपनी मस्ती के क्षणो मे वह तानपूरा लेकर बैठ जाते थे और उस समय उनके मुख से जो कुछ निकलता था उसे आप चाहे काव्य कह लें, चाहे संत-वाणी। वह न तो कवि थे, न सुधारक। वह सीधे-सादे सच्चे साधक थे।

कबीर पर प्रभाव

ऐसे आत्म-दर्शी संत पर तत्कालीन परिस्थितियो का कहाँ तक प्रभाव पडा यह अवश्य विचारणीय है। ऐतिहासिक दृष्टि से उस समय मुख्यतः निम्न धार्मिक विचार-धाराएँ प्रचलित थी :—

१. सगुण वैष्णव-धारा।
२. निर्गुण ज्ञानश्रयी धारा।
३. नाथ-पंथी योग की धारा।
४. सहजयानी धारा।
५. जैन-धर्म की धारा।
६. सूफी प्रेम-मार्गी धारा।
७. इस्लाम की एकेश्वरवादी धारा।

कबीर के आलोचकों ने उन पर पड़े हुए इन्ही विभिन्न धाराओ के प्रभावो को आंका है और उनके संबध मे अपना-अपना मत स्थिर किया है। इन धाराओं के विभिन्न सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण और उन सिद्धान्तो से प्रभावित कबीर की रचनाओ का मूल्याकन करते समय दो बातो पर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है। पहला बात तो यह कि कबीर ने कहीं भी शास्त्रीय विधि से अपने सिद्धान्तो की समीक्षा नहीं की और दूसरी बात यह कि उन्होने अपने समय के विभिन्न मत-मतान्तरो के मूल सिद्धान्तों में इतना सूक्ष्म भेद कर दिया कि शीघ्र उनका रहस्य नहीं खुलता। इसके साथ ही हमे यह भी स्मरण रखना है कि उन्होने अपने समय के किसी मत का खंडन अथवा उपहास नही किया। सब मतो के प्रति उनका आदर का भाव था। उनका विरोध मत-विशेष के उन अनुयायियों से था जो

पाखडी, धूर्त और ढोगी थे। वह तो कहते थे :—

'बेद, कतेब कहो क्यों झूठा, झूठा जो न विचारै।'

वास्तव मे कबीर के समय के लोग लकीर के फकीर होकर विचार-शक्ति खो बैठे थे। मत की प्रतिष्ठा उसके अनुयायियो के हाथ में होती है। अनुयायी जब विचार-शक्ति से हीन हो जाते है तब मत की प्रतिष्ठा नष्ट हो जाती है, एक मत का दूसरे मत से विरोध आरभ होता है और इस प्रकार सारा वातावरण विषाक्त हो जाता है। इसलिए कबीर ने सब को चेतावनी दी और स्वयं भी पक्के विचारक बने। उन्होने प्रत्येक मत के मूल-सिद्धान्तो मे गहराई तक उतर कर विचार किया, समझा-बूझा और फिर पाया कि सब मूलतः एक ही हैं, कोई किसी से भिन्न नही है। यही उनका 'विवेकु', यही उनका 'गुरु' और यही उनकी साधना का आधार बना। अपनी साधना के लिए इस आधार को पाकर उन्होने फिर किसी आधार की चिन्ता नही की। वह मुसलमान थे अवश्य, पर उन्होने अपनी साधना के लिए इस्लाम-धर्म से कुछ भी नही लिया। इस्लाम के एकेश्वर-वाद के प्रति उनका आदर का भाव था, पर उसमे उनका विश्वास नही था। उन्होने सुन्नत, गो-वध, रोजा, नमाज, ईद, बकरीद और सामूहिक उपासना का ही विरोध नही किया, अपितु उस 'खुदा' को भी नही माना जो अपनी रची हुई दुनिया और जीवों पर शासन करता है। मुसलमानों का ख़ुदा अपने ऊपर (खुदा पर) ईमान लानेवालो पर रहम करता एवं उन्हे बहिश्त (स्वर्ग) देता है और न ईमान लानेवालो को दोजख़ (नर्क) भेजता है। कबीर का 'खुदा' ऐसा 'खुदा' नहीं है। वह सर्वव्यापी है। वह साम्प्रदायिकता के सकुचित घेरे में बँधा नहीं है। वह 'राम', 'रहीम', 'करीम', 'साहिब', 'गोविन्द', 'माता', 'पिता', 'स्वामी' सब कुछ है और कुछ भी नहीं है।

सूफी धर्म-भावना इस्लाम धर्म का ही एक अग है। कबीर के समय मे इस धर्म-भावना का पर्याप्त प्रचार था। कबीर ने अपने समय के सूफी महात्माओ का सत्सग भी किया था और उनके उपदेश भी उन्होने सुने थे, परन्तु उन्होंने उनसे कुछ भी नहीं सीखा। अनेक आलोचकों ने उनकी

रचनाओं मे प्रेम और विरह-तत्त्व को प्रधानता देकर उन्हे सूफी मत से प्रभावित होने की घोषणा की है, पर ध्यान से देखने पर यह सर्वथा भ्रामक ही सिद्ध होता है। साधना के क्षेत्र मे सयोग और वियोग का समावेश भारतीय देन है। कबीर इसी देन से प्रभावित हैं। इस देन का विकास दो रूपो मे मिलता है: (१) पूर्वात्य और (२) पाश्चात्य। पूर्वात्य प्रेम-निरूपण मे दाम्पत्य-भाव की प्रधानता है और पाश्चात्य प्रेम-निरूपण मे प्रेमी-प्रेमिका का भाव है। प्रेमी (आशिक़) और पति मे अन्तर है। इसी प्रकार प्रेमिका (माशूक़) और पत्नी एक नहीं हैं। पत्नी का अपने पति के प्रति जैसा आकर्षण होता है और इस आकर्षण के फलस्वरूप उसके आत्म-समर्पण में जैसी पवित्रता होती है वैसी आशिक़-माशूक मे नही है। कबीर इस तथ्य को समझते थे। इसलिए उन्होंने **'हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया'** कहकर पूर्वात्य प्रेम-निरूपण का ही समर्थन किया। 'पीव' और 'बहुरिया' के पीछे भारतीय दाम्पत्य जीवन की जो व्यजना है वह सूफ़ियो की देन नही है। सूफ़ियो के प्रेम-निरूपण में परमात्मा 'माशूक़' और जीवात्मा (साधक) 'आशिक़' है। इसके विपरीत कबीर के प्रेम-निरूपण मे परमात्मा 'पति' और जीवात्मा (साधक) 'पत्नी' है। यहाँ यह कहना भी अनुचित न होगा कि कबीर ने परमात्मा को केवल 'पति' रूप मे ही नही, अपितु पिता, माता, स्वामी आदि रूपों मे भी चित्रित किया है। सूफी सम्प्रदाय में इस प्रकार की स्वतत्रता नही है। यह अवश्य मान्य है कि कबीर ने सूफियो के कई पारिभाषिक शब्दो और उनकी कई शैलियो को अपनाया है, परन्तु उन सब पर भी उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। इस कारण उनके प्रयोग एव अर्थ मे अन्तर आ गया है।

कुछ विदेशी विद्वानो ने कबीर को ईसाई-धर्म-भावना से भी प्रभावित माना है। ईसाई-धर्म क्या, हमारा तो विश्वास है कि विश्व के सभी धर्मों का कुछ-न-कुछ प्रभाव कबीर पर मिलेगा। प्रश्न यह है कि क्या कबीर ने वास्तव में इतने धर्मों का अध्ययन और उनके आधार-भूत सिद्धान्तों का विश्लेषण किया था? इस प्रश्न का उत्तर हमे 'नही' मे ही देना होगा। कबीर अशिक्षित थे। यात्रा की सुविधाएँ भी उस समय नहीं थी। भारत में

ईसाई-धर्म के प्रचारक नही आए थे। कबीर भी योरप नही गये। किसी पादरी से उनकी भेंट नहीं हुई। ऐसी स्थिति मे कबीर को ईसाई-धर्म-भावना से प्रभावित बताना उनके प्रति अन्याय करना है।

यहाँ तक हमने देखा कि कबीर अपनी साधना-पद्धति के निरूपण मे किसी भी अभारतोय धार्मिक विचार-परपरा से प्रभावित नही थे। उन्होने अपने 'परम तत्त्व' की जैसी व्याख्या की और उसके प्रति अपने संयोग-वियोग के जैसे चित्र उतार उनसे यह स्पष्ट होता है कि वह भारतीय धर्म-साधना से अवश्य प्रभावित थे। भारतीय-धर्म-साधना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसमे विश्व की सभी साधना-पद्धतियो का समाहार हो जाता है। परन्तु कबीर के समय मे उसका भी रूप अत्यन्त विकृत हो गया था। उसके स्थान पर सगुण वैष्णव सम्प्रदाय, निरंजन-पथ, नाथ-पथ, सहजयानी सम्प्रदाय, जैन-मत, तत्र-मत आदि अनेक मतो की धूम थी। इन सब मत-मतातरो के मूलभूत सिद्धान्तो से कबीर का परिचय था। उनकी रचनाओ को देखने से ऐसा लगता है कि अन्य मतो की अपेक्षा सहजयानी सम्प्रदाय और नाथ-पथ के सिद्धान्तो से वह अधिक प्रभावित थे। बाबा गोरखनाथ के प्रति उनका आदर का भाव था। उन्होने अवधूतों और कनफटा योगियों का उल्लेख भी किया। योगियो के चिह्नो—किंगरी, मेखला, सीगी, जनेब, घघारी, रुद्राक्ष, अधारी, गूदरी, खप्पर, झोला आदि पर भी उनकी दृष्टि गई और उन्होने उनका वर्णन किया। 'नाद', 'विन्दु', 'सुरति-निरति' आदि अनेक पारिभाषिक शब्द भी उन्होंने अपनाये। पर इतना होते हुए भी उन्होने अपनी साधना का मार्ग सर्वथा स्वतंत्र रखा। बाबा गोरखनाथ के 'अलख जगाने' के वह समर्थक नही थे। उनके लिए 'राम' की कृपा मुख्य थी, साधना गौण। बाबा गोरखनाथ का साधना में विश्वास था। इसके अतिरिक्त गुरु के महत्त्व की दृष्टि से भी दोनो एक नही है। बाबा गोरखनाथ के गुरु काया-साधना और योग के विशेषज्ञ हैं, कबीर के गुरु आत्मा और परमात्मा के बीच चिर संबध स्थापित करानेवाले है। अभि-व्यक्ति की शैली दोनो की एक-सी अवश्य है। खडन-मंडन की प्रवृत्ति भी दोनो में समान है, दोनो मे अक्खड़पन है, दोनो गुरु का महत्व स्थापित

करते हैं। कबीर कहते हैं :—

'सो जोगी जाके मन में मुद्रा।
रात-दिवस न करई निद्रा॥
मन मे आसन, मन में रहना।
मन का जप-तप मन सूँ कहना॥
मन मे खपरा, मन में सींगी।
अनहद नाद बजावै रंगी॥
पंज परजारि भसम करि भूका।
कहै कबीर सो लहसै लूका॥'

ऐसे ही और भी कई पद कबीर की रचनाओ में मिलते हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि नाथ-पथ से वह विशेष प्रभावित नहीं है। वाह्याडंबर में उनका विश्वास नहीं था। वह मन की साधना में विश्वास करते थे। इस प्रकार की साधना के लिए उन्हे वैष्णव-धर्म के सिद्धान्त अनुकूल जान पड़े। इसलिए उन्होने उनकी प्रशसा की और उनका समर्थन भी किया। कर्मवाद, जन्मातरवाद, भाग्यवाद, अहिंसावाद, भक्तिवाद, ज्ञान, वैराग्य के प्रति उन्होंने अपना विश्वास प्रकट किया। वैष्णव-धर्म मे भगवान के दो रूपों—सगुण और निर्गुण—की प्रतिष्ठा है। कबीर ने भगवान के निर्गुण रूप को ही अपना उपास्य माना और इस दिशा मे उन्होने उपनिषदो के सिद्धान्तों का समर्थन किया। भगवान को निर्गुण, निरंजन, जोति, स्वर प्रकाश आदि कहते हुए भी उन्होंने उसे राम, रघुनाथ, रघुराई, मोहन, बीठला, बनवारी, हरि, गोविन्द, केशव, मुरारी आदि नामों से संबोधित कर वैष्णव-भक्ति अर्थात् नारदी-भक्ति को ही प्रधानता दी :—

'भगति नारदी रिदै न आई, काछि-कूछि तन दीना।'

× × ×

'भगति नारदी मगन सरीरा, यहि बिधि भव तरि, कहै कबीरा॥'

नारदी-भक्ति में अवतार-वाद, मूर्ति-पूजा, यज्ञ, जप-तप, कंठी, माला, लोक-वेद की मर्यादा, तीर्थ-व्रत आदि का विधान भी है, परन्तु कबीर ने इन बाह्याचारों का विरोध किया है। भारतीय धर्म-साधना के चार अंग

माने जाते हैं : (१) कर्म, (२) ज्ञान, (३) योग और (४) भक्ति। इनमें परस्पर किसी प्रकार का विरोध नहीं है। कर्म प्रवृत्ति मार्ग है और शेष तीनों निवृत्ति-मार्ग हैं। कबीर ने अपनी साधना मे केवल निवृत्ति-मार्ग को ही प्रधानता दी है। उनका यह दृष्टिकोण भी भारतीय धर्म-साधना के अनुकूल है। श्रीमद्भागवत में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान जप, तप, दान, व्रत आदि से प्रसन्न नहीं होते, वह केवल विमल भक्ति से प्रसन्न होते है। कबीर का विश्वास इस प्रकार की भक्ति में है। उनकी भक्ति निष्काम भक्ति है। इसका लक्ष्य है आत्मा-परमात्मा का सम्मिलन। इसी प्रकार के सम्मिलन मे कबीर ने अपनी जीवन की पूर्णता का अनुभव किया और उसके आधार पर अपनी साधना का मार्ग प्रशस्त किया है।

कबीर के सिद्धान्त

कबीर उच्च कोटि के निर्गुणवादी सत थे। पर निर्गुणवादी संत होते हुए भी वह दार्शनिक नही थे। उनकी विचारधारा सीधी-सादी थी। अपनी बुद्धिवादिता में वह तर्क की अपेक्षा अनुभूति को ही विशेष महत्व देते थे। परतत्व के प्रश्न को तर्क-द्वारा हल करनेवालों को वह मोटी बुद्धिवाला कहते थे। 'कहत कबीर तरक जो साधै ताकी मति है मोटी' कहकर वह तार्किक व्यक्तियो का उपहास किया करते थे। शास्त्रीय तर्क के अभाव में, इसीलिए, कबीर के सिद्धान्तो को समझना कठिन हो जाता है। दूसरी कठिनाई यह है कि उन्होंने स्वयं किसी मत की स्थापना नही की। इसलिए उनकी सिद्धान्त-सम्बन्धी सभी बाते किसी एक स्थान पर क्रम से एकत्र नहीं मिलतीं। इनके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में सामजस्य का भी अभाव है। ऐसा लगता है कि जब जो बात उनकी अनुभूति में आई तब उन्होने उसे तानपूरे पर कस दिया। रचनाओं मे काल-क्रम का अभाव भी खटकने वाली बात है। इन कठिनाइयो के कारण उनके आध्यात्मिक विकास की स्पष्ट रेखाएँ सामने नही आतीं और हम इधर-उधर टटोलते ही रह जाते हैं। फिर भी आलोचको ने उनकी रचनाओं के विचार-सागर मे गहराई तक उतर कर उनके सिद्धान्तो की थाह ली है और उन्हे दो भागो में विभाजित किया है : (१) दार्शनिक सिद्धान्त और (२) सामाजिक सिद्धान्त।

(१) दार्शनिक सिद्धान्त—कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत तीन तत्वों की प्रधानता मिलती हैं : (१) परमतत्व, (२) जीवतत्त्व और (३) माया तत्त्व। उनके परमतत्त्व पर औपनिषदीय ब्रह्मवाद का प्रभाव है, पर उसकी व्याख्या उन्होंने अपनी अनुभूति के आधार पर की है। 'करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया' तथा 'चेतत-चेतत निकसिओ नीरू। सो जलु निरमल कथत कबीरू।' से यह स्पष्ट होता है कि परमतत्त्व-सम्बन्धी उनकी व्याख्या उनकी अपनी व्याख्या है। दार्शनिक-दृष्टि से उन्होने अपने परमतत्त्व को 'अगम', 'अगोचर', 'अलख', 'निरजन', 'निराकार', 'निर्गुण' आदि ही माना है। उनका ऐसा परमतत्त्व अपनी इच्छा से सृष्टि-कर्त्ता भी है और अपनी सृष्टि के भीतर प्रतिबिंबित भी होता रहता है। कबीर कहते हैं:—

'आपन करता भये कलाला। बहु बिधि सृष्टि रची दर हाला ॥
बिधना कुंभ किये द्वै बानां। प्रतिबिंब तामाहिं समाना ॥'

इतना ही कह कर कबीर को सन्तोष नहीं होता। 'भांनड़, घड़ण संवारण सोई' कह कर वह उसे नष्ट करनेवाला, बनानेवाला और पोषण करनेवाला भी बताते हैं। सृष्टि-कर्त्ता के रूप मे वह कहीं माता, कहीं पिता, कहीं पति और कही स्वामी भी है। उसके हरि, गोविन्द, केशव, माधव, रहीम, करीम, गोरख आदि अनेक नाम भी हैं। उसके विराट रूप के सम्बंध में यह कहकर.—

'कोटि सूर जाके परगास, कोटि महादेव अरु कविलास।
दुर्गा कोटि जाके मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरै ॥'

उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुबेर, इन्द्र, दुर्गा, धर्मराज, नदी, पर्वत, कला, विद्या—सब को एक साथ उसमें तिरोहित कर दिया है। विष्णु के पौराणिक रूपों की भी उन्होने कल्पना की है। तात्पर्य यह कि उन्होने अपनी रचनाओं में विभिन्न ढंगो से अपने परमतत्त्व का निरूपण किया है। इनसे हमे उनके सत्य-निरूपण सम्बन्धी प्रारम्भिक प्रयोगो का ही आभास मिलता है। वह धीरे-धीरे ही अपने परमतत्त्व को पहचान पाये हैं।

'संतो ! धोखा काँसू कहिए ।
गुण मे निरगुण, निरगुण मे गुण है, बाट छाड़ि क्यों बहिए ॥
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई ॥
नाहिं स्वरूप, वरण नहिं जाके, घटि-घटि रहा समाई ॥
प्यंड ब्रह्मन्ड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई ॥
प्यंड ब्रह्मन्ड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई ॥'

× × ×

'लोगा भरमिन भूलहु भाई !
खालिकु खलक, खलक महिं खालिकु पूरि रह्यो सब ठाइँ ॥'

× × ×

'जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ ।'

× × ×

'वो है जैसा वो ही जानै । ओही आहि, आहि नहिं आनै ॥'

उक्त पदो मे कबीर के परमतत्व-सम्बंधी प्रौढ़ विचार हैं । यह 'चेतत चेतत' का परिणाम है । इस परिणाम पर पहुँचकर उनका भ्रम-निवारण होता है । उन्हें ज्ञात होता है कि उनका परमतत्त्व न अजर-अमर है, न अलख निरंजन है,न निर्गुण-सगुण है । वह घट-घट व्यापी होते हुए भी आदि-अन्त-हीन है । वह सब कुछ है और कुछ भी नही है । वह अनिर्वचनीय है ।

कबीर के दार्शनिक सिद्धन्तो मे दूसरा प्रमुख तत्त्व है—जीवतत्त्व । जीव-तत्त्व के सम्बध मे हमारे आचार्यो के भिन्न-भिन्न मत हैं । कबीर ने शङ्कराद्वैत के अनुसार परमतत्त्व और जीवतत्त्व मे कोई भेद नही माना है । उनका कहना है कि इस शरीर के अन्दर निवास करनेवाली आत्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न योगी है, न यती है, न अवधूत है, न माता है, न पिता है, न पुत्र है, न उदासी है, न राजा है, न रंक है, न ब्राह्मण है, न शेख है । 'कहै कबीर इहि राम को अंसु । जस कागद पर मिटै न मसु ॥' से स्पष्ट है कि उन्होंने उसे 'परमतत्त्व' का अश माना है । उनका यह अंशाशि-भाव उनकी उन उक्तियो से भी पुष्ट होता है जिनमे उन्होने दोनों के सम्बन्ध को 'बिन्दु' और 'समुद्र' के दृष्टान्त से व्यक्त किया है । जीवतत्त्व और परमतत्त्व

में विभिन्नता अनुभव करनेवालो को उन्होने फटकारा है और कहा है :—

'दोइ कहै तिन ही को दोजख जिन नाहिन पहिचाना।'

× × ×

'कहै कबीर तुरक दुई साधै तिनकी मति है मोटी।'

कबीर का तीसरा दार्शनिक सिद्धान्त है—मायातत्त्व। इस संबंध मे उनका कहना है :—

'बीज मध्य ज्यों बृच्छा दरसै, बृच्छा मद्धे छाया।
परमातम में आतम तै से, आतम मद्धे माया॥'

× × ×

'जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहि समाना, यह तथ्य कथ्यो ग्यानीं॥'

इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा और परमात्मा मे अन्तर डालनेवाली है केवल माया। इस माया को कबीर ने 'परम सुन्दरी' और 'विश्व-मोहिनी' के रूप मे चित्रित किया है। इसका स्वभाव है, ठगना और फँसाना। 'माया महा ठगिन हम जानी'। साथ ही 'कबीर माया मोहिनी जैसी मीठी खाँड़।' आदि से उनकी इसी भावना का आभास मिलता है। ऐसी माया को कबीर ने त्रिगुणात्मक माना है और कहा है कि उस परमतत्त्व ने उसे उत्पन्न कर उसमें अपने आप को छिपा लिया है :—

'सत रज तम थैं कीन्ही माया। आपन माँझ आप छिपाया'॥

कबीर का यह भी विश्वास है कि माया अपनी त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति के कारण परिवर्तनशीला है। इसीलिए संसार की सभी वस्तुएँ माया-रूपिणी एव परिवर्तनशीला हैं। 'कबीर माया डोलनी पवन बहै हिवधार,' में कबीर ने माया की गतिशीलता की पवन की गतिशीलता से उपमा दी हैं। 'उपजै विनसै जेती सर्व माया।' से भी उसकी परिवर्तनशीलता का ही आभास मिलता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका जन्म और नाश दोनों होता है। उसी के कारण जीव आवागमन के इन्द्रजाल मे फँसता और नाना प्रकार के दुःख भोगता है। 'मोर-तोर' की वही जननी है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि उसके पुत्र हैं जो लोगो को विविध प्रकार का नाच नचाया

करते हैं। उसका निवास-स्थान है मन। मन के सभी विकार उसी के संगी-साथी हैं:—

'कबीर माया पापिणी, हरि सूँ करे हराम।
मुख कड़ियाली कुमति की, कहन न देई राम॥'

माया के दो रूप हैं :(१) सत्य माया और(२) मिथ्या माया। सत्य माया ईश्वर-कृत है और मिथ्या माया जीव-कृत। जीव-कृत माया ही आत्मा और परमात्मा के मिलन मे बाधक होती है। कबीर ने जीव-कृत माया की ही निन्दा की है। जीव-कृत माया ही अविधा और अज्ञान की जननी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्या परमतत्त्व,क्या जीवत्तत्त्व और क्या मायातत्त्व—तीनो की दृष्टि से कबीर वेदान्त-दर्शन से अत्यधिक प्रभावित हैं। वेदान्त-दर्शन उन्होने पढ़ा हो या न पढ़ा हो, 'चेतत-चेतत' वह उसी परिणाम पर पहुँचे है। उनका 'परमतत्त्व' वेदान्त का ब्रह्म, उनका 'करता' वेदान्त का ईश्वर, उनका जीव वेदान्त का जीवात्मा, उनकी 'माया' वेदान्त की त्रिगुणात्मक 'प्रकृति' और उनके 'भरम करम' का मूल कारण वेदान्त की 'अविधा' है। वेदान्त के इन सिद्धांतो पर उनकी अनुभूति की छाप है। यही उनकी विशेषता है।

(२) **सामाजिक सिद्धांत**—कबीर ने अपने सामाजिक विचार भी व्यक्त किए हैं, परन्तु उन्होने सुधार-भावना से प्रेरित होकर ऐसा नही किया है। वह संत थे। साधु-संतो के बीच ही उनके उपदेश होते थे। ऐसे साधु-सम्मेलनो मे हर तरह के साधु-सत आते थे। कोई हिन्दू होता था, कोई मुसलमान, कोई नाथ-पंथी, कोई बौद्ध, कोई वैष्णव, कोई शैव। इन सब मे अपनी-अपनी जाति के प्रति कुछ-न-कुछ मोह बना रहना स्वाभाविक ही था। कबीर ने उसी मोह को अपनी सामाजिक मर्यादाओ से दूर करने की कोशिश की। कबीर न हिन्दू थे, न मुसलमान, न बौद्ध, न शैव, न वैष्णव। जाति-पांति में उनका विश्वास नही था। श्राद्ध, मूर्ति-पूजा, रोज़ा-नमाज, तीर्थ-व्रत, उपवास, कुर्बानी आदि को वह व्यर्थ समझते थे और इन सबके लिए वह साधुओं को फटकारते रहते थे। मुल्ला, शेख, मौलवी, पंडित, योगी, यती, अवधूत—सब उनकी आलोचना की लपेट मे आते थे। वह सबसे एक ही

बात नहीं कहते थे। वह मुसलमान-साधु-सतो से इस्लाम-धर्म सम्बन्धी बाह्याडंबरो की बात और हिन्दू-साधु से हिन्दू-धर्म संबंधी बाह्याडबरो की बात कहते थे। उनका विश्वास था कि सामाजिक बंधन ही मानव को वास्तविक मानव बनाने मे बाधक हैं। इसलिए वह खोलकर उनकी निन्दा करते थे :—

'दुनिया कैसी बावरी, पाथर पूजय जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाय ॥'

× × ×

'बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात हैं, तिनका कौन हवाल ॥'

× × ×

केसौं कहा बिगाडिया, जे मूड़ै सौ बार।
मन को काहे न मूडिए, जा मैं विषय-विकार ॥'

× × ×

'गुप्त प्रकट है एकै मुद्रा। काको कहिए ब्राह्मन शुद्रा ॥
झूठ गरब भूलै मत कोई। हिन्दू-तुरक झूठ कुल दोई ॥'

× × ×

'नहीं को ऊँच, नहीं को नीचा। जाका पिंड ताही का सींचा ॥
जो तू बांमन बंभनी जाया। तौ आन बाट ह्वै काहे न आया ॥
जो तूं तुरक तुरकनी जाया। तौ भीतर खतना क्यूं न कराया ॥'

× × ×

'घर में जोग, भोग घर ही में घर तज बन नहिं जावै।
बन के गये कल्पना उपजै तब धौं कहाँ समावै ॥'

पारिवारिक जीवन में कबीर का विश्वास था। परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए वह वन में रहकर जप-तप करने के समर्थक नही थे। उनका विश्वास था कि घर मे रहकर और अपने परिश्रम की कमाई खाकर परमतत्त्व की प्राप्ति की जा सकती है। भिक्षा-वृत्ति को भी वह अत्यन्त हेय समझते थे :—

'मरजाऊँ मागूँ नही, अपने तन के काज।
पर मारथ के कारनै, मोहिं न आवै लाज ॥'

ऐसे थे कबीर के सामाजिक विचार। इन विचारों का प्रचार साधको तक ही सीमित था। जाति-पाँति की भावना का त्याग, अपनी स्थिति से संतोष, गार्हस्थ्य-धर्म के प्रति आस्था, श्रम का महत्त्व, शुद्ध आचरण, परोपकार, सत्संग, हरि-भजन आदि कबीर के ऐसे सामाजिक मूलमंत्र थे जो सब के लिए भी समान रूप से हितकर और कल्याणकारी थे।

कबीर की भक्ति का स्वरूप

कबीर के उक्त दार्शनिक सिद्धान्तो को सामने रख कर जब हम उनकी भक्ति के स्वरूप पर विचार करते हैं तब हमे वह एक ज्ञानी भक्ति के रूप मे दीख पड़ते है। परन्तु वह रूखे ज्ञानी भक्त नही हैं। उनकी भक्ति अनुभूति पर आश्रित होने के कारण सरस और काव्यमय है। 'हरि जैसा है तैसा रहै, तू हरखि हरखि गुण गाय' से उनकी भक्ति का सामान्य रूप प्रकट होता है। भारतीय परंपरा के अनुसार भक्ति की दो धाराएँ है—(१) भाव-प्रधान-भक्ति और (२) ज्ञान-प्रधान-भक्ति। भाव-प्रधान-भक्ति में आत्म-समर्पण का आनन्द है। ऐसी साधना करनेवाले भावुक भक्तों की कोटि में आते हैं। वे अपने हृदय की सारी कामनाएँ, अपने मन की सारी प्रवृत्तियाँ अपने इष्ट देव के चरणो मे अर्पित कर देते हैं। ज्ञान-प्रधान भक्ति मे साधक पहले अपने इष्ट देव का ज्ञान प्राप्त करता है, फिर उससे प्रेम करता है और अन्त में आत्म-समर्पण। कबीर की रचनाओ से उनके इसी प्रकार के भक्त होने का प्रमाण मिलता है। वह बार-बार ज्ञान पर बल देते हैं। ज्ञान से भ्रम की टाटी उड़ जाती है, माया-मोह के बन्धन टूट जाते हैं, संसार से वैराग्य हो जाता है और 'कुबुधि का भांडा' फूट जाता है:—

'संतो भाई आई ज्ञान की आँधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी, माया रहे न बाँधी॥'

× × ×

"जब थैं आतमतत्त्व विचारा
तब निरबैर भया सबहिन थैं, काम, क्रोध, गहि डारा॥'

× × ×

'जाके आतम दृष्टि है, साँचा है जग सोई ।'

तात्पर्य यह कि भक्ति के लिए ज्ञान अपेक्षित है । ज्ञान-रहित भक्ति को कबीर महत्व नही देते । इसी प्रकार भक्ति-रहित ब्रह्म-ज्ञान भी उनकी दृष्टि से बेकार है :—

'पहर्‌यो काल सकल जग उपरि, माँहि लिखे सब ज्ञानी ।
कहै कबीर वे भए खालसै, राम भगति जिन जानी ॥'

ज्ञान और भक्ति के साथ-साथ कबीर ने योग का भी समर्थन किया है, परन्तु उनका योग नाथ-पथियों की भांति कायिक साधना नहीं है। योग का साधारण अर्थ है—जोड़ना, मिलाना। दार्शनिक दृष्टि से जीवात्मा और परमात्मा का मिलन ही योग है। मन बड़ा चंचल है। वह प्रति क्षण सांसारिक विषयो मे लिप्त रहता है। बड़े-बड़े ऋषि और मुनि भी उसकी गति नही समझ सके हैं। ऐसे मन को बिना वश में किए जीवात्मा का परमात्मा से सम्मिलन नहीं हो सकता। इसलिए योगी उसे वश मे करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनो का उपयोग करते हैं। कोई उसे कृत्रिम उपायों से निर्विषय बना कर अपने वश में कर लेता है और कोई उसे स्वाभाविक ढंग से। हठ योग आदि कृत्रिम उपाय हैं। कबीर ऐसे उपायों का आश्रय नही लेते। वह मन को निर्विषय बनाने के लिए ब्रह्म ज्ञान और आत्म-ज्ञान द्वारा उसे अन्तर्मुखी करते हैं। अन्तर्मुखी होने से मन की सारी वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और काया के भीतर ही उसे सब कुछ दीख पड़ने लगता है :—

'काया मद्धे कोटि तीरथ, काया मद्धे कासी ।
काया मद्धे कवलापति, काया मद्धे बैकुंठ बासी ॥'

इस प्रकार कबीर ने ज्ञान, योग और भक्ति तीनो के बीच अत्यन्त सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। आत्म-ज्ञान से ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान से चित्त-वृत्तियों का निरोध, चित्त-वृत्तियों का निरोध होने पर काया के भीतर उस परमतत्त्व का दर्शन !

'लागै प्यास नीर सो पीवै, बिन लागे नहिं पीवै ।
खोजत तत मिलै अविनासी, बिन खोजे नहिं जीवै ।

कहै कबीर कठिन यह करणी, जैअ खंडे-धारा ।
उल्टी चाल मिलै पारब्रह्म कौ, सो सतगुरु हमारा ॥'

आत्म-ज्ञान और ब्रह्म-ज्ञान होने पर भी जब तक परमात्मा से मिलने की लगन नही होती तब तक हृदय में भक्ति का स्रोत नही फूटता। लगन उत्पन्न होने से परमात्मा की खोज की धुन सवार होती हैं। बहुत से ज्ञानी वन मे उसे खोजते फिरते हैं, परन्तु उल्टी चाल चलने से अर्थात् मन की वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाने से वह सहज हो काया के भीतर दीख पड़ने लगता है। यह साधना कठिन है, पर इस साधना-द्वारा वश मे किया हुआ मन कभी भटक नही सकता। कबीर ने इसी साधना को 'सहज समाधि' कहा है। 'सहज' का अर्थ है स्वाभाविक और समाधि का अर्थ है 'मन की वह स्थिति जिसमे ध्येय और ध्याता का भेद मिट जाता है। इस प्रकार 'सहज समाधि' का अर्थ हुआ—मन की वह स्थिति जिसमे वह अपने भाव के अनुरूप अपने इष्ट से अभेद सबध स्थापित कर लेता है :—

'सहजै-सहजै सब गये, सुत, बित, कामिनी काम ।
एकमेक ह्वै मिल रह्यौ दास कबीरा राम ॥'

ऐसी सहज-समाधि लगने पर :—

'जहँ-जहँ डोलौ सोई परिकरमा, जो कुछ करौ सो सेवा ।
जब सोवौ तब करौ दण्डवत, पूजौ और न देवा ॥
कहौ सो नाम, सुनौ सो सुमिरन, खाँव-पिऔ सो पूजा ।
गिरह-उजाड एक सम लेखौ, भाव न राखौ दूजा ॥
आँख न मूदौं, कान न रूधौ, तनिक कष्ट नहिं धारौ ।
खुले नैन पहिचानौ हँसि-हँसि, सुन्दर रूप निहारौ ॥'

कबीर की यही सहज-समाधि थी। वह अपनी साधना को सहज भाव से देखते थे। प्रतिदिन के जीवन के साथ वह अपनी साधना का विरोध नही चाहते थे। उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते वह अपनी साधना में लीन रहते थे। हरि-भजन से उन्हे प्रेम था :—

'कबीर हरि की भगति बिन, धिग जीवण संसार ।
धूवां केरा धौलहर, जात न लागैं बार ॥'

× × ×

'जो नर भए भगति थैं न्यारे तिनथै सदा डराते रहिए ।'

परन्तु उन्होंने तोता-रटन्त पर बल नहीं दिया :—

'नर के संग सुआ हरि बोलै, हरि प्रताप नहि जानै ।
जो कबहूँ उडि जाय जंगल को, हरि की सुरति न आनै ॥'

यही है कबीर की भक्ति का स्वरूप जो उनकी व्यक्तिगत साधना का चरम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की सिद्धि में वह निष्काम हैं। निष्काम भक्त अपनी साधना का कोई फल नही चाहता। कबीर कहते हैं :—

'और कर्म सब कर्म है, भक्ति कर्म निष्कर्म ।
कहै कबीर पुकार कै, भक्ति करो तजि धर्म ॥'

× × ×

'भुक्ति-मुक्ति मांगौं नहीं, भक्ति दान दे मोहिं ।
और कोई याचौ नहीं, निस-दिन याचौं तोहि ॥'

× × ×

'जब लगि भगति सकामना, तब लगि निर्फल सेव ।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति अर्थात् भारतीय साधना के इन चारों अंगों का जैसा सुन्दर समन्वय काशी के उस अपढ़ जुलाहे ने अपनी भक्ति-भावना से किया है वैसा न तो उनके किसी समकालीन भक्ति ने किया और न आज ही हमें कोई मिलता है।

कबीर की काव्य-साधना

कबीर संत थे, कवि नहीं थे। कविता करना उनका उद्देश्य नहीं था, पर स्वानुभूति से प्रभावित होकर वह अपने तानपूरे पर जो राग छेड़ते थे उसमें कवित्व होता था। उस समय उन्हे छन्दो का चुनाव नहीं करना पड़ता था। छन्द स्वयं उनकी अनुभूति के प्रकाशन के माध्यम बन जाते थे और उन्हें वह किसी-न-किसी राग-रागिनी के अदर कस लेते थे। साधु-संतो की यही उपदेशात्मक शैली भी थी। सत्सगो मे भजन-कीर्तन की ही धूम रहती थी। ऐसे सत्संगों में कबीर भी उपदेश देते थे। उनके उपदेश की दो धाराएँ थीं : (१) विचार-प्रधान और (२) अनुभूति-प्रधान।

(१) विचार-प्रधान रचनाएँ—कबीर की विचार-प्रधान रचनाओ को हम तीन भागो मे विभाजित कर सकते है: (१) उपदेशात्मक, (२) प्रताड़ना-त्मक और (३) दार्शनिक। उनकी उपदेशात्मक रचनाओं मे साधु-संतो के लक्षण, गुरु की महिमा, सत्संग का महत्व, विनय, आत्म-समर्पण, मन का नियंत्रण, नाम-स्मरण, भक्ति की महिमा, प्रेम, शुद्ध आचरण आदि पर बल दिया गया है :—

'काम, क्रोध, तृष्णा तजै ताहि मिलै भगवान।'

× × ×

'कबिरा संगति साधु की हरै और की व्याधि।
संगति बुरी असाधु की, आठों पहर उपाधि॥'

× × ×

'बृक्ष कबहुँ नहि फल भखैं, नदी न संचय नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर॥'

× × ×

'गुरु कुम्हार, सिष कुम्भ है, गढ-गढ काढे खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट॥'

× × ×

'कहै कबीर एक राम भजे बिनु बांधे जमपुर जासी।'

कबीर की प्रताडन-सम्बन्धी रचनाओ मे जाँति-पाँति, अंध-विश्वास, मूर्ति-पूजन, तिलक-छाप, रोजा-नमाज़, सुन्नत-जनेऊ, तीर्थ-व्रत, मन्दिर-समजिद आदि के प्रति गहरा विरोध प्रकट किया गया है। उनके इस प्रकार के विरोध में चिढ़ या खीज नहो, परोक्ष रूप से उपदेश का ही भाव है। वह जिसका विरोध करते हैं उसे वह साधना के मार्ग मे बाधक समझते हैं। वह कहते हैं :—

'दुनिया कैसी बावरी पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाय॥'

× × ×

'कनवा फराय जोगी जटवा बढौलैं, दाढी बढ़ाय जोगी होय गैलै बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनियाँ रमौलैं, काम जराय जोगी होय गैलैं हिजरा॥'

× × ×

'दिन भर रोजा रहत हैं, रात हनत है गाय।
यह तो खून, वह बंदगी, कैसे खुसी खुदाय॥'

× × ×

'बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात है, तिनका कौन हवाल॥'

× × ×

'पाहन पूजे हरि मिलैं तौ मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चाकी भली, पीसि खाय ससार॥'

× × ×

'तीरथ गए ते बहि मुए, जूड़े पानी नहाय।
कह कबीर संतो सुनो राच्छस ह्वै पछिताय॥'

कबीर की दार्शनिक रचनाओं मे उनके विचारो की अधिक गहनता है। ऐसी रचनाओ मे जीव-ब्रह्म की एकता, माया, ब्रह्म के स्वरूप की अनिर्वचनीयता, संसार की क्षणभगुरता, भाग्यवाद, अवतारवाद आदि पर विचार व्यक्त किए गए हैं :—

'पानी केरा बुद-बुदा, अस मानस की जाति।
देखत ही छिप जायगी, ज्यों तारा परभात॥'

× × ×

'ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुज्झ मे, जागि सके तो जागि॥'

'अपने करम न मेटो जाई।
कर्म के लिखा मिटे धौ कैसे, जो युग कोटि सिराई॥'

× × ×

'आतम में परमातम दरसै, परमात्म मे झाँईं।
झाँईं में परछाईं दरसै, लखै कबीरा साईं॥'

× × ×

'कोई ध्यावै निराकार को, कोई ध्यावै साकारा।
वह तो इन दोऊ से न्यारा, जानै जानन हारा॥'

× × ×

'कंकड चुन चुन महल बनाया, लोग कहै घर मेरा है।
ना घर मेरा, ना घर तेरा, चिरिया रैन बसेरा है॥'

× × ×

'हेरत हेरत हे सखी, हेरत गया हेराय।
बूँद समानी समुंद मे, सो कित हेरी जाय॥'

(२) अनुभूति-प्रधान रचनाएँ—कबीर की अनुभूति-प्रधान रचनाएँ दो प्रकार की है : (१) भावात्मक और (२) रहस्यात्मक। इन्ही दोनो प्रकार का रचनाओ से कबीर की कवित्व-शक्ति का यथार्थ परिचय मिलता है। उनकी भावात्मक रचनाओं मे प्रेम और विरह का अनूठा चित्रण हुआ है। आध्यात्मिक विचारो की पृष्ठ भूमि पर भावना के मोहक और सुन्दर चित्र उतारने मे वह बेजोड़ हैं। इस कार्य मे उनकी कल्पना-शक्ति का चमत्कार देखिए:—

'नैनों की करि कोठरी, पुतरी-पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डारिकै, पिय को लिया रिझाय॥'

× × ×

'विरह कमंडल कर लिये, वैरागी दो नैन।
मांगै दरस-मधूकरी, छके रहैं दिन-रैन॥'

× × ×

'नैनों अन्तर आव तू, नैन झाँपि तोहि लेव।
ना मै देखूँ और को, ना तोहि देखन देव॥'

कबीर की रहस्यात्मक रचनाएँ अत्यन्त गहन और गभीर है। डा० गोविन्द त्रिगुणायत का कहना है कि जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्य को रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी-द्वारा शब्दमय चित्रों मे सजाकर रखने लगता है तब काव्य मे रहस्यवाद की सृष्टि होती है।

इस प्रकार सच्चेप मे रहस्यवाद जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य-संबंधी अभिव्यक्ति की एक काव्य-शैली है। इस शैली का कवि अद्वैतवादी होता है। कबीर की रहस्य-भावना अद्वैतवाद के अन्तर्गत ही आती हैं। रहस्य-भावना की जागृति के लिए तीन आस्थाएँ मानी गई है (१) ब्रह्म के अस्तित्व मे विश्वास, (२) जीवात्मा का ब्रह्म के प्रति अभिन्न प्रेम और (३) गुरु का अस्तित्व। ब्रह्म मे आस्था होने और आत्मा में ब्रह्म से मिलने की भावना का उदय होने के पश्चात् भी दोनो का मिलन तबतक नही होता जबतक कि दोनों को मिलानेवाला कोई गुरु न हो। कबीर मे तीनो प्रकार की आस्थाएँ हैं। वह आस्तिक है, अपने परमपत्व के प्रति प्रेम-भावना से परिपूर्ण हैं और गुरू का महत्व स्वीकार करते हैं :—

'गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाय।
सब ते बडे गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय॥'

गुरू का महत्व गोविन्द से भी अधिक है। वह साधक के हृदय में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि परमात्मा का वियोग उसके लिए असह्य हो जाता है। यह है रहस्यवाद की प्रथम अवस्था। कबीर ने इस दशा का चित्रण करते हुए कहा है :—

'साईं बिन दरद करेजे होय।
दिन नहिं चैन, रात नहि निंदिया, कासे कहूँ दुख रोय॥'

× × ×

'बाल्हा आव हमारे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी, मों को यहै संदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लगि कैसा नेह रे॥'

रहस्यवाद को दूसरी अवस्था तब आती है जब साधक की आत्मा को परमतत्त्व का परिचय मिल जाता है और उसका दर्शन उसे हो जाता है। उस समय साधक के हृदय में एक विचित्र प्रकार का अनिर्वचनीय आह्लाद उत्पन्न होता है जो उसे आनन्द-विभोर कर देता है। ऐसी दशा मे पहुँचने पर साधक की अनुभूतियाँ अपेक्षाकृत जटिल और अस्पष्ट हो जाती हैं। कबीर कहते हैं :—



'अब तोहि जान न दैहूँ प्रान पियारे ।
ज्यों भावै त्यों होहु हमारे ॥'

× × ×

'दुलहिन गावहु मंगल चार ।
हम घर आए राजाराम भरतार ॥'

× × ×

'तन रत करि, मैं मनरत करि हौ, पंचतत बराती ।
रामदेव मोरे पाहुन आए, मैं जोबन मैं माती ॥'

इसके पश्चात् एक तीसरी अवस्था आती है जब साधक की जीवात्मा का अभीष्ट सिद्ध हो जाता है और वह अपने परमतत्त्व से मिलकर उसमे लीन हो जाती है । यही परमानन्द और मोक्ष है । कबीर कहते हैं :—

'लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल ।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥'

× × ×

'कहै कबीर सो पाया । प्रभु भेंटत आप गँवाया ॥'

× × ×

'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं, मै नाहिं ।
अब मन रामहि ह्वै रहा, सीस नवाऊँ काहि ॥'

इस प्रकार कबीर की रचनाओं मे हम रहस्यवाद की पूरी अभिव्यक्ति पाते है । तीसरी अवस्था पर पहुँच कर तो वह इतने जटिल हो जाते हैं कि उनकी युक्तियों को समझना कठिन हो जाता है । इसका प्रमुख कारण है, उनकी अनुभूतियो की गहनता । उनका भावोन्माद इतना तीव्र होता है कि बोलचाल के साधारण शब्दो मे वह उसे व्यक्त नहीं कर पाते । ऐसी स्थिति मे उन्हे रूपक और प्रतीको का आश्रय लेना पड़ता है । रूपक और प्रतीको की योजना उनके हृदय में आप-ही-आप बिना किसी प्रयत्न के सहज ही हो जाती हैं । अपने भावोन्माद मे वह यह नही जान पाते कि वह क्या और कैसे कह रहे है । उदाहरण लीजिए :—

'झीनी-झीनी बीनी चदरिया ।
काहे कै ताना, काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया'

× × ×

'नैहर में दाग लगाय आई चुनरी ।
ऊ रंगरेजवा कै मरम न जानै, नहिं मिलै धुबिया, कवन करै उजरी ।।'

कबीर की रहस्य भावना मे मुख्यतः दो प्रकार के रूपक मिलते हैं: (१) चरखे के रूपक और (२) दाम्पत्य-भाव के रूपक। चरखे के रूपक उनके लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। वह जुलाहे थे। ताना-बाना और चरखा सदैव उनकी आँखों के सामने रहता था। इनके अतिरिक्त उनके दाम्पत्य-भाव के रूपक भी अत्यन्त सरस और सजीव है। इनके अन्तर्गत उन्होने आत्मा को 'पत्नी' और परम पुरुष को 'पति' के रूप मे चित्रित किया है। उनकी रचनाओ मे उनकी आत्मा कही 'विरहिणी' का रूप धारण करती हुई अपने प्रिय (परमतत्त्व) के वियोग मे छटपटाती है तो कही उसका सामीप्य प्राप्त करते ही आनन्द-विभोर हो उठती है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा की इन दोनो अवस्थाओ को हम 'आध्यात्मिक विरह' और 'आध्यात्मिक सयोग' की संज्ञा दे सकते हैं। कबीर ने इन दोनो अवस्थाओ का सुन्दर चित्रण किया है। दाम्पत्य-सबध के आधार पर रंगरेज़, धोबी, बटोहिया, नैहर, ससुराल, चुनरी, सास, ससुर आदि के रूपक बड़े मनोहर और हृदयग्राही हैं।

कबीर की शैली

कबीर सत-कवि ही नहीं, एक सफल शैलीकार भी थे। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनका आविर्भाव उस समय हुआ था जब वीरगाथा-काल की काव्य-शैलियाँ लुप्त होती जा रही थी और उनके स्थान पर विभिन्न सम्प्रदायों के धर्म-गुरुओ की 'बानियो' का प्रचलन बढ़ता जा रहा था। नाथ-पथी, सहजयानी-सिद्ध, जैनी, सूफी, निरजनी, वैष्णव, शैव, शाक्त—सब के अपने-अपने अखाड़े थे जहाँ आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों पर पद्य के माध्यम से चर्चा होती रहती थी। कबीर ने भी अपनी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिए पद्य का आश्रय लिया। उन्होने भी

'बानियाँ' कहीं और 'साखियो' के रूप में दोहो की रचना की। उन्होने उन छन्दो को भी अपनाया जिन्हें गा-गाकर तत्कालीन साधु-संत अपने आध्यात्मिक विचार निम्न वर्ग के लोगो में किया करते थे। इसलिए उनकी छन्द-योजना में सबद, साखी, रमैनी, चौपई और दोहा के अतिरिक्त ककहरा, हिंडोला, वसन्त, चौतीसी, विप्रमतीसी, बेलि, चाचर आदि अनेक प्रकार के छद मिलते हैं। इन छन्दो के प्रयोग में वह पिगल-शास्त्र के नियमो से आवद्ध नहीं थे। अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति मे वह मात्राओ की जोड़-गॉठ की अपेक्षा स्वर और लय की अधिक चिन्ता करते थे। वह अपढ़ थे, छंद-शास्त्र के पंडित नही थे। फिर भी उन्होने अपनी अटपटी वाणी-द्वारा हिन्दी-छन्दो का अच्छा प्रचार किया और इसमे उन्हे अभूतपूर्व सफलता मिली।

छन्द-शास्त्र की भॉति अलंकार-शास्त्र से भी कबीर का परिचय नही था। फिर भी उनकी रचनाओ में हमे कई प्रकार के अलकार मिलते हैं। इन आलंकारो का प्रयोग उनकी रचनाओ मे अनायास ही हुआ है। रूपक, उपमा, अनुप्रास, यमक, विभावना, मालोपमा, समासोक्ति, काव्यलिंग, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, लोकोक्ति, दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारो के अनेक सुन्दर उदाहरण उनकी रचनाओं में मिलते हैं। रूपक और उपमा के प्रयोग मे उन्हें विशेष सफलता मिली है। यमक के दो उदाहरण लीजिए :—

'कबिरा सोई पीर है, जो जानै पर-पीर।
जो पर-पीर न जानई, सो काफिर बे-पीर॥'

× × ×

'माला फेरत जुग गया, मिटा न मन का फेर।
करका मनका छांडि के, मनका मनका फेर॥'

मालोपमा का एक उदाहरण लीजिए :—

'जल-ज्यों प्यारा माछरी, लोभी प्यारा दाम।
माता प्यारा बालका, भक्त पियारा नाम॥'

निम्न पद में अन्योक्ति का चमत्कार देखिए :—

'हंसा प्यारे! सरवर तजि कहँ जाय?
जेहि सरवर बिच मोती चुनते, बहु विधि केलि कराय॥

सूख ताल पुरइन जल छोड़े, कमल गयो कुम्हिलाय ।
कह कबीर जो अबकी बिछुरे, बहुरि मिलै कब आय ॥'

रस काव्य की आत्मा है और इस दृष्टि से भी कबीर का काव्य अत्यन्त सफल है। उनकी रचनाओ मे शृङ्गार, शान्त, वात्सल्य और अद्भुत रसो की सुन्दर योजना मिलती है। उनके रहस्यवादी पदों मे शृङ्गार रस, उनकी उलटवासियो में अद्भुत रस और उनकी भक्ति-भावनापूर्ण कृत्तियो मे शान्त रस पाया जाता है। उनकी कुछ रचनाएँ ऐसी भी जिनमे रस का प्रवाह नहीं है। ऐसी रचनाएँ उनके बुद्धिवादी दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित हैं।

कबीर की कथन-शैली अनूठी है। वह अपनी सब बातें सब से एक साथ ही नही कहते। वह उपयुक्त अवसर पर कहते हैं और उसी से कहते हैं जिससे कहना उन्हे अभीष्ट होता है। हिन्दू-शास्त्रो की बातें करते समय पडितों को, इस्लाम-धर्म की बाते करते समय शेख और मुल्लाओ को, योग की बाते करते समय योगियो को, शैव-मत की बाते करते समय शैवो को और भक्ति की चर्चा करते समय साधु-सन्तों को वह संबोधित करते हैं। कोई बात किससे, कब और कहाँ कहनी चाहिए, इस का उन्हे अधिक ध्यान रहता है। इसलिए उनकी कथन-शैली प्रभावोत्पादक, चुटीली और गम्भीर होती है। इसी प्रकार उनकी तर्क-शैली भी विचित्र है। वह किसी बात का समर्थन और विरोध शास्त्रीय नियमो के अनुसार नही करते। तर्क-शास्त्र से उनका परिचय रहा हो अथवा न रहा हो, इतना वह अवश्य जानते थे कि जिस स्तर के लोगो के हृदय से अधविश्वास, पाखंड, और माया-मोह के इन्द्र-जाल को दूर करना है उस स्तर के लोगो के लिए तर्क की अपेक्षा अनुभूतियो का ही विशेष महत्व हो सकता है। इसलिए वह अधिकांश अनुभूति का ही सहारा लेते थे। ससार की क्षणभंगुरता, ब्रह्म का स्वरूप, अवतारवाद, माया-वाद आदि के निरूपण मे उनकी तर्क-प्रणाली भी अत्यन्त प्रशंसनीय है।

कबीर की काव्य-शैली में पर्याप्त विविधता है। उसमें छन्द, रस, अलंकार आदि की विविधता के साथ-साथ प्रतीको की छटा और उलटवाँसियो का भाव-गांभीर्य भी है। उनकी उलटवाँसियों के कुछ उदारहण लीजिए:—

'बैल बियाय गाय भई बाँझ। बछरा दूहै तीनों साँझ॥'

× × ×

'एक अचंभा देखा रे भाई। ठाढा सिंह चरावै गाई॥'

× × ×

'पानी बिच मीन पियासी। मुझे सुन-सुन आवै हाँसी॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की काव्य-शैली उनके समय के अत्यन्त अनुकूल, सफल, प्रभावोत्पादक, प्रसाद और माधुर्य गुणयुक्त तथा चुटीली है। इसके अतिरिक्त उसका एक ही लक्ष्य भी है जिसकी पूर्ति उन्होंने अपने हृदय की संपूर्ण शक्ति से की है।

कबीर की भाषा

कबीर की भाषा के सम्बंध में हिन्दी आलोचकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। इसका एक कारण है और वह यह कि उनकी रचनाओ के प्रमाणिक सस्करण का अभाव है। 'कबीर-बीजक', 'आदि-ग्रन्थ', 'कबीर-ग्रन्थावली', आदि में उनकी जो रचनाएँ संगृहीत हैं उनमें इतना पाठान्तर है कि उनके आधार पर कबीर की भाषा का वास्तविक रूप समझ मे नही आता। **'मसि कागद छुयों नहीं, कलम गह्यो नहिं हाथ। चारों युग का महातम मुख ही जनाई बात।'** से स्पष्ट है कि वह पढ़े-लिखे नही थे और मौखिक उपदेश देते थे। ऐसे स्थिति में यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके पदो को भिन्न-भिन्न शिष्यो ने ही लिपि-बद्ध किया होगा और उन पर अपनी भाषा का रंग चढ़ा दिया होगा। उनकी संम्पूर्ण रचनाएँ उनके जीवन-काल मे ही लिखली गई हो—यह भी संदिग्ध ही है। इन कठिनाइयों के बावजूद भी आलोचकों ने उनकी भाषा के सबंध में अपने तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं और यह स्वीकार किया है कि उस पर गुजराती पंजाबी, राजस्थानी, अवधी, ब्रज, भोजपुरी, अरबी, फारसी, खड़ीबोली, बिहारी और कही-कहीं मैथिली और बंगाली का प्रभाव है। इतनी उपभाषाओ का एक साथ प्रभाव स्वीकार करके कुछ आलोचको ने कबीर की भाषा को 'सधुक्कड़ी' और कुछ ने 'पंचमेल खिचड़ी' की संज्ञा दी है। इन मतो से यह भासित होता है कि कबीर ने किसी उद्देश्य विशेष से अपनी भाषा का रूप-निर्माण किया है।

परन्तु ध्यान से देखने पर यह बात निराधार सिद्ध होती है। हिन्दी-भाषा के इतिहास के आचार्यों का मत है कि कबीर के समय के पूर्व ही इस्लामी शासन के प्रभाव से उत्तरी भारत मे एक सामान्य भाषा का विकास उसी प्रकार हो रहा था जिस प्रकार अन्य जनपदीय भाषाओं का अपने-अपने क्षेत्र में। इस सामान्य भाषा पर अनेक जनपदीय उप-भाषाओ का प्रभाव था। गुजराज, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, बिहार आदि में धर्म-प्रचार इसी भाषा में होता था। कबीर के लिए यही भाषा थी और उन्होने मुख्यतः इसी भाषा में अपनी वाणी का चमत्कार दिखाया। काशी की बोली मे भी उन्होने कहा, परन्तु कम। वह अपने समय के भाषा के धनी थे। वह जिस वर्ग के लोगो से बाते करते थे उस वर्ग की भाषा का ध्यान रखते थे। मुसलमानों से बातें करते समय उनकी भाषा का जो रूप होता था वही रूप पंडितो से बातें करते समय नही रहता था। फारसी और अरबी के शब्दों का प्रयोग उन्होंने विशेष अवसरों पर ही किया है और उनकी सख्या भी अपेक्षाकृत कम है। शब्दों की यदि सूची बनाई जाय तो उसमें खलक, खुदा, गुलाम, हलाल, रहीम, करीम, पाक, बिसमिल, हज, सबूरी, काबा, पीर, औलिया, पैगम्बर, रोजा, निवाज, नमाज, मुरसिद, मसकीन आदि की ही अधिकता मिलेगी। सारांश यह कि कबीर की भाषा न तो 'सधुक्कड़ी' है और न 'पंचमेल खिचड़ी'। वह है उस सामान्य भाषा का रूप जिसका प्रचार गुजरात से बिहार तक और पजाब से दक्षिण तक हो चुका था।

कबीर की भाषा की अपनी विशेषताएँ भी हैं। उनकी भाषा सरल, सीधी-सादी, स्वाभाविक, प्रभावोत्पादक और प्रसाद एवं माधुर्य गुण-युक्त है। उसमें प्रवाह कम है, पर उसका रूप अधिकतर विषय, पात्र और भाव के अनुकूल है। गंभीर विचारो एवं अनुभूतियो के प्रकाशन में वह सशक्त और समर्थ भी है। वह सरल होते हुए भी गभीर संकेतात्मक, प्रतीतात्मक और पारिभाषिक भी है। उसमे ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जो एक साथ अनेक विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उसमे यह भी विशेषता है कि उसमें अरबी, फारसी तथा संस्कृत के मूल शब्द तद्भव रूप मे प्रयुक्त हुए है। इनके अतिरिक्त उसमें देशज और शब्दों के ग्रामीण प्रयोग भी मिलते हैं।

कबीर का प्रभाव

कबीर के सिद्धान्तो और उनकी कृतियो के संबंध में यहाँ तक कहने के पश्चात् अब हम यह देखेंगे कि उन्होने अपने आदर्शों से अपने तथा आने-वाले युग को कहाँ तक प्रभावित किया। हम यह देख चुके है कि कबीर का युग विभिन्न सम्प्रदायो का युग था और उस युग का प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसो सम्प्रदाय-विशेष मे दीक्षित था। ऐसी स्थिति में उनके सिद्धान्तो का प्रचार तभी संभव था जब वह किसी पंथ अथवा संप्रदाय का आयोजन करते। परन्तु उन्होने अपनी स्वतंत्र प्रकृति के कारण ऐसा नहीं किया। वह किसी पंथ को जन्म देकर स्वतत्र विचार के मार्ग को अवरुद्ध करना अपनी साधना के आदर्श के विरुद्ध समझते थे। वह चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी साधना का मार्ग स्वयं बनाये और उस पर चलकर परमतत्त्व का परिचय प्राप्त करे। व्यक्तिगत साधना का यह आदर्श इतना ऊँचा था कि साधारण जनता की कौन कहे, बड़े-बड़े साधु-सन्त भी उस पर अमल न कर सके। नानक, दादू, पीपा, धन्ना, रविदास, सेन नाई आदि ने यद्यपि उनके सिद्धान्तो से प्रभावित होकर ही अपनी-अपनी साधना का मार्ग बनाया, तथापि उन्होने अपने-अपने मतो का प्रचार करने के लिए अपने-अपने पंथ की स्थापना को। एक पथ को जन्म देकर साधक अपने सिद्धान्तो के प्रचार में जो सफला प्राप्त करता है वह उसके श्रद्धालुओ-द्वारा किए गए प्रचार की सफलता की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण एव स्थायी होता है। इस दृष्टि से यदि कबीर ने स्वयं अपना सम्प्रदाय स्थापित न कर भूल की तो यह मानना होगा कि उनके सिद्धान्तो का वैसा व्यापक प्रचार न हो सका जैसा कि होना चाहिए था।

कबीर के सिद्धान्तो का व्यापक प्रभाव न पड़ने का एक कारण यह भी था कि वह व्यक्तिगत-साधना मे विश्वास करते थे। उनके समय मे जो लोग व्यक्तिगत साधना मे लगे हुए थे उन्ही के बीच उनके उपदेश होते थे और वे ही, उनके उपदेशो से प्रभावित होकर, उनकी बानियो को इधर-उधर अपने तानपूरे पर गाया करते थे। उनके भी सुधार एव संगठन की कोई ठोस एव सुनिश्चित योजना कबीर के पास नहीं थी। जो साधु-संत आता था, सत्संग में भाग लेता था, कुछ सुनता था और फिर अपनी राह लेता

था। मुल्ला, पंडित, काजी, योगी, यती, शैव, वैष्णव, नाथ-पंथी, सूफी, निरंजनी, सब आते थे और इसी प्रकार चले जाते थे। कबीर ने न तो आने वालों की चिन्ता की और न जानेवालो की। कौन उनकी सुनता है और कौन नही सुनता, इसकी भी उन्होने परवाह की नहीं। 'अपनी राह तू चले कबीरा,' का सिद्धान्त उन्होंने अपने सामने रखा। ऐसे साधक के प्रति तो बिरले ही आकृष्ट होते हैं।

फिर एक तीसरी बाधा भी थी। कबीर जाति के जुलाहा थे। जुलाहा जाति के प्रति न तो उच्च वशीय मुसलमान शेख, सैयद आदि का आदर का भाव था और न वर्ण-व्यवस्था मे विश्वास करनेवाले उन हिन्दुओं का जो अपने आप को ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य समझते थे। अधिकांश मुसलमान उनके सिद्धान्तो को इसलिए भी उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे कि वे कुरान के सिद्धान्तों से अनुमोदित नहीं थे। इसी प्रकार हिन्दू उनकी इस लिए उपेक्षा करते थे कि वे मुसलमान-मस्तिष्क की उपज थे। समाज की ऐसी विषम परिस्थिति मे कबीर को जो थोड़ा-बहुत प्रोत्साहन मिला वह केवल उन साधकों और व्यक्तियो से जिनका संबंध समाज के निम्न स्तर से था। समाज के उच्च स्तर के लोग कबीर की प्रायः उपेक्षा ही करते रहे।

भारत की मध्ययुगीन धर्म-साधना के इतिहास का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि कबीर की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने उनके सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए उनके नाम से 'कबीर-पंथ' की स्थापना की। परन्तु कबीर के वास्तविक सिद्धान्तों का प्रचार इस 'पंथ'-द्वारा भी न हो सका। पथ के प्रवर्तको ने कबीर के सिद्धान्तों के प्रचार की अपेक्षा उनके जीवन के प्रचार को ही अधिक महत्व दिया। वह अवतारी पुरुष सिद्ध किए गए और उनके जीवन के संबंध में अनेक संभव-असभव कथाएँ गढ़ ली गईं। इतना ही नहीं, उनके जीवन से संबंध रखनेवाले स्थानो को भी महत्व दिया गया और 'कबीर-चौरा', 'लहर तारा', 'मगहर' आदि कबीर-पंथियों के लिए तीर्थ-स्थान बन गये। इन तीर्थ-स्थानों मे महन्तो का बोलबाला हो गया, बड़ी-बड़ी जायदादे खड़ी हो गईं, कबीर के नाम से मेले लगने लगे और उनकी समाधि का विधिवत पूजन होने लगा। इस प्रकार कबीर जिन

बातो को व्यक्तिगत साधना के लिए अमान्य समझते थे उन सब को उनके मत में पुनः स्थान मिल गया। ऐसी स्थिति में कबीर के सिद्धान्त भी अछूते न रह सके। शिष्यो-प्रशिष्यो-द्वारा उन में भी परिवर्तन हो गया।

कबीर सामाजिक प्राणी थे। समाज मे रहकर ही उन्होने अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की थी। गार्हस्थ्य-धर्म के प्रति भी उनका अनुराग था। पर उनका यह अनुराग उन्हें माया-मोह के इन्द्रजाल मे आबद्ध नहीं कर पाया। वह समाज में रहते हुए भी सामाजिक मान्यताओं के प्रति उदासीन रहे। माया-मोह की निन्दा, कर्म-काण्ड का विरोध, जाति-पांति के प्रति उपेक्षा का भाव और संसार की क्षणभंगुरता आदि के संबंध में उनके उपदेशो ने सामाजिक प्राणियो के बीच किसी लोक-धर्म की व्यवस्था नहीं की। वेद, उपनिषद, पुराण, गीता, कुरान आदि धार्मिक ग्रन्थो; पीर, पैगम्बर, नबी, औलिय, विष्णु, शिव, देवी-देवता, ऋषि-मुनि आदि धर्माचारियो और तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाज़, सुन्नत, जनेऊ आदि कर्म-काण्डो के प्रति उपेक्षा का भाव उनके-जैसे इने-गिने साधको के लिए ही सार्थक हो सकता था, परन्तु जो साधारण जनता शताब्दियों से अपने धर्म-ग्रन्थो में वर्णित जीवन-सिद्धान्तो में विश्वास करती चली आ रही थी उसे उनकी वाणी अनर्गल प्रलाप ही जान पड़ी। इन सब का तिरस्कार, इन सबकी उपेक्षा और इन सबका विरोध करना साधारण जानता के बस की बात नहीं थी। यही कारण था कि वह अपने समय के सामाजिक जीवन को प्रभावित न कर सके। उनकी इस मूल को पहचाना तुलसीदास ने। गोस्वामी तुलसीदास ने जन-जीवन के बीच 'लोक-धर्म, की स्थापना कर जो सफलता प्राप्त की वह कबीर को प्राप्त न हो सकी।

इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि कबीर के सिद्धान्तो एवं आदर्शों का कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ा। कबीर उत्तरी भारत के पहले संत थे जिन्होंने भारतीय धर्म-साधना में उपनिषदो के ब्रह्मवाद की पुनः प्रतिष्ठा की और वर्तमान तथा भविष्य के संतों एवं भक्तो का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट किया। यह उन्हीं के उपदेशो का प्रभाव था कि मध्ययुगीन धर्म-साधना के क्षेत्र में गुरु नानक, पीपा, रविदास, दादू, धन्ना आदि महान

संतों का जन्म हुआ और उन्होंने भारतीय जनता के एक बड़े समूह को अपने-अपने उपदेशों से प्रभावित कर धर्म-साधना का क्षेत्र विस्तृत कर दिया। वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-धर्म का यद्यपि उनमूलन न हो सका तथापि उसकी गहरी जड़े अवश्य हिल गयी। मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, कुरबानी, छुआछूत आदि के विरुद्ध भी अनेक आंदोलन उठ खड़े हुए और उन्होंने अपने उद्देश्यो में सफलता प्राप्त की। कबीर की 'सहज समाधि' से हठयोग का प्रभाव भी क्षीण पड गया और उसके प्रति संतो एवं भक्तो की आस्था उठ गयी। भक्तो के बीच भजन-कीर्तन की प्रतिष्ठा बढ़ी और धीरे-धीरे निर्गुणवाद ने सगुणवाद के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी। इन प्रभावों के साथ-साथ भक्तो मे गार्हस्थ्य-धर्म के परिपालन की भावना भी जागी और उन्होने उसका पूरी तरह समर्थन किया। परमतत्त्व का साक्षात्कार गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत करते हुए भी संभव है, यह शिक्षा पहले-पहले कबीर ने ही स्वयं अपना आदर्श उपस्थित कर दी और इसका साधको पर प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिए एक धर्म अथवा सम्प्रदाय से दूसरे धर्म अथवा सम्प्रदाय में दीक्षित होना व्यर्थ समझा जाने लगा। इससे लोगो को अपने-अपने सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धा का भाव जाग्रत हुआ। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कबीर शाक्त मत के अतिरिक्त अन्य किसी मत के निन्दक नहीं थे। वह अपने युग के सभी मतो, सम्प्रदायो और धर्मों में सत्यता का आभास पाते थे। वह स्वतंत्र विचारक, कटु आलोचक और व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र मे अत्यन्त ऊँचे उठे हुए संत थे। सामाजिक मान्यताओ की दृष्टि से वह चाहे सफल न हुए हो, परंतु जहाँ तक उनकी व्यक्तिगत साधना का प्रश्न है उन्होने उसके द्वारा अपने युग को ही नही, आनेवाले युग को भी प्रभावित किया, इसमे सन्देह नहीं किया जा सकता।

: २ :

मलिक मुहम्मद जायसी

जन्म सं० १५२० : मृत्यु सं० १५९९

जीवन-परिचय

मलिक मुहम्मद जायसी अवध के निवासी थे। उनका जन्म रायबरेली जिले के जायस नामक ग्राम मे हुआ था। जायस (प्राचीन नाम उदयन) में रहने के कारण वह 'जायसी' कहे जाने लगे। 'मलिक' उनकी पैतृक उपाधि थी। पं० चन्द्रबली पाडे के निर्णयानुसार उनका जन्म ८७० हिजरी (सन् १४६३ अर्थात् सं० १५२०) के लगभग होना युक्ति-संगत प्रतीत होता है। अपनी रचना 'आखिरी कलाम' मे उन्होने लिखा भी है :—

'भा अवतार मोर नवसदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी॥'

जायसी ने अपने समय की दो मुख्य घटनाओं का उल्लेख भी किया है। इनमे से एक है 'सूर्य-ग्रहण' और दूसरा है 'भूचाल'। इण्डियन कलेण्डर के अनुसार सूर्य-ग्रहण का समय ९०८ हिजरी अर्थात् १० दिसम्बर सन् १५०२ और भूकंप का समय ९११ हिजरी अर्थात् सन् १५०५ है। इनके अतिरिक्त जायसी ने प्रथम मुगल-सम्राट बाबर (स० १५८३ ८७) और शेरशाह (स० १५९७-१६०२) की प्रशंसा में पद भी कहे है।

जायसी एक दरिद्र परिवार की सन्तान थे। उनके पिता खेती-बारी करते थे। कहा जाता है कि ७ वर्ष की अवस्था में शीतला के प्रकोप से उनकी बाईं आँख जाती रही थी और एक कान भी बहरा हो गया था। इससे उनका रूप बिगड़ गया था। अपनी रचनाओं मे उन्होने अपनी कुरूपता का वर्णन बड़े गर्व से किया है और शुक्राचार्य से अपनी तुलना की है।

जायसी की शिक्षा कब और कैसे हुई, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा

जा सकता। 'अगुवा भयऊ सेख बुरहानू' से यह ध्वनित होता है कि शेख बुरहान-द्वारा उन्हे मुहीउद्दीन (मोहदी) का सत्संग प्राप्त हुआ था। शेख बुरहान हिन्दी के अच्छे कवि थे। वह कालपी-निवासी थे और जायसी के शिक्षा-गुरु थे। जायसी ने उन्हीं से काव्य-कला की शिक्षा प्राप्त की थी। पर उनका दीक्षा-गुरु कौन था, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट व्यंजित नहीं होता। इतना अवश्य पता चलता है कि उनके दीक्षा-गुरु जायस-निवासी ही थे। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि वह अपने समय के विद्वान सूफियो में से थे। अरबी, फारसी और हिन्दी का उन्हे अच्छा ज्ञान था। काव्य-कला के साथ-साथ वह हठयोग, ज्योतिष, वेदान्त, रसायन आदि के अच्छे ज्ञाता थे। 'कुरान' मे उनकी अटूट आस्था थी। अन्य धर्मों के प्रति भी वह उदार थे। वह सूफियों के चिश्चतिया-सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। ख्वाजा सय्यद अशरफ जहाँगीरो (सं० १३५६-१४६२) इसी सम्प्रदाय के दीक्षा-गुरु थे। जायसी ने उनका नाम बड़े आदर से लिया है और अपने वंश को उसी का शिष्य बताया है।

जायसी ने अपनी रचना 'पदमावत' के आरंभ में अपने चार मित्रों —मलिक यूसुफ़, सलार क़ादिम, सलोने मियाँ और बड़े शेख़—का उल्लेख किया है, परन्तु उनके संबध मे उनके गुणो की चर्चा करके ही उन्होने उन्हें छोड़ दिया है। इनमे से यूसुफ मलिक और सलोने मियाँ गाजीपुर और भोजपुर के महाराज जगतदेव के आश्रित थे। महाराज जगतदेव शेरशाह के मित्र थे। उनके यहाँ गंधर्वराज नामक एक बड़ा गुणी कथक था। जायसी का उससे बहुत स्नेह था। जनश्रुति है कि जायसी ने उसे यह आशीर्वाद दिया था कि तुम्हारे कुल मे संगीत-विद्या सदा बनी रहेगी, पर तुम हमारे स्नेह-चिह्न के स्मारक मे 'मलिक' की पदवी अपने कुल में चला दो। तब से गंधर्वराज के वंशज, जो अब तक बलिया के रायपुरा और हल्दी ताल्लुके में बसे हुए हैं, 'मलिक' कहलाते हैं और अच्छे गायक भी हैं।

जायसी अपने समय के सिद्ध पुरुष थे। उन्हें लोग पहुँचा हुआ पीर मानते थे। कहते हैं, वह कभी अकेले भोजन नहीं करते थे। एक दिन जब उन्हें कोई साथी नहीं मिला तब उन्होंने एक कोढ़ी के साथ भोजन किया

और उसके पीप सने जूठन को ग्रहण कर लिया। उनका ऐसा करना था कि कोढ़ी लकड़हारा उनकी दृष्टि से ओझल हो गया। इस विचित्र घटना का उनके जीवन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होने वैराग्य ले लिया। 'अखरावट' मे उन्होने अपने वैराग्य का उल्लेख तो किया है, पर उसका समय नही दिया है। उनकी रचनाएँ उनकी वैराग्य-भावना से ओत-प्रोत हैं। सबमें उनके धार्मिक सिद्धान्तो का अपूर्व सामंजस्य है।

जायसी अपने निवास-स्थान जायस से अमेठी कब और कैसे पहुँचे, यह विवादास्पद हैं। परम्परा से प्रसिद्ध है कि उनका एक शिष्य अमेठी (अवध) मे रहता था और वह 'नागमती' का 'बारह मासा' गाकर घर-घर भीख माँगा करता था। एक दिन अमेठी-नरेश ने उसे बुलाकर उससे वह 'बारह मासा' सुना। उसमें एक दोहा था :—

'कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाइ।
सूखि बेलि पुनि पलुहै, जौं पिय सींचै आइ॥'

यह दोहा सुनते ही अमेठी-नरेश मुग्ध हो गये। उन्होने उस गायक से दोहे के रचयिता का नाम पूछा। गायक ने जायसी का नाम बता दिया। जायसी का नाम सुनकर अमेठी-नरेश ने बड़े सम्मान से उन्हे अपने यहाँ बुलाया। तब से जायसी वहीं के मंगरा बन में रहने लगे। उनके आशीर्वाद से अमेठी का राज-वंश चला।

जायसी के अमेठी जाने के संबंध मे एक ऐतिहासिक घटना भी कही जाती है। पं० चन्द्रबली पांडे ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-कवि-चर्चा' में इस घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जब हुमायूँ (स० १५८७-१६१३) शेरशाह से हारकर कन्नौज से भागा और इधर-उधर भटकने लगा तब शेरशाह को यह सूचना मिली कि जायस के लोग उसके विरोधी हैं। इससे शेरशाह ने बिगड़कर यह आज्ञा दी कि जायस खोदकर फेक दिया जाय। बस फिर क्या था, भगदड़ मच गयी। इसी भगदड़ मे पड़कर जायसी भी अपने शिष्यो के साथ अमेठी के मगरा-वन में पहुँचे। सभव है, उनके वहाँ पहुँचने के कुछ दिनो बाद ही अमेठी-नरेश से उनका परिचय हुआ हो। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय तो यह घटना सन् १५४० के लगभग की

ठहरती है। 'पदमावत' की रचना के समाप्त होने का समय भी यही है। लगता है, जायसी ने जायस मे रहकर पद्मावत की रचना का सूत्रपात किया और उसे समाप्त किया अमेठी के मगरा वन मे। पांडेजी का यह भी कहना है कि वह यहीं से दिल्ली गये और शेरशाह के राज्याभिषेक के अवसर पर उन्होने उन्हे आशीर्वाद दिया।

दिल्ली से लौटने के दो वर्ष पश्चात् जायसी की मृत्यु उसी मंगरा वन में हुई। जनश्रुति है कि वह योग-बल से अन्य पशुओ के रूप धारण कर लेते थे और उनकी बोली बोला करते थे। इससे अमेठी-नरेश ने उस वन में शिकार खेलने की मनाही कर दी थी। परन्तु एक दिन घूमता-घामता एक शिकारी वहाँ आ ही पहुँचा। उसने बाघ की बोली सुनकर उस ओर गोली चला दी और जब पास जाकर देखा तो उसे बाघ के स्थान पर जायसी का निर्जीव शरीर मिला। अमेठी-नरेश को इस दुर्घटना से बहुत दुःख हुआ। उन्होने वही उनकी समाधि बनवा दी जो अबतक वर्तमान है। काजी सैयद आदिल हुसेन ने अपने रोजनामचे में उनकी निधन-तिथि ५ रज्जब, ६४६ हिजरी (सन् १५४२ अर्थात् सं० १५९९) लिखी है। यही तिथि ठीक जान पड़ती है। इससे जायसी की आयु ७६ वर्ष की होती है।

जायसी की रचनाएँ

जायसी २१ काव्य-ग्रन्थो के रचयिता माने जाते हैं, परन्तु इस समय उनकी केवल चार कृतियाँ ही उपलब्ध है। इनमें से पहली है: **आखिरी कलाम**। इसका रचना काल जायसी के अनुसार ६३६ हिजरी है। इसमे कवि ने पहले तो ईश्वर की स्तुति की है और फिर आत्म-परिचय देते हुए सूर्य-ग्रहण और भूकम्प होने का उल्लेख किया है। साथ ही मुहम्मद साहब और गुरु की स्तुति भी की गई है। अन्त मे प्रलय का दृश्य चित्रित किया गया है। भाषा अवधी है, पर उसमे प्रौढ़ता नही है। छन्द-योजना की दृष्टि से केवल दोहा-चौपाइयो का प्रयोग हुआ है। ७ चौपाइयो के पश्चात् एक दोहे का क्रम है।

जायसी का दूसरा काव्य-ग्रन्थ है: **पदमावत**। यही ग्रन्थ उनकी प्रसिद्धि का कारण है। यह महाकाव्य है। इसका रचना-काल ८२७ हिजरी से ६४७

हिजरी अर्थात् सन् १५२० (स० १५७७) से सन् १५४० (सं० १५६७) तक माना जाता है। यह प्रेमाख्यान है जिसमें लौकिक कथा के सहारे आध्यात्मिक तत्त्वो की अभिव्यक्ति की गई है। सपूर्ण कथा ५७ खण्डो मे वर्णित है और प्रत्येक खड अपने विषय के अनुसार महत्वपूर्ण है। भाषा अवधी है और 'आखिरी कलाम' की भाषा की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है। छन्द-योजना में केवल दोहा-चौपाइयो को महत्व दिया गया है। सपूर्ण पुस्तक मे ७ चौपाइयो के पश्चात् एक दोहे का क्रम है।

जायसी का तीसरा काव्य-ग्रंथ है : **अखरावट**। इसकी रचना-काल के सबंध मे स्वयं जायसी मौन है, परन्तु आलोचक इसे 'पदमावत' के पश्चात् की रचना मानते है। यह उनका छोटा काव्य-ग्रथ है जिसमे आध्यात्मिक विचारो की प्रधानता है। ईश्वर, सृष्टि, जीव तथा ईश्वर-प्रेम आदि विषयों के संबंध मे जायसी की विचार-धारा का इस छोटी-सी पुस्तक से पता लग जाता है। भाषा अवधी है। छन्द-योजना की दृष्टि से इसमे पहले दोहा, फिर सोरठा और अन्त में ७ चौपाइयो का क्रम है। चौपाइयो की शैली दो प्रकार की है। कुछ चौपाइयाँ ऐसी है जो अक्षरो के क्रम के अनुसार रची गई है। ऐसी चौपाइयो की रचना में कबीर की बाराखड़ी पद्धति का अनुसरण किया गया है। इनके अतिरिक्त शेष चौपाइयों मे अक्षरो का क्रम नहीं है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपनी 'जायसी ग्रन्थावली' में जायसी के एक और ग्रन्थ को स्थान दिया है। इसका नाम उन्होने 'महरी बाईसी' दिया है।

जायसी का समय

जायसी मध्यकालीन भारत की दिव्य विभूति थे। उन्होने अपने जीवन-काल में तीन राज-वंशो—लोदी-वंश, मुग़ल-वंश और सूर-वश का उत्थान-पतन देखा था। बहलोल लोदी के शासन-काल (स० १५०८-३६) मे उनका जन्म हुआ था और शेरशाह सूर के शासन-काल में (स० १५६७-१६०२) में उनका निधन। अपने जीवन के इतने दिनो मे उन्होने तीन भीषण युद्ध: पानीपत का युद्ध (स० १५८३), खनवा का युद्ध (सं० १५८४) और कन्नौज का युद्ध (स० १५६७) देखे थे। इनके साथ ही इब्राहीम लोदी की पराजय तथा बाबर की विजय के कुछ दिनो बाद ही हुमायूँ की पराजय तथा शेरशाह की

विजय देखी थी। तात्पर्य यह कि राजनीतिक दृष्टि से उनका समय अत्यन्त उथल-पुथल का था। राजनीति के क्षेत्र मे क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, दोनो के अपने-अपने स्वार्थ थे, दोनों की अपनी-अपनी महत्वाकाक्षाएँ थी। यही नहीं कि हिन्दू मुसलमान के विरोधी थे, अथवा मुसलमान हिन्दू के, वरन् हिन्दू-हिन्दू का और मुसलमान मुसलमान का खुलकर विरोध करते थे। इस प्रकार उस समय के राजनीतिक संघर्ष मुख्यतः स्वार्थों के सघर्ष थे। इन संघर्षों का उन्ही लोगो पर विशेष प्रभाव पड़ता था जो उनकी लपेट में आते थे। कभी कोई हिन्दू-शासक हिन्दूओ की धार्मिक भावना को उत्तेजित कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि का स्वप्न देखता था और कभी कोई मुस्लिम शासक मुसलमानो की धार्मिक भावना को उभार कर उन्हे युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित करते दीख पड़ता था। इन प्रभावों से दूर बसनेवाली जनता अपने धुन में मस्त रहती थी। दिल्ली के सिहासन पर चाहे इब्राहीम लोदी बैठे, चाहे बाबर अथवा शेरशाह—उसे इन बातो से कोई मतलब नहीं था। वह यह समझ बैठी थी कि उसे तो किसी न किसी के अनुशासन मे ही रहना है और आज्ञा पालन करना है। जनता की इस प्रकार की मनोवृत्ति के दो कारण थे : एक तो यह उक्त संघर्ष आन्तरिक संघर्ष थे जिनका उद्देश्य राजनीतिक उद्देश्य था, दूसरा यह कि भारत पर बाह्य आक्रमणो का भय धीरे-धीरे घटता जा रहा था। आन्तरिक संघर्षों की अपेक्षा बाह्य आक्रमण अधिक विनाशकारी सिद्ध होते थे और उनका उत्तर भारत के संपूर्ण जन-जीवन पर प्रभाव पड़ता था। इसलिए प्रायः सभी लोग उनके प्रति सशंक और भयभीत रहते थे। उनका उद्देश्य भारत मे राजनीतिक सत्ता प्राप्त होने के अतिरिक्त धर्म-प्रचार भी होता था। इस लिए हिन्दू जनता तो उनका समाचार पाकर ही भयभीत हो उठती थी। जायसी के समय मे यद्यपि कतिपय मुस्लिम-शासको ने हिन्दूओ की धर्म-भावना पर चोटें की थी, तथापि वे इतनी गहरी नहीं थी कि उनसे संपूर्ण हिन्दू-जनता छटपटा उठे और उसके जीवन में उथल-पुथल मचा दे।

देश की उक्त राजनीतिक परिस्थितियों में उग्र धार्मिक भावना के लिए कोई स्थान नहीं था। बाबर यद्यपि मुसलमान था, तथापि अपने पूर्व-

वर्त्ती शासकों की अपेक्षा हिन्दू-धर्म के प्रति उदार एवं सहिष्णु था। शेर-शाह मे धार्मिक कट्टरता नही थी। वह हिन्दू और मुसलमान दोनो के प्रति समान सम्मान का भाव रखता था। हिन्दू और मुसलमानो को भारत मे एक साथ रहते हुए चार-पाँच शताब्दियाँ बीत चुकी थी और वे एक दूसरे के आचार-विचार तथा मनोवृत्तियों से परिचित हो चुके थे। इसका प्रमाण उस समय का साहित्य है जिस पर दोनो का समान रूप से अधिकार था। हिन्दू फारसी पढ़ते थे और मुसलमान हिन्दी मे रचनाएँ करते थे। इस प्रकार जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली थी। मुसलमानो ने 'राम-कृष्ण' को और हिन्दूओ ने 'रहीम' को एक रूप मे अपना लिया था। वेदान्त, उपनिषद् तथा कुरान के सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप मे जनता के बीच सम्मानित हो चुके थे। धीरे-धीरे वैष्णव-भक्ति का विकास हो रहा था। शाक्त तथा मंत्र-तंत्र, जादू-टोना, भूत-प्रेत और यक्षिणी सिद्ध करनेवाले साधुओ के प्रति जनता का अधिक विश्वास नही था। हिन्दू-समाज मे वर्ण-व्यवस्था और आश्रय-धर्म की पूर्ववत् प्रतिष्ठा थी, पर उनके प्रति उसमें विशेष कट्टरता का भाव नही था। सब एक-दूसरे से मिलते-जुलते थे। ऐसा धार्मिक वातावरण सूफी साधकों तथा हिन्दू-भक्तों के लिए अत्यन्त अनुकूल था। सूफी-साधक उलमाओ की भाँति कट्टर नहीं थे। इसमे संदेह नही कि वे भी इस्लाम के प्रचारक थे, पर वे अपने प्रचार मे उग्र नहीं थे। उन्होने हिन्दुओं में घुल-मिल कर, हिन्दू देवी-देवताओ, हिन्दू-साहित्य, हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू-धर्म-भावना को अपनाकर इस्लाम का प्रचार करना अपना लक्ष्य बनाया था। उन्होंने बहुत-सी ऐसी बातो को त्याग दिया था जिनसे हिन्दू और मुसलमानो की विचार-धाराओं के समन्वीकरण मे बाधा पहुँचने की सभावना थी। इसलिए उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता भी मिली। जायसी ने ऐसे ही युग में जन्म लिया और उन्होने हिन्दी को अपनी कई अमर रचनाएँ भेंट कीं। उनके समय मे उनकी रचनाओ का अच्छा प्रचार हुआ। कबीर की भाँति उन्होने भी किसी लोक-धर्म की व्यवस्था नहीं की, पर अपनी लोक-कथाओ-द्वारा उन्होने हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान रूप के आकृष्ट किया।

सूफी सम्प्रदाय का इतिहास

सूफी सम्प्रदाय की स्थापना—जायसी सूफी-सम्प्रदाय में दीक्षित थे। हिन्दी में हम जिसे सूफी-सम्प्रदाय कहते हैं उसे फारसी में 'तसव्वुफ़' का नाम दिया जाता है 'सूफी' और 'तसव्वुफ़' दोनो शब्द 'सूफ़' से बने है। 'सूफ़' का अर्थ है, ऊन। अरब मे 'सूफी' उन दरवेशो अथवा फ़कीरो को कहते थे जो ऊनी कम्बल पहनकर घूमा करते थे और इस्लाम धर्म का प्रचार करते थे। कुछ लोग 'सफ' से 'सूफी' की व्युत्पत्ति मानते है और कहते हैं कि जो फ़कीर अपने सदाचार के कारण एक सफ (पंक्ति) में बैठाए जाते थे वे 'सूफी' कहलाते थे। इसी प्रकार कुछ लोगो का यह भी कहना है कि मदीना शरीफ़ के सामने जो 'सुफ्फा' चबूतरा है उस पर बैठनेवाले फ़कीर 'सूफ़ी' कहलाते थे। इनके अतिरिक्त विद्वानो का एक वर्ग यूनानी शब्द 'सोफ़िया' से सूफियो का सम्बन्ध स्थापित करता है। 'सोफ़िया' का अर्थ है, ज्ञान। जो फ़कीर ज्ञानी होते थे उन्हे 'सूफी' कहते थे। 'सूफी' का अर्थ जो भी हो, इसमे सन्देह नही कि अरब मे मुहम्मद साहब (सं० ६२७-८६) द्वारा स्थापित विशुद्ध इस्लाम-धर्म के प्रति एक जबरदस्त प्रतिक्रिया हुई और इस प्रतिक्रिया मे सूफियों ने खुलकर भाग लिया। मुसलमान होने के नाते वे 'कुरान शरीफ़' की हिदायतो (शिक्षाओ) मे पूरी आस्था रखते, पर साधना के क्षेत्र मे वे उन्ही हिदायतों तक अपने आपको सीमित नहीं रखते थे। वे इस्लाम-धर्म के बाह्य विधानों के प्रति उदासीन थे। एक शब्द मे वे आत्मवादी थे। ऐसी दशा मे कट्टर मुसलमानों तथा कर्मकाण्डी नबियो ने उनका घोर विरोध किया, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया में ही उन्हें अपने भावो को अधिकाधिक परिष्कृत करने का अवसर मिला और कालान्तर मे वे हृदय की पवित्रता और ईश्वर-प्रेम को ही मुख्य मानने लगे। धीरे-धीरे उनका प्रचार-क्षेत्र बढ़ने लगा और अब्बासी-वंश के शासन काल (सं० ८०७-१३३१) तक बसरा, बग़दाद, सीरिया, मिस्र तथा स्पेन आदि में उनके सिद्धातो का प्रचार हो गया। मुहम्मद-बिन-कासिम के भारत पर आक्रमण (सं० ७६६) के फलस्वरूप खलीफ़ा मंसूर (सं० ८१०-१३) और खलीफ़ा हारूँ (सं० ८४३-६५) के समय में बगदाद की

पुण्य भूमि पर भारतीय और इस्लामी संस्कृतियो का जो आदान-प्रदान हुआ उसने अरबी-सूफियो को अद्वैतवाद की ओर स्पष्ट रूप से आकृष्ट किया और फिर उन्होने सूफी-सम्प्रदाय की स्थापना की।

सूफी-सम्प्रदाय का विकास—यद्यपि सूफी-सम्प्रदाय का जन्म इस्लाम-धर्म के अन्तर्गत ही हुआ, तथापि उसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन थी। खोजियो का कहना है कि इस्लाम-धर्म के जन्म के बहुत पहले सूफी विचार-धारा की नीव पड चुकी थी। ईश्वरोपासना के विविध ढंग है और उन सब के मूल मे मानव की दो ही प्रवृत्तियाँ काम करती है। इनमे से एक है 'भय' और दूसरा है 'प्रेम'। यहूदियो तथा उनके सिद्धान्तो से प्रभावित इस्लाम-धर्म में ईश्वरोपासना का आधार 'भय' है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ यहूदियों का 'यहोवा' केवल इसराइलियो पर शासन और कृपा करता है वहाँ मुसलमानो का 'खुदा' सर्वव्यापी है और वह उन सब लोगों पर कृपा करता है जो उसके दूत (पैगम्बर) हज़रत मुहम्मद साहब के वचनो पर ईमान लाते हैं। इससे कुछ भिन्न ईसाइयो की उपासना-पद्धति है। उनकी उपासना भी 'भय' पर आधारित है, परन्तु उन्होने अपने ईश्वर के साथ पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित कर ईश्वर और जीव के संबध मे कोमल भावना का विधान किया है। उनके मतानुसार ईश्वर पिता है और हजरत ईसा उनके पुत्र। इन दोनो पैग़म्बरी उपासनाओ के विरुद्ध एक तीसरी उपासना-पद्धति भी है जिसे हम 'मादन' भाव की उपासना-पद्धति कहते हैं। इस उपासना-पद्धति की झलक पैगम्बरी धर्म-ग्रंथो मे भी मिलती है, परन्तु इसका विकास हमे उपनिषदो मे ही मिलता है। उपनिषद् ही इस भाव की उपासना पद्धति के आदि स्रोत है। इस भाव का साधारण अर्थ है, ईश्वर और जीव के बीच रहस्यात्मक मिलन-विरह। 'तसव्वुफ' अथवा सूफी-सम्प्रदाय मे इसी रहस्यात्मक मिलन-विरह की प्रधानता है। 'कुरान' मे चूंकि इस भाव की झलक मिलती है, इसलिए सूफी इसमे आस्था रखते हैं। वे एक ओर पैगम्बरी मत मानते हैं तो दूसरी अपने खुदा के साथ स्वतत्र संबंध भी स्थापित करते है। मुस्लिम-जगत मे इस प्रकार की उपासना-पद्धति का आश्रय लेनेवालो में राबिया (मृत्यु सं० ८०६) का नाम बड़े आदर से

लिया जाता है। वह बसरे की रहनवाली दासी थी और अपने को 'अल्लाह' की 'पत्नी' समझती थी। अपने रसूल मे आस्था रखती हुई वह कहती है—"हे रसूल! भला ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे आप प्रिय न हो। पर मेरी तो दशा ही कुछ और है। मेरे हृदय मे परमेश्वर का इतना प्रसार हो गया है कि उसमे उसके अतिरिक्त किसी अन्य के लिए स्थान ही नही है।" रूबिया के ये भाव भारतीय धर्म-साधना से प्रभावित है। इसलिए अपने इस प्रकार के स्वतंत्र भावो के प्रकाशन के लिए उसे तथा उसकी सहेलियो को अनेक कष्ट भोगने पडे। उसके पश्चात् मसूर (हल्लाज) को 'अनलहक' (मै ही परम सत्य हूँ) कहने के कारण सूली पर चढ़ना पड़ा। मसूर के बलिदान से सूफी-संप्रदाय को विशेष बल मिला। फराबी, अबूसईद आदि अन्य सूफियो ने भी अपनी अपनी विचार-धारा और अनुभूति के अनुरूप अपने सम्प्रदाय की मान्यताएँ निश्चित की और विशुद्ध इस्लाम-धर्म के साथ समझौते का प्रयत्न किया, परन्तु कट्टर मुसलमानो ने उनकी एक न सुनी। काजी और मुल्ला उन्हे नास्तिक (काफिर) ही कहते रहे। फिर भी उनकी लोक-प्रियता बढ़ती गई और वे 'नबी' की भाँति पूजे जाने लगे। उनके विचारो एव सिद्धांतो से प्रभावित होकर अरब और फारस के अनेक कवियों ने सुललित रचनाएँ की। अन्त मे सूफी इमाम गज्जाली (मृ० स० ११७०) के प्रयत्न से इस्लाम और सूफी सम्प्रदाय के बीच समन्वय स्थापित हुआ और फिर 'तसव्वुफ़' इस्लामी-दर्शन बन गया।

सूफी सम्प्रदाय की भारतीय शाखाएँ—भारत मे सूफी-सम्प्रदाय का प्रवेश कब हुआ, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। इतिहास देखने से पता चलता है कि हजरत मुहम्मद साहब (स० ६२७-८६) की मृत्यु के पश्चात् खलीफा उमर के समय मे स० ६६३-६४ के लगभग पश्चिमी समुद्री तटों को लूटने के उद्देश्य से कुछ अरबी-सैनिको ने उन पर आक्रमण किया था। उमय्या-वश के शासन-काल (स० ७१८-८०६) मे अरब और भारत के बीच व्यापारिक सबध भी स्थापित हो गया था। सभव है, इन्हीं दिनो कुछ सूफी भी भारत मे आये हो और यहाँ की धर्म-भावना से प्रभावित होकर मुलतान और सिन्ध मे बस गये हो। इतिहासकारो का कहना है कि

सूफी-साधक सं० ७७० के लगभग मुलतान पहुँच गये थे और उन्होंने पंजाब तथा सिन्ध में अपने-अपने केन्द्र स्थापित कर लिए थे। यहीं वेदांत, गोरख-पंथी हठयोग, हीनयानी बौद्ध-मत और सूफीमत में परस्पर विचारों का विनिमय हुआ। धीरे-धीरे सूफी-साधक उत्तर भारत से दक्षिण भारत में भी पहुँचे। अपने-अपने केन्द्रों की स्थापना करने के साथ-साथ उन्होंने अपने साहित्य का भी निर्माण किया। उनके मुख्य चार सम्प्रदाय थे: (१) सुहर्वर्दिया, (२) चिश्तिया, (३) क़ादरिया और (४) नक़्शबंदिया। ख्वाजा हसन निजामी के मतानुसार सुहर्वर्दि-सूफी ही सब से पहले भारत में आये थे। उसके प्रवर्तक जियाउद्दीन अबुलनजीब अब्दुलकादिर इब्न अब्दुल्ला (सं० ११५४-१२२५) थे। उनका जन्म स्थान सुहर्वर्द और मृत्यु-स्थान बग़दाद था। उन्होंने अपने भतीजे शिहाबुद्दीन (सं० १२०२-६१) की सहायता से सुहर्वर्दिया उप-सम्प्रदाय की नींव डाली। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्य सय्यद जलालुद्दीन सुर्खपोश (सं० १२४६-१३४८) ने सिंध, गुजरात और पंजाब में अपने मत का प्रचार किया। झूँसीवाले सूफी शेख़ तक़ी (सं० १३७७-१४४१) इसी सम्प्रदाय में दीक्षित थे। चिश्तिया-उप-सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक ख्वाजा अबू अब्दुल्ला चिश्ती (मृ० सं० १०२३) थे, परन्तु भारत में उसका प्रचार सर्वप्रथम मुइनुद्दीन चिश्ती (सं० ११९६-१२९२) द्वारा हुआ। वह ईरान-प्रदेश के अन्तर्गत सीस्तान के निवासी थे और यहाँ मुहम्मद ग़ोरी की सेना के साथ सं० १२४९ में आये थे। उन्होंने अजमेर को अपना केन्द्र बनाया और वहीं उनकी मृत्यु हुई। वह अपने समय के प्रसिद्ध सूफी थे और 'आफताबे हिन्द' (भारत के सूर्य) कहे जाते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनके शिष्य थे। उनकी शिष्य-परम्परा में ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तार 'काकी' (सं० १३४३-९३), हजरत बाबा फरीदुद्दीन 'शकरगंज' (सं० १२४३-१३२२), हजरत निज़ामुद्दीन औलिया (सं० १२९३-१३८१), ख्वाज सय्यद अशरफ जहाँगीरी (सं० १३५६-१४६२), मलिक मुहम्मद जायसी (सं० १५२०-९९), शेख़ सलीम चिश्ती (मृ० सं० १६२९) आदि प्रसिद्ध सूफी थे। कादरिया उप-सम्प्रदाय के प्रवर्तक बगदाद-निवासी शेख़ अब्दुल कादिर जीलानी (सं० ११३५-१२२३) थे, परन्तु यहाँ सय्यद

बन्दगी मुहम्मद ग़ौस (मृ० स० १५७४) ने सर्वप्रथम इसका प्रचार किया था। दारा शिकोह (स० १६७२-१७१५) और सत बुल्लेशाह (स० १७३७-१८१०) इसी की शिष्य-परम्परा मे थे। बगाल और बिहार मे इसका अच्छा प्रचार हुआ। नक्शबंदिया उप-संप्रदाय के मूल प्रवर्तक तुर्किस्तान-निवासी ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्द (मृ० स० १४४६) थे। ख्वाजा मुहम्मद बाक़ीबिल्लाह 'बेरग' (मृ० सं० १६६०) ने यहाँ इसका प्रचार किया था। इसका प्रभाव शिक्षित वर्ग पर अधिक था। इन चारो उप-सम्प्रदायो मे कोई सैद्धान्तिक विरोध नही था। इनकी मूल भावना एक ही थी और इन्होने, क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, सब को प्रभाविन किया था।

सूफी-सम्प्रदाय के सिद्धान्त

अब तक सूफी-सम्प्रदाय के इतिहास के सबंध से जो बाते कही गई हैं उनसे स्पष्ट है कि आरम्भ में उसमें अनेक प्रभावो का आदान-प्रदान चलता रहा और फिर इसके बाद ईसा की बारहवी शताब्दी के लगभग उसे अन्तिम रूप मिला। अपने अन्तिम रूप मे उसने अपने लिए ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि के संबध मे अनेक सिद्धान्त निश्चित किये। यद्यपि उसके अनुयायी स्वतत्र विचारक थे, तथापि उन्होने इस्लाम से अपना संबध विच्छेद नहीं किया। उनकी निष्ठा और श्रद्धा इस्लाम में ही थी। वे क़ुरान में पूरी आस्था रखते थे और मुहम्मद साहब को पैग़म्बर मानते थे। इतना होते हुए भी वे क़ुरान की आज्ञाओ मे अंध-विश्वास नही रखते थे। स्वतंत्र चिन्तक होने के कारण वे उनमें अक़्ल (बुद्धि) को भी स्थान देते थे, पर उसके पोषण के लिए बाहर न जाकर वे उन्ही के भीतर से तत्संबंधी बाते खोज लेते थे। अपने मानसिक तोष के लिए उन्होने शराब और बुत-परस्ती को केवल प्रतीक-रूप में ही अपनाया था। 'कुरान शरीफ़' मे हकीकत (ज्ञान-मार्ग), तरीकत (भक्ति-मार्ग) और शरीयत (कर्म-मार्ग) को प्रधानता दी गई है। मुसलमान होने के नाते सूफी-सप्रदाय वाले भी इनमे विश्वास करते थे।

(१) **अल्लाह-सम्बन्धी सिद्धान्त**—'कुरान शरीफ़' मे आस्था एवं विश्वास रखनेवाले मुसलमान अल्लाह की दो रूपो मे उपासना करते हैं।

वे मानते है कि उनका 'अल्लाह' (खुदा) बहिश्त (स्वर्ग) मे रहता है और सर्वव्यापी भी है। सूफ़ी-सम्प्रदायवाले अपने 'अल्लाह' को सर्वव्यापी ही मानते हैं। इस दृष्टि से उनका 'अल्लाह' भारतीय 'ब्रह्म' से मिलता-जुलता है। भारतीय-विचारकों के अनुसार वे भी अपने 'अल्लाह' को अन्तर्यामी मानते हैं। उनका कहना है कि हृदय को आइने की भाँति स्वच्छ रखकर उसका प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। यही कारण है कि जहाँ विशुद्ध मुसलमान अत्यन्त सम्मानपूर्वक अपने अल्लाह के सामने माथा टेक देता है वहाँ सूफ़ी अपने हृदय मे उस अल्लाह का प्रतिबिम्ब देखकर आत्म-विभोर हो उठता है।

(२) **जीव-सम्बन्धी सिद्धान्त**—जीव के सम्बन्ध मे भी सूफियो की विचारधारा भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित है। 'कुरान' में 'अल्लाह' और मुहम्मद का सम्बन्ध तो स्पष्ट है, पर 'अल्लाह' और 'जीव' का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। 'अल्लाह' और उसके रसूल मुहम्मद साहब पर ईमान लाने वाले मुसलमान जीव नही हैं, वे केवल इस्लाम-धर्म के अनुयायी हैं। 'सूफ़ी-सम्प्रदाय' 'जीव' की सत्ता मानता है और कहता है—अन-अल-हक (मैं ही ब्रह्म हूँ)। परन्तु इतना स्वीकार करते हुए भी सूफ़ी-सम्प्रदाय मे 'जीव' का स्पष्ट विवेचन नही है। कुछ सूफ़ी 'अल्लाह' और 'जीव' मे कोई अन्तर नही समझते, परन्तु कुछ ऐसे भी है जो 'जीव' को 'अल्लाह' से भिन्न समझते हैं।

(३) **प्रकृति-सम्बन्धी सिद्धांत**—सृष्टि की उत्पत्ति मे सूफी 'रूह' को उपादान कारण मानते है। 'रूह' वह अलौकिक शक्ति है जो हमें बराबर अल्लाह की झलक दिखलाती है। यह शक्ति इन्सान में भी है और सृष्टि में भी। डा० रामरतन भटनागर अपनी रचना 'जायसी' मे प्रसिद्ध सूफ़ी जिली का मत स्पष्ट करते हुए लिखते है—'अल्लाह' ने अपनी सत्ता को प्रथमतः 'रूह' का रूप दिया। उससे सृष्टि, फरिश्तो और क़ल्ब की उत्पत्ति हुई।' आगे वह यह भी कहते हैं—'सूफियो के मतानुसार सृष्टि (प्रकृति) वह दर्पण है जिसमे अल्लाह के आत्म-दर्शन की कामना पूरी होती है। इस दर्पण में अल्लाह का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही इन्सान (जीव) है। परन्तु

यह इन्सान सृष्टि मे अपना स्वरूप देखना चाहता है। अतः वह भ्रम मे 'अहम्' (अहंकार) में ग्रस्त हो जाता है। परन्तु जब वह सृष्टि (प्रकृति) के सौंदर्य को अल्लाह के सौंदर्य का दर्पण समझने लगता है तब अपने स्वरूप से उसका मोह टूट जाता है और वह अल्लाह मे मिल जाता है। इस प्रकार 'प्रकृति' सूफियो की महान साधना का माध्यम है। प्रकृति के सौदर्य से एकात्म स्थापित कर साधक (सालिक) 'अन-अल-हक' को प्राप्त होता है।

(४) **माया (शैतान) सम्बन्धी सिद्धान्त**—भारतीय वेदान्त मे ब्रह्म और जीव के बीच भिन्नता उत्पन्न करनेवाली शक्ति का नाम 'माया' है। माया त्रिगुणात्मक है और ब्रह्म की ही एक शक्ति है। उसके दो रूप हैं: (१) विद्या माया और (२) अविद्या माया। भारतीय साधकों ने जी भर कर अविद्या माया की निन्दा की है और उसे ब्रह्म और जीव के मिलन मे बाधक माना है। सूफी-सम्प्रदाय में अल्लाह और इन्सान के बीच बाधा डालनेवाला है: शैतान। शैतान का उल्लेख कुरान मे भी मिलता है। कुरान के अनुसार शैतान वह है जो अल्लाह की आज्ञा का उल्लघन करता है। 'इबलीस' इसी तरह का शैतान है। वह अल्लाह के बन्दो को गुमराह (पथ-भ्रष्ट) करता रहता है। परन्तु सूफियो का शैतान इस प्रकार का शैतान नहीं है। वह ऐसा शैतान है जो अल्लाह के बन्दो की परीक्षा लेता है। जायसी ने 'पदमावत' मे पौराणिक नारद की ऐसे ही शैतान के रूप मे कल्पना की है। इस प्रकार कुरान मे इबलीस के प्रति जहाँ घृणा का भाव है वहाँ सूफ़ियों के मतानुसार वह प्रतिष्ठा का पात्र भी है।

(५) **कर्मवाद सम्बन्धी सिद्धान्त**—सूफी कर्मवाद मे भी आस्था रखते हैं। उनके अनुसार मनुष्य के कर्म ही उसे पथ-भ्रष्ट करते है। कर्मों का फल मनुष्य को अनिवार्य रूप से भोगना पडता है। अल्लाह ही कर्मो के फल का विधान करता है। अच्छे कर्मो का फल वह स्वर्ग के रूप मे और बुरे कर्मो का फल वह नरक (दोजख़) के रूप मे देता है। वह 'रहमान' (कृपालु) भी है। रहम (कृपा) के कारण ही उसने नरक की रचना की है। मनुष्य को नरक मे भेजने का अर्थ है, उसे अल्लाह की इबादत (उपासना)

के लिए सचेत करना। इस प्रकार सूफी-मत मे नरक के प्रति भी घृणा का भाव नही है। वहाँ इन्सान इसलिए नही जाता कि वह कुरान पर ईमान नही लाता, बल्कि वहाँ वह अपने बुरे कर्मों के भोग के लिए जाता है और अन्त में अल्लाह का कृपा-पात्र बनता है।

(६) **साधना-सम्बन्धी सिद्धान्त**—सूफियों के अनुसार साधक (सालिक) का मुख्य लक्ष्य है: अल्लाह के साथ तल्लीनता प्राप्त करना। इसके लिए वे साधक के चार विभाग मानते है: (१) **नफ़्स** (विषय-भोग-वृत्ति), (२) **रूह** (जीवात्मा), (३) **क़ल्ब** (हृदय जिस पर अल्लाह का प्रतिबिम्ब पडता है) और (४) **अक़्ल** (बुद्धि)। नफ्स से युद्ध करना सूफियों का परम लक्ष्य है। उसके प्रबल रहते हुए कल्ब (हृदय) की शुद्धि नही हो सकती। इन्सान का सबसे बड़ा शत्रु वही है। इसलिए सूफी-साधक चित्त-वृत्ति-निरोध पर विशेष बल देते हैं। जायसी कहते हैं:

'तन दरपन कहँ साजु, दरसन देखा जो चहै।
मन सो लीजिए माजि, मुहम्मद निरमल होइ हिया॥'

शुद्ध कल्ब रूह की उन्नति का साधन है। इसके दो रूप हैं: (१) स्थूल और (२) सूक्ष्म। अपने स्थूल रूप में हृदय मांस पिंड है, परन्तु अपने सूक्ष्मतम रूप मे वह 'सिर्र' (अन्त:करण) है। इसी में ब्रह्म-मिलन की उत्कंठा और व्याकुलता का जन्म होता है और यही रूह की उन्नति का साधन है। रूह इन्सान का शुद्धतम अश है जिसमें अल्लाह का प्रतिबिम्ब झलकता है। इस झलक के दर्शन मे अक्ल बाधक होती है। इसलिए सूफी बुद्धि-विलास को भी व्यर्थ समझते हैं। वे अक्ल (बुद्धि) की अपेक्षा मुआरिफ़ (प्रज्ञा) को विशेष सहायक मानते हैं। 'नफ्स' और 'अक्ल' दोनों 'रूह' की सात्विक स्थिति को नष्ट कर देते हैं। 'नफ्स' उसे नष्ट करता है कल्ब के माध्यम से और 'अक्ल' उसे नष्ट करती है प्रत्यक्ष रूप से। अक्ल से 'खुदी' (अहकार) का उदय होता है। 'खुदी' 'चित्तवृत्तियों' से भी अधिक भयकर शत्रु है। इन्द्रिय-दमन करने पर भी यदि 'खुदी' रह गई तो 'खुदा' नही मिल सकता। 'खुदी' को मारने से अल्लाह की कृपा-द्वारा प्रज्ञा (मुआरिफ) जाग्रत होती है और प्रज्ञा के जाग्रत होने से साधक को अल्लाह के जमाल

का दर्शन होता है। सूफी अल्लाह के जलाल को महत्व नहीं देते, क्योकि वह उनके और अल्लाह के बीच भेद उत्पन्न करता है। वे उसके जमाल (प्रेममय रूप) के उपासक है। यह है सूफी-साधना का आन्तरिक पक्ष। इससे स्पष्ट है सूफी-साधना व्यक्तिगत साधना है।

बाह्य पक्ष की दृष्टि से सूफी साधना विशुद्ध इस्लाम धर्म से अधिक प्रभावित है। इस्लाम-धर्म मे 'तौहीद' (अल्लाह एक है) साध्य है और इसके साधन हैं : (१) सलात (पॉच समय नमाज पढ़ना), (२) जकात (विशेष अवसरों पर दान देना), (३) सौम (वर्ष में एक बार एक मास तक रमजान) और (४) हज्ज (जीवन में एक बार मक्का-मदीना जाना)। यही इस्लाम-धर्म की सामाजिक (सघ) साधना है। सूफी इन साधनाओ मे आस्था तो रखते हैं, पर इन्हे इसी रूप मे स्वीकर नही करते। 'सलात' का अर्थ है पॉच समय निश्चित रूप से अल्लाह का नाम-स्मरण। सूफी नाम स्मरण तो करते हैं, पर एक विशेषता के साथ। वे उसके प्रेम की पीर मे मस्त रहने ह। वे संघ मे 'इमाम' के पीछे खड़े होकर अल्लाह का नाम-स्मरण नही करते। वे अपने गुरु के बताए हुए मार्ग के अनुसार एकांतिक साधना करते हैं। इसी प्रकार वे जकात को उसके रुढ़ अर्थ मे न मानकर स्वयं सर्व-त्यागी होते हैं। उनमे अपने अल्लाह के प्रति आत्म-समर्पण की भावना होती है। वे जो कुछ करते है, अन्तः प्रेरणा से करते हैं। उनके लिए 'सौम' भी एक महीने के लिए न हो कर आजीवन के लिए होता है। हृदय की शुद्धता के लिए वे बराबर प्रयत्नशील रहते हैं। हज्ज का भी उनके लिए विशेष महत्व नही है। उनका अल्लाह उनके भीतर ही रहता है। तात्पर्य यह कि सलात, जकात, सौम और हज्ज का सूफी-साधना में एक विशेष अर्थ है। यही उनका कर्म-काण्ड अर्थात् 'शरीयत' है।

सूफी-साधना की चार अवस्थाएँ, मंज़िलें अथवा सीढ़ियॉ हैं : (१) शरीयत, (२) तरीकत, (३) मारफ़त और (४) हकीकत। शरीयत के नियमो का पालन कर सूफी 'तरीकत' की मंजिल पर आता है। इस मजिल पर उसे गुरु (मुरशिद) की आवश्यकता होती है। मुरशिद उसे तरीकत के रहस्यों का परिचय कराता है। वह अपने शिष्य (मुरीद) को चित्त-

वृत्तियो के निरोध (जेहाद) की शिक्षा देता है। इसमे सफल होने पर मुरीद मे मुआरिफ (प्रज्ञा) का जन्म होता है और फिर वह 'आरिफ' हो जाता है। आरिफ की स्थिति मे होने पर वह अल्लाह के वियोग मे तडपने लगता है। यह 'मारफत' की अवस्था है। 'मारफत' मे सफलता प्राप्त करना 'हकीकत' मे पहुँचना है। 'हकीकत' मे साधक का अल्लाह के साथ 'वस्ल' (मेल) है। जायसी ने इन्हीं को 'चारि बसेरे' कहा है। सूफी-साधना की इन अवस्थाओं पर यदि ध्यान से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि इन पर क्रमशः भारतीय कर्म-काण्ड, उपासना-काण्ड, ज्ञान-काड और भक्ति-काण्ड का प्रभाव है। जिस प्रकार भारतीय साधना मे नाम, जप, ध्यान और समाधि की व्यवस्था है ठीक उसी प्रकार सूफी-साधना मे भी 'जिक्र' अर्थात् तस्बीह (माला) हाथ मे लेकर नाम-स्मरण करना, 'फिक्र' अर्थात् अल्लाह का ध्यान करना, 'मराकबा' अर्थात् समाधि मे रहना और 'समाअ' अर्थात् कीर्तन उसके सहायक अग है। सूफी 'समाअ' (सगीतमय नाम-स्मरण) के प्रेमी होते हैं, पर इस्लाम सगीत का विरोधी है।

सूफी-साधना मे चार जगत माने गये है : (१) आल्मे नासूत (नर-लोक), (२) आल्मे मलकूत (देव-लोक), (३) आल्मे जबरूत (ऐश्वर्य-लोक) और (४) आल्मे लाहूत (माधुर्य-लोक)। 'कुरान' में इन लोको का उल्लेख नही है। उसके अनुसार अल्लाह सातवे आसमान पर रहता है, परन्तु सूफियो ने आलमे लाहूत मे उसकी प्रतिष्ठा की है। कालान्तर मे जब उनकी साधना का विकास हुआ और वे भारतीय साधना के सम्पर्क मे आये तब उन्होने अपने उन चार जगतो का क्रमशः जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति की अवस्था और तुरीयावस्था के अर्थ मे ग्रहण कर लिया। इन आन्तरिक्त जगतो (अवस्थाओ) मे यात्रा करते समय जो पड़ाव मिलते है उनकी भी सूफियो ने कल्पना की है। उनके अनुसार सात पडाव (मुकामात) हैं : (१) तोबा यानी पाप-कर्मो से प्रायश्चित, (२) फ़कद यानी अहभाव का नाश, (३) फ़ना यानी अपनी सत्ता का विस्मरण, (४) शुक्र यानी अल्लाह की कृपा, (५) बक़ा यानी अल्लाह मे स्थिति, (६) वज्द यानी ब्रह्मानन्द और (७) शह्व यानी पूर्ण शान्ति। जायसी ने इन्हीं की ओर लक्ष्य करके कहा है :—

'चारि बसेरे सौ चढ़ै, सत सौं उतरे पार ।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफी-साधना सर्वथा एकान्तिक साधना है। सूफी अपने और अपने अल्लाह के बीच अभिन्न सबध स्थापित करते है। उनका विश्वास है कि सृष्टि के पूर्व अल्लाह का प्रेम निर्विशेष भाव से अपने ऊपर था। इससे वह अपने को अकेले अपने ही आप व्यक्त करता था। फिर अपने उस एकान्त अद्वैत प्रेम को वाह्य विषय के रूप मे देखने की इच्छा से उसने शून्य से अपना एक प्रति रूप या प्रतिबिम्ब उत्पन्न किया जिसमे उसी के गुण थे। यही प्रतिरूप आदम कहलाया जिसमे और जिसके द्वारा 'अल्लाह' ने अपने आप को व्यक्त किया। अपनी इस धारणा के आधार पर सूफी परमात्मा को 'माशूक' और स्वयं को 'आशिक' मान कर मादन भाव से उसकी उपासना करते हैं। संक्षेप मे यही सूफी-साधना का रहस्य है। जायसी ने अपनी रचनाओ 'आखिरी कलाम' और 'अखरावट' में इस साधना के वाह्य एवं आन्तरिक, दोनों पक्षों पर गभीरता पूर्वक विचार किया है और इसके साथ ही अपने मत का प्रचार करने के उद्देश्य से भारतीय देवी-देवताओं को भी उनके भीतर समेट लिया है।

हिन्दी मे प्रेम-काव्य की परंपरा

भारतीय सूफी केवल एकान्त साधक ही नहीं, अपने मत के प्रचारक भी थे। अपने प्रचार के लिए उन्होंने मुख्यत· साहित्य को साधन बनाया। उस समय शिक्षित वर्ग की भाषा 'फारसी' थी और उर्दू का निर्माण हो रहा था। ऐसी स्थिति में सूफी न तो फारसी मे रचनाएँ कर सकते थे और न उर्दू मे। अपने मत को लोक-प्रिय बनाने के लिए उन्हें जन-भाषाओं की शरण लेनी पड़ी। जन-भाषाओ मे उस समय ब्रज और अवधी का ही मुख्य स्थान था। इनके अतिरिक्त फारसी, अरबी, तुर्की आदि के शब्दों के मेल-जोल से एक नवीन जन-भाषा भी तैयार हो रही थी जिसका केन्द्र दक्षिण भारत था। उस समय तक सूफी-सत दक्षिण में पहुँच चुके थे और उन्होने बहमनी राज्य (स० १४०४-१५८३) के अन्तर्गत अपने केन्द्र स्थापित कर लिये थे। वे जिस भाषा का प्रयोग करते थे उसे 'हिन्दवी' (दक्खिनी हिन्दी) कहते थे। हिन्दी खड़ीबोली का यही आदि रूप है। इसमे ही

दक्षिण के सूफी अपनी रचनाएँ करते थे। उत्तर भारत के सूफी 'अवधी' के प्रान्तों से विशेष सबधित होने के कारण 'अवधी' मे कविता करते थे। इसलिए हमे इस समय भारतीय भाषाओ मे जो सूफी-काव्य मिलता है वह मुख्यत. दो भाषाओ मे है : (१) हिन्दवी और (२) अवधी।

हिन्दवी के पहले कवि अमीर खुसरो (स० १३१०-८१) माने जाते हैं। वह सूफी थे। उनका अधिकांश सूफी-काव्य फारसी मे है। हिन्दवी में उन्होने जो कुछ लिखा है वह केवल मनोरजन के लिए। दक्षिण-भारत के सूफियो की हिन्दवी-रचनाएँ अवश्य प्रेम की पीर से ओत-प्रोत हैं। ऐसी रचनाएँ करनेवालों मे ख्वाजा बन्दानवाज सय्यद मुहम्मद गेसूदराज़ (सं० १३७७-१४६६), शमशुल उश्शाक शाह मीरांजी (मृ० सं० १५५३) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'हिन्दवी' मे होने के कारण उनकी रचनाएँ प्राणहीन है। यही कारण है कि हिन्दी के सूफी-काव्य मे उनका विशेष महत्त्व नही है।

अवधी का सूफी-काव्य हिन्दवी के सूफी-काव्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण, स्थायी एवं लोक-प्रिय है। इसमे प्रथम स्थान दिया जाता है, मुल्ला दाऊद-कृत 'चदायन' (स० १३७५) को। यह प्रेम-काव्य अब उपलब्ध नही है। जायसी ने अपनी रचना 'पदमावत' में (१) मुग्धावती, (२) मृगावती, (३) मधुमालती और (४) प्रेमावती का उल्लेख किया है। परन्तु इनमें से इस समय दो ही प्राप्य है : (१) मृगावती और (२) मधुमालती। 'मृगावती' के रचयिता चिश्तिया-सप्रदाय मे दीक्षित कुतबन है। इसका रचना-काल स० १५१८ है। इसमे कचनपुर की राजकुमारी मृगावती और चन्द्रगिरि के राजकुमार की प्रेम-कथा का वर्णन है। इसकी भाषा अवधी है। 'मधुमालती' के रचयिता मझन का समय अनिश्चित है। यह भी अवधी मे है और इसमे कनेसर के राजकुमार मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती का प्रेम-वर्णन है। 'मृगावती' की अपेक्षा यह उत्कृष्ट रचना है। इन दोनो के पश्चात् जायसी-कृत 'पदमावत' (स० १५६७) का स्थान है। इसमे चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहल द्वीप की राजकुमारी पदमावती का प्रेम-वर्णन है। यह अवधी का उत्कृष्ट महाकाव्य है। सूफी-

काव्य की परपरा यहीं समाप्त नही होती । वह उन्नीसवी शताब्दी के आरभ तक पाई जाती है । जायसी के पश्चात् इस परंपरा मे उसमान का नाम आता है । उनकी रचना है **'चित्रावली'** (स० १६७०) । इसमे नैपाल के राजकुमार सुजान कुमार और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली का प्रेम वर्णन है । अपनी इस रचना मे उसमान ने जायसी की रचना 'पदमावत' से पूरा लाभ उठाया है । मऊ (जौनपुर) निवासी शेख नबी-कृत **'ज्ञान दीप'** (सं० १६७६), दरियाबाद (बाराबकी)-निवासी कासिमशाह-कृत **'हंसजवाहर'** (सं० १७८८), आजमगढ-जौनपुर की सीमा पर स्थित सरबहद-निवासो नूर मुहम्मद-कृत **'इन्द्रावती'** (स० १८०१) और **'अनुराग बाँसुरी'** (सं० १८२१), फाजिलशाह-कृत **'प्रेमरतन'** (स० १८०५), शेख निसार-कृत **'युसुफ जुलेखा'** और ख्वाजा अहमद-कृत **'नूरजहाँ'** (स० १६६२) भी इसी परंपरा की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं । हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे इन रचनाओ को **'प्रेम-काव्य'** की संज्ञा दी गई है । इसलिए हम इन्हे **'सूफी-काव्य'** न कहकर 'प्रेम-काव्य' ही कह सकते है ।

सूफी-काव्य की विशेषताएँ

हिन्दी-प्रेम-काव्य को लोक प्रिय बनाने का श्रेय प्राप्त करते हुए भी सूफी उसके जनक नही है । हिन्दी में प्रेम-काव्य की परपरा उसके इतिहास के आरभ से ही मिलती है । चारण-काल मे नरपति नाल्ह-कृत **'वीसलदेव'** (सं० १२१२), ईश्वरदास-कृत **'सत्यवती की कथा'** (स० १५५८), गणपति-कृत **'माधवानल काम कन्दला'** (स० १५८४), जटमल नाहर-कृत **'प्रेम विलास प्रेमलता कथा'** (सं० १६१३), नन्ददास-कृत **'रूप मजरी'** (सं० १६२५), महाराज पृथ्वीराज-कृत **'बेलिक्रुस्न रुक्मिणी री'** (सं० १६३७), पुहकर कवि-कृत **'रसरतन'** (स० १६७५) आदि कुछ ऐसे प्रेम-काव्य हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि सूफियो ने उनसे बहुत कुछ सीखा और लिया है । फिर भी सूफी प्रेम-काव्य की अपनी विशेषताएँ है और उन विशेषताओ के कारण ही हिन्दी मे उनका अपना महत्वपूर्ण स्थान है ।

हिन्दी मे जिन हिन्दू-कवियो के प्रेम-काव्य मिलते हैं, वे साधक नहीं थे । उन्होने किसी धर्म-भावना से प्रेरित होकर रचनाएँ नही की । वे कोरे

कवि थे। उनका उद्देश्य था, अपने आश्रयदाताओ का मनोरंजन करना। इसलिए उन्होने अपने प्रेम-वर्णन मे आदि से अन्त तक लौकिक प्रेम का ही वर्णन किया। इसके विरुद्ध सूफी साधक थे। उनका हृदय ईश्वर-प्रेम से लबालब भरा हुआ था। वे स्वतत्र थे, किसी के आश्रय मे नही थे। इसलिए उन्होने धर्म-भावना से प्रेरित होकर स्वतत्र रूप से रचनाएँ कीं और उन रचनाओ-द्वारा अपने धार्मिक सिद्धान्तो का प्रचार करने के साथ-साथ आध्यात्मिक प्रेम का आदर्श भारत के कोने-कोने तक पहुँचाया। उनकी धर्म-भावना और उस धर्म-भावना के सिद्धान्त विदेशी थे, पर उन पर उन्होने भारतीय रग चढाया और भारतीय शैली एव भारतीय प्रेम-कथाओ के माध्यम से ही उन्हे व्यक्त किया। उन्होने अपनी कथाएँ अवधी मे ही लिखी और दोहा-चौपाइयो का ही प्रयोग किया। शैली की दृष्टि से उन्होने 'मसनवी' का आश्रय लिया और ईश्वर-वन्दना, मोहम्मद साहब की स्तुति तथा शाहे वक्त की प्रशंसा की, फिर आत्म-परिचय दिया और अपनी कथा को सर्गो मे विभाजित न कर उसे खडो मे विभाजित किया, पर ऋतु-वर्णन, बारह-मासा, समुद्र-वर्णन, विवाह-वर्णन, गढ़-वर्णन, युद्ध-वर्णन, नगर-वर्णन, नखशिख-वर्णन आदि अनेक बातो मे उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र के नियमो का ही अनुसरण किया। वे लौकिक प्रेम के गायक नहीं थे। उनका उद्देश्य था, इश्क मजाजी (लौकिक प्रेम) को इश्क हकीकी (आध्यात्मिक प्रेम) का रूप देना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति मे उन्होंने भारतीय प्रेम-पद्धति का अनुसरण नहीं किया। भारतीय प्रेम-पद्धति का आदर्श है—दाम्पत्य-प्रेम जिसमे पत्नी अपने पति के प्रति आत्मसमर्पण करती है। इस आदर्श के अनुसार भारतीय साधक अपने आपको पत्नी के रूप मे मानकर अपने साध्य (परमात्मा) की पति के रूप मे उपासना करते हैं। सूफी-साधना की प्रेम-पद्धति दाम्पत्य-भाव मे उत्प्रेरित नहीं है। उसका आदर्श है—आशिक-माशूक का प्रेम। इस आदर्श के अनुसार साध्य माशूक (प्रेमिका) है और साधक है आशिक (प्रेमी)। स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रेमादर्श में 'रूप' का मोह अधिक है। सूफी अपने अल्लाह के 'रूप' (जलाल) पर मोहित होकर ही उसके प्रेम (जमाल) मे सराबोर रहते है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफी-काव्य मे भारतीय एव फारसी काव्य-परपराओं का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ है। उसकी भाषा, उसकी छन्द-योजना, उसकी कथा-वस्तु, उसका वस्तु-निरूपण, उसका प्रकृति-चित्रण—सब भारतीय है, परन्तु उसकी आत्मा सूफी-सिद्धान्तो से ओत-प्रोत है। इसी प्रकार के समन्वय मे सूफी काव्य की लोक-प्रियता का रहस्य है।

प्रेम-काव्य मे 'पदमावत' का स्थान

हिन्दी के सूफी-काव्य मे जायसी-कृत 'पदमावत' का सर्वोच्च स्थान है। यह प्रेम-गाथा-परंपरा का महाकाव्य है और इसमे उन सब विशेषताओं का समावेश है जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। यहाँ हम साहित्यिक एवं आलोचनात्मक दृष्टि से उसकी अन्य विशेषताओं पर विचार करेंगे:—

(१) **पदमावतः एक महाकाव्य**—'पदमावत' अवधी का महाकाव्य है। इसका कथानक कुछ तो ऐतिहासिक है और कुछ लोक-प्रचलित। इन दोनों का सुन्दर समन्वय इस कथानक की विशेषता है। नाटक की पाँचो सधियाँ इसमे मिलती हैं। सम्पूर्ण कथा ७-८ सर्गों मे विभाजित न होकर ५७ खडो मे विभाजित है। प्रत्येक खड अपने विषय के अनुसार कही छोटा और कही बड़ा है। खडो म सबद्धता भी है। सपूर्ण कथानक का नायक है, रत्नसेन जो उच्चवशीय क्षत्रिय राजा है। उसमे धीरोदात्त नायक के सभी गुण पाए जाते हैं। इसी प्रकार उसकी नायिका सिहलद्वीप की राज-कुमारी पदमिनी है। दोनो इतिहास-प्रसिद्ध पात्र हैं। काव्य का नामकरण नायिका के नाम पर हुआ है। 'काम' इसका लक्ष्य है। रस की दृष्टि से 'पदमावत' शृंगार-प्रधान है। शृंगार के दोनो पक्षो, सयोग और वियोग, का इसमे सफल चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त इसमे वीर, वात्सल्य, करुण और वीभत्स रसो का भी वर्णन मिलता है। हास्य का अभाव है। शृंगार का अन्त शान्त रस मे होता है। अलंकारो मे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, रूपकातिशयोक्ति, अनुप्रास आदि को विशेष रूप से स्थान मिला है। छन्द दो ही प्रकार के हैं—दोहा और चौपाई। प्रत्येक खड के अन्त मे दोहा है जिससे आगे के खड मे आनेवाली कथा का आभास नही मिलता। प्रत्येक खड का नाम वर्णनीय कथा के अनुसार है। मसनवी-

शैला के अनुसार आरभ मे ईश्वर, पैगम्बर मुहम्मद साहब, गुरु तथा शाहे वक्त की स्तुति एवं प्रशसा है और आत्म-परिचय एवं मित्रो के गुण-कथन के बाद कथा का निर्देश है। प्रसगानुसार खलो की निन्दा और सज्जनो की प्रशंसा भी की गई है। सूरज, चाँद, दिन, रात, प्रातःकाल, शिकार, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, स्वर्ग, युद्ध, पकवान, विवाह आदि का वर्णन भी है। इस प्रकार 'पदमावत' मे महाकाव्य के सभी लक्षणों का सन्निवेश बड़ी सफलतापूर्वक हुआ है। साथ ही इसमे महाकवित्व भी पाया जाता है।

(२) **पदमावत का कथानक**—'पदमावत' एक दुखान्त महाकाव्य है, पर उसके कथानक मे नायक के सपूर्ण जीवन को महत्व नही दिया गया है। जायसी का उद्देश्य कोई कथा कहना अथवा कथा के माध्यम से किसी नैतिक, आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक आदर्श की स्थापना करना नही है। उनका उद्देश्य है, इश्क मजाजी (लौकिक प्रेम) को इश्क हक़ीकी (आध्यात्मिक प्रेम) की ओर ले जाना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने नायक और नायिका से सबध रखनेवाली उन्ही ऐतिहासिक एव लौकिक कथाओ को एक मे जोडा-गाँठा है जो उनके प्रेम-निरूपण मे सहायक है। इस प्रकार 'पदमावत' की कथा इतिवृत्तात्मक न होकर घटना-प्रधान एव रसात्मक है। विषय की दृष्टि से इस कथा के दो भाग हैं : (१) **पूर्वार्द्ध** और (२) **उत्तरार्द्ध**। प० चन्द्रबली पाडे के शब्दों मे 'पदमावत' का पूर्वार्द्ध कल्पना का परिणाम है और यह कल्पना हुई है साधना की दृष्टि से। यहाँ रत्नसेन राजा नहीं, साधक है। इसमे जो थोडा बहुत इतिहास है उस पर कवि का ध्यान नही है। कवि का ध्यान है, **'चारु बसेरे सौ चढै, सत सौ उतरे पार।'** परन्तु 'पदमावत' के उत्तरार्द्ध मे कवि का ध्यान इतिहास पर है। यह बात दूसरी है कि उसमे भी यत्र-तत्र कल्पना का पुट है जिसका कारण है अपनी साधना को ठीक करना।' इस प्रकार कथा-संगठन की दृष्टि से पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध, दोनो का अपना-अपना महत्व है। पूर्वार्द्ध की कथा 'रत्नसेन-संतति-खड'–३७ तक आकर समाप्त होती है। इसमे स्तुति खड-१, सिहल द्वीप-वर्णन-खड-२, नखशिख-खड-१०, रत्नसेन-साथी खड-२८, षट्ऋतु-वर्णन-खड'-२६ और रत्नसेन-

सतति-खड-३७ का कथा के प्रवाह से कोई सबध नही है। यदि उक्त छः खण्डा को निकाल दे तो पूर्वार्द्ध के शेष ३१ खडो मे ही कथा समाप्त हो जाती है जिसका 'फलागम' पदमावती की प्राप्ति है। शास्त्रीय दृष्टि से हम इसे आधिकारिक कथा कह सकते हैं। इसमे केवल एक ही रूपक है। यही समासोक्ति भी है। इनके आगे कथानक का उत्तरार्द्ध 'राघव-चेतन देस-निकाला खंड-३८' से आरभ होता है। इसमे भी 'स्त्री-भेद-वर्णन खण्ड'-४७ और 'बादशाह भोज-खंड'-४५ व्यर्थ हैं। शास्त्रीय दृष्टि से यह प्रासगिक कथानक है। जायसी ने इस कथानक मे दो कथाएँ एक साथ जोड़ी है : (१) अलाउद्दीन की कथा और (२) देवपाल की कथा। दोनो खल-पात्र हैं जो पदमिनी को पथ-भ्रष्ट करना चाहते हैं। इनकी चर्चा से आधिकारिक कथा की अनेक कठिनाइयाँ सुलझी है और उसके प्रवाह को बल मिला है।

प्रबन्ध-काव्य मे न तो इतिवृत्ति प्रधान होता है और न घटनाएँ। उसमे प्रधान होता है, मानव-जीवन के मर्मस्पर्शी स्थलों का चित्रण। 'पदमावत' में इसकी कमी नही है। नागमती का 'विरह-वर्णन' जायसी की हिन्दी को अनुपम देन है। रत्नसेन की सूली की कथा का चित्रण भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक और सफल है। इनके अतिरिक्त सयोग, वियोग, त्याग, वीरता, ममता, तप, जय, पराजय, छल, कपट, वैर, सहनशीलता, सज्जनता, राग, द्वेष आदि अनेक मनोभावो को जायसी ने परखा है और उन्हे कथा के माध्यम से चित्रित किया है। इन्हीं मनोभावो के चित्रण मे 'पदमावत' की प्रबन्धात्मकता एवं उसकी सफलता का रहस्य निहित है।

(३) **पदमावत की प्रेम-साधना**—'पदमावत' प्रेम की पीर पर आधारित दुखान्त महाकाव्य है। इसलिए इसमे वियोग-पक्ष प्रधान है और उसका प्रतिनिधित्व करती है, रत्नसेन की पत्नी, नागमती। नागमती के वियोग-वर्णन मे जायसी ने अपने हृदय की सारी शक्ति लगा दी है। वह स्वय वियोगी थे। वियोग की पीडा का उन्हे निजी अनुभव था। अपने उस अनुभव को उन्होने नागमती के माध्यम से व्यक्त किया है। यह है प्रेम की वह साधना जिसमे प्रेमी अकर्मण्य होकर मूक रुदन करता है, छटपटाता

है, तड़पता है और बेसुध रहता है। नागमती की प्रेम-साधना इसी प्रकार की है और यही भारतीय प्रेम-साधना है। फारसी प्रेम-पद्धति में पुरुष प्रेम का प्रतीक होता है। वह वियोग मे तड़पता है, आहे भरता है, पर यह सब करते हुए भी वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति मे सचेष्ट, प्रयत्नशील, ईमानदार और कर्मण्य रहता है। रत्नसेन, अलाउद्दीन और देवपाल तीनो इसी प्रकार के प्रेमी है। तीनो विवाहित हैं, पर तीन-के-तीनों पद्मावती के रूप-गुण की चर्चा सुनकर उस पर मुग्ध और सौजान से उस पर निछावर है। स्पष्ट है कि पद्मावती 'माशूक' है और तीनो उसके 'आशिक'। 'आशिक' और 'माशूक' के बीच उत्पन्न होनेवाला प्रेम ही अधा होता है। इस प्रकार के प्रेम में आशिक को उचित-अनुचित का ध्यान नही रहता। वह अपने माशूक का प्रेम प्राप्त करने के लिए हर तरह के उपाय करता है। रत्नसेन, अलाउद्दीन और देवपाल—तीनो के चरित्र में यह बात पाई जाती है, परन्तु फिर भी तीनो-एक दूसरे से भिन्न है।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि 'पद्मावत' में प्रेम-साधना के विविध रूप है। जायसी ने इन विविध प्रकार की प्रेम-साधनाओ के बीच ही रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम की अभिव्यंजना की है। आरम्भ मे रत्नसेन का प्रेम पद्मावती के 'गुण-श्रवण' पर आधारित है। पद्मावती के रूप-गुण की चर्चा सुनकर रत्नसेन का बिना सोचे-समझे योगी हो जाना यह सिद्ध करता है कि वह रूप-लोभी भी है। इसे हम आचार्य शुक्ल जी के शब्दो मे 'पूर्व राग' कह सकते हैं, 'प्रेम' नही। 'प्रेम' व्यक्ति-प्रधान होने के कारण विशेषोन्मुख होता है, पर 'पूर्वराग' रूप-गुण-प्रधान होने के कारण सामान्योन्मुख। तात्पर्य यह कि दो व्यक्तियो के बीच प्रेम का स्फुरण होने के लिए 'आँखेचार' होना चाहिए। रत्नसेन का 'रूप-लोभ' उस समय 'प्रेम' का रूप धारण करता है जब वह सिंहल-द्वीप के शिव-मन्दिर मे पद्मावती की झलक देखता है। पद्मावती झलक पाते ही संसार की सुन्दर-से-सुन्दर स्त्रियाँ, यहाँ तक कि पार्वती और लक्ष्मी भी, उसे अपनी ओर आकृष्ट करने मे सफल नही होती। इस प्रकार रत्नसेन का सामान्योन्मुख 'पूर्वराग' विशेषोन्मुख होकर प्रेम में परिणत हो जाता है। प्रेम की इस दशा मे लाने

तक जायसी ने रत्नसेन का जो चित्र उतारा है वह यद्यपि अस्वाभाविक-सा लगता है तथापि वह सूफी-साधना के सिद्धान्त से समर्थित और पुष्ट है। सूफी-साधना के अनुसार गुरु (सुआ) साधक मे परमात्मा के प्रति लगन उत्पन्न कर देता है। साधक (रत्नसेन) अपने प्रयत्नो द्वारा इस लगन को तीव्रतर करता है और अन्त मे परमात्मा का जमाल प्राप्त कर शान्त हो जाता है। अपने इस उद्देश्य मे जायसी सफल हैं।

अब पद्मावती की प्रेम-साधना पर विचार कीजिए। वह सिंहल द्वीप की राजकुमारी है। उसके लिए वर की खोज मे सुआ निकला है। वह अभी लौटकर नहीं आया है। रत्नसेन सिंहलद्वीप अवश्य पहुँच गया है, पर इसकी सूचना पद्मावती को नही है। वह रत्नसेन के विषय मे कुछ भी नहीं जानती, फिर भी वह व्याकुल है। किसके लिये? —यह वह स्वय नही जानती। ऐसी स्थिति मे उसकी व्याकुलता आचार्य शुक्लजी के शब्दो मे 'काम-पीड़ा' ही कही जायगी, पर 'दिल को दिल से राह है' कहावत के अनुसार उसकी व्याकुलता का एक कारण रत्नसेन का योग भी हो सकता है। जायसी ने इसी कारण को महत्व देकर उसे **'परी प्रेम-बस गहे वियोगा'** कहा है। पर 'वियोगिनी' वह है नही। काम-पीड़ित अवश्य है। उसकी धाय उसे समझाती-बुझाती है, पर उसकी काम-पीड़ा शान्त नही होती। इसी बीच 'सुआ' आकर उसके प्रेम मे रत्नसेन के जोगी होने का संवाद देता है। इस सवाद से उसका सोया अभिमान जाग उठता है। कहाँ वह एक राजकुमारी और कहाँ एक योगी! परन्तु सुआ जब उसके रूप-गुण, उसकी प्रेम-व्यथा और उसके तप की प्रशंसा करता है तब वह पिघल जाती है। यही से रत्नसेन के प्रति उसके हृदय मे प्रेम का उफान उठता है जो अन्त मे विवाहित प्रेम मे परिणत हो जाता है। विवाह होने के पश्चात् आचार्य शुक्लजी के शब्दों मे उसका प्रेम दो अवसरो पर अपना बल दिखाता है: (१) रत्नसेन के दिल्ली मे बन्दी होने पर और (२) युद्ध मे राजा के वीरगति प्राप्त करने पर। रत्नसेन के बन्दी होने पर कुम्भलनेर के राजा देवपाल और दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन की दूतियाँ उसे पथ-भ्रष्ट करने के लिए आती हैं, पर वह उनकी बातो पर ध्यान नही देती। वह

क्षुब्ध है, पर साथ ही कर्मण्य भी है। वह गोरा और बादल से अपने पति के उद्धार की प्रार्थना करती है। गोरा और बादल के प्रयत्न से रत्नसेन मुक्त होकर चित्तौड़ आते है। चित्तौड़ आने पर जब वह देवपाल की दूती का कुचक्र सुनते हैं तब वह देवपाल से युद्ध करते हैं। इस युद्ध का अन्त होता है, दोनों की वीरगति मे। इस अवसर पर पद्मावत एक क्षत्राणी की भॉति जौहर करती है। पत्नी होने के अतिरिक्त वह माता और नागमती की सपत्नी भी है। जायसी ने उसके व्यक्तित्त्व मे उक्त तीनो रूपो के गुण-दोषो का समन्वय किया है।

अलाउद्दीन और देवपाल का प्रेम कपटियो का प्रेम है। वे केवल विलासी हैं। उनके प्रेम मे तड़पन और वेदना का अभाव है। वे एक विवाहिता के प्रति लोक-विरुद्ध, असमाजिक, अन्यायपूर्ण और कटु व्यवहार करते है। राघवचेतन के मुख से पद्मावती के रूप-गुण का बखान सुनकर अलाउद्दीन पद्मावती को प्राप्त करने के लिए पहले तो रत्नसेन के पास पत्र भेजता है, परन्तु जब रत्नसेन उसकी धमकी मे नही आता तब वह उस पर चढ़ाई कर देता है। उसके अत्याचार का यही अन्त नहीं होता। वह राजा रत्नसेन के साथ कपटपूर्ण सधि करता है, दर्पण मे पद्मावती के रूप की झॉकी देखता है, रत्नसेन को बन्दी बनाता है और पद्मावती को फुसलाने के लिए दूती भेजता है। इस प्रकार वह साम, दाम, दड, भेद—सबसे काम लेने पर भी विफल होता है। देवपाल उससे कुछ भिन्न पात्र है। वह रत्नसेन का पुराना शत्रु है। रत्नसेन के बन्दी बनाए जाने पर उसे अपनी शत्रुता साधने का अवसर मिलता है। वह भी पद्मावती के रूप-गुण पर मुग्ध होकर अपनी दूती भेजता है, पर इस कार्य मे विफल होने पर वह चित्तौड़ पर आक्रमण नहीं करता। उस पर आक्रमण करता है दिल्ली से मुक्त होने के पश्चात् रत्नसेन ही। इसी युद्ध मे दोनो को वीरगति प्राप्त होती है। इस समाचार से अलाउद्दीन के हृदय मे पद्मावती को प्राप्त करने के लिए पुनः आशा का उदय होता है और वह चित्तौड़ पर चढ़ाई करता है। इस बार उसकी विजय होती है, परन्तु पद्मावती के स्थान पर उसे मिलती है उसकी राख। भौतिक प्रेम का अन्त इसी प्रकार होता है। देवपाल अपनी जान से

जाता है और अलाउद्दीन विजयी होकर भी परास्त है। जायसी ने अलाउद्दीन के मुख से 'पिरथिमी झूठी' कहलाकर इसी तथ्य की ओर सकेत किया है।

'पद्मावत' की प्रेम-साधना के उक्त विवरण से ज्ञात होगा कि उसमे जायसी ने फारसी और भारतीय प्रेम-पद्धतियो का समन्वय बड़े कौशल से किया है। फारसी प्रेम-पद्धति 'लोक-बाह्य एवं आदर्शात्मक' होती है और भारतीय प्रेम-पद्धति 'लोक-सबद्ध एवं व्यावहारिक'। रत्नसेन और पद्मावती मे जब तक परस्पर मिलन नही होता तब तक उनकी प्रेम-साधना फारसी-पद्धति के अन्तर्गत आती है, परन्तु जब वे विवाह-सूत्र में बँध जाते हैं तब दोनो के प्रेम की तीव्रता समान होकर भारतीय प्रेम-पद्धति का अनुसरण करती है। इसके अतिरिक्त उसकी एक विशेषता और है। यद्यपि उसमे 'मादन भाव' को ही अधिक महत्त्व दिया गया तथापि वह 'लोक-पक्ष-शून्य' नही है। माता की ममता, पत्नी की विरह-वेदना, विवाहोत्सव, कन्या की विदाई के समय परिजनों और सहेलियो का सहज मोह, अन्तःपुर के रस-रंग, सपत्नियों के झगड़े, सन्तानोत्पत्ति, ज्योतिषियों की भविष्य-वाणी, दूतियो के छल-कपट पूर्ण व्यवहार, बहुपत्नीत्व-प्रथा आदि पारिवारिक जीवन से संबंध रखनेवाली अनेक ऐसी बातें हैं जिनके समावेश से 'पदमावत' लोकोपयोगी महाकाव्य बन गया है।

(४) पदमावत : एक शृङ्गार रस-प्रधान काव्य—आदि से अन्त तक 'रति' की प्रधानता के कारण 'पदमावत' एक शृङ्गार रस-प्रधान महाकाव्य है। इसमें शृङ्गार के दोनो पक्षो—संयोग और वियोग—के मनोरम चित्र उतारे गये हैं। परन्तु इन दोनों प्रकार के चित्रों में वियोग-पक्ष की ही प्रधानता है। संपूर्ण महाकाव्य के ५७ खंडो मे से **१५** खंड वियोग-चित्रण मे ही लगाए गए हैं। वियोग-चित्रण भी अत्यन्त मार्मिक हैं। इस पक्ष का प्रतिनिधित्व करनेवाले तीन पात्र है : (१) नागमती, (२) रत्नसेन और (३) पद्मावती। नागमती का वियोग एकांगी है और रत्नसेन तथा पद्मावती का उभयपक्षी। नागमती हिन्दू-नारी का आदर्श है। जायसी ने उसको तीन रूपो में हमारे सामने प्रस्तुत किया है : (१) रूप-गर्विता, (२) प्रेम-गर्विता और (३) प्रवस्यत्पतिका अर्थात् ऐसी पत्नी जिसका पति विदेश जा रहा हो। नागमती

अपने इन सभी रूपों मे महान है। वह सच्ची वियोगिनी है। वियोग से प्रेम मे जो ऊफान आता है, जो तीव्रता आती है उससे वह अभिभूत है। जायसी ने एक घायल की भाँति ही उसके घायल हृदय को हमारे सामने उद्घाटित किया है। अपनी इस कला मे उन्होने दो शैलियों से काम लिया है : (१) फारसी शैली और (२) भारतीय शैली। फारसी शैली के अन्तर्गत वियोग-वर्णन ऊहात्मक होता है। ऊहात्मक-शैली में अत्युक्ति अथवा अतिशयोक्ति का सहारा लिया जाता है। ऐसी दशा मे वह परिमाण-निर्देशक बन जाता है और हो जाता है अस्वाभाविक, नीरस और हास्यास्पद। नागमती के विरह-ताप का ऊहात्मक वर्णन इन पक्तियो मे देखिए :—

'जेहि पंखी के निअर होई, कहै बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होहिं निपात ॥'

परन्तु विरह-वर्णन की इस शैली का अनुसरण जायसी ने यत्र-तत्र ही किया है। उन्होने मुख्यतः भारतीय शैली से प्रभावित संवेदन-प्रधान शैली को ही अपनाया है। इस शैली के अन्तर्गत उन्होंने उत्प्रेक्षा अलकार की सहायता से वियोग के मानसिक पक्ष को उद्घाटित करने की सफल चेष्टा की है। ऊहात्मक यह भी है, पर सवेदन-प्रधान होने के कारण हास्यास्पद होने से बच गया है और मार्मिक हो उठा है :—

'जरत बजागिनि करु पिउ छाहाँ। आइ बुझाउ अंगारन माहाँ।
लागिउँ जरै, जरै जस भारु। फिरि-फिरि भूँजेसि, तजिउँ न बारु ॥'

फारसी-शैली से प्रभावित विरह-ताप का यह वीभत्स चित्र भी देखिए :—

'विरह-सरागिन्ह भूंजै माँसू। गिरि-गिरि परै रकत कै आँसू।
कटि-कटि माँसु सराग पिरोवा। रकत कै आँसु माँसु सब रोवा ॥'

खैरियत यही है कि ऐसे वीभत्स चित्र एकाध ही है। जायसी ने प्रायः भारतीय काव्य-शास्त्र-द्वारा स्वीकृत भावों को ही अपने वियोग-वर्णन मे प्रधानता दी है। शास्त्र की परम्परा के अनुसार जायसी ने वियोग की प्रायः समदशाओ—कृशता, ताप, वेदना, उन्माद, मूर्छा आदि के चित्र बड़ी सफलतापूर्वक उतारे है। इन चित्रों में नागमती का 'रानीपन' नहीं है। इसलिए उसके वियोग के चित्र अत्यन्त विशद, व्यापक और चुटीले हैं।

वियोग-वर्णन की इस दृष्टि से जायसी का 'बारहमासा' हिन्दी के ही नही, विश्व के विरह-काव्य मे बेजोड़ है। नागमती बारह महीने तक बराबर विलाप करती है और उसके विलाप से प्रभावित होकर सारी प्रकृति भी विलाप करती है :—

'तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू बूडि उठे होई राते॥
राते बिब भेजि तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहूँ॥'

नागमती के विरह-ताप का इतना व्यापक प्रभाव अनुभव करके आधी रात के समय उससे एक पक्षी पूछ उठता है :—

'तू फिरि-फिरि दाहै सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी॥'

डूबते को एक तिनके का सहारा काफी होता है। नागमती को रोते-धोते एक वर्ष बीत गया, परन्तु 'कोइ नहि डोला', मौन विलाप सब करते रहे। ऐसी स्थिति मे पक्षी का सहानुभूतिपूर्ण प्रश्न सुनकर उसके उत्तर मे उसने जो कुछ कहा वह अत्यन्त मर्मस्पर्शी है :—

'चारिउ चक्र उजार भए, कोइ न संदेसा टेक।
कहौ विरह-दुख आपन, बैठि सुनह दंड एक॥'

× × ×

'हाड भए सब किंगरी, नसें भई सब ताँति।
रोवँ-रोवँ ते धुनि उठै, कहौ बिथा केहि भाँति॥'

नागमती पक्षी से अपनी ही विरह-वेदना का वर्णन नहीं करती, वह उससे रत्नसेन की माता की ममता का वर्णन भी करती है। इस प्रकार वह अपने विरह-वर्णन में भी उदार है। पत्नी के प्रति ईर्ष्या-भाव भी उसमें है और इससे उसका विरह-ताप और भी तीव्र हो उठा है, परन्तु इस स्थिति में भी वह अपनी उदारता एवं आत्मत्याग का ही परिचय देती है :—

'मोहिं भोग सौं काज न बारी। सौंह दीठ कै चाहन हारी'

× × ×

'सवतिन होसि तू बैरिन मोर कन्त जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पायँ मोर माथ॥'

इस प्रकार नागमती का विरह-वर्णन विप्रलभ शृंगार का अद्भुत

उदाहरण है। उसमे जो वेदना, जो कसक और जो टीस है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कहने के लिए जायसी ने रत्नसेन और पद्मावती के उभय पक्षी विरह का भी वर्णन किया है, पर वह नागमती के विरह-वर्णन के आगे फीका लगता है।

अब 'पदमावत' के सयोग-शृङ्गार पर विचार कीजिए। संयोग-शृङ्गार के वर्णन में जायसी को वह सफलता नही मिली है जो वियोग-वर्णन मे मिली है। वियोग में प्रेम की तडपन है और संयोग में उस तडपन की शान्ति। तड़पन के प्रति हमारी सहज सहानुभूति होती है, हम उससे प्रभावित होकर रोते-विलखते हैं और इस प्रकार हम वियोगी अथवा विरहिणी के साथ शीघ्र चिर सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। परन्तु जब उनका वियोग संयोग का रूप धारण कर लेता है तब हमें उनके प्रति सहानुभूति नही रह जाती, हम दर्शक-मात्र बन जाते हैं। रत्नसेन और पद्मावती के सयोग के संबध में भी यही बात कही जा सकती है। उनका सयोग-वर्णन कवि-परम्परा का पालन मात्र है। उसमे न तो हावो (नायक को लुभानेवाली नायिका की स्वाभाविक चेष्टाएँ) का समुचित विधान है और न नायक-नायिका के मानसिक पक्षो का। जहाँ कही नायक-नायिका के बीच हास्य-विनोद का विधान हुआ भी है वहाँ जायसी की पाण्डित्य-प्रदर्शन (रसायनिकों की परिभाषाएं) की लालसा ने उसे दबा दिया है। इसी प्रकार 'सोलह शृङ्गार' और 'बारह आभरण' के वर्णन, रत्नसेन का अपने बारे मे व्याख्यान तथा पद्मावती-द्वारा प्रेमिका की व्याख्या आदि भी रस-परिपाक मे बाधा डालते हैं। इन कतिपय दोषो की ओर सकेत करने का तात्पर्य यह नही है कि जायसी का संयोग-वर्णन आदि से अत तक रसहीन है। वह है रस-युक्त, पर उसमें जायसी की कवि-वृत्ति अधिक नही रमी है। सयोग-वर्णन मे जायसी ने 'पद्मावती' को दो रूपो में प्रस्तुत किया है : (१) नवोढ़ा और (२) प्रौढ़ा। विवाह के पश्चात् प्रिय-समागम के पूर्व उसका जो रूप है वह एक नवोढ़ा का रूप है:—

'अनचिन्ह पिउ, कापौं मन माहाँ। का मैं कहब, गहब जौ बाहाँ॥
बारि बैस गइ, प्रीति न जानी। तरुनि भई मैमंत भुलानी॥

जोबन-गरब न मैं किछु चेता । नेह न जानौं, साँव कि सेता ।।
अब सो कंत जो पूछिहि बाता । कस मुख होइहि पीत कि राता ।।
हौं बारी औ दुलहिन, पीउ तरुन सह तेज ।
ना जानौ कस होइहि, चढत कंत के सेज ।।'

नवोढा के रूप मे पद्मावती का भय अत्यन्त स्वाभाविक है, परन्तु फिर भी उसकी सखियाँ उसे 'कत' के पास जाने के लिए प्रोत्साहित करती हैं :—

'सुनु धनि ! डर हिरदय तब ताईं । जौ लगि रहसि मिलै नहिं साईं ।।'

× × ×

'साजन लेइ पठावा, आयसु जाइ न मेट ।
तन, मन, जोबन साजि कै, देइ चली लेइ भेंट ।।'

और फिर उसके चलते ही :—

'पदमिनि-गवन हंस गए दूरी । कुंजर लाज मेल सिर धूरी ।।
बदन देखि घटि चाँद छपाना । दसन देखि कै बीज लजाना ।।
खंजन छपे देखि कै नैना । कोकिल छपी सुनत मृदु बैना ।।'

उसके व्यक्तित्व मे संसार भर का सौंदर्य एकत्र कर दिया गया है। जायसी का यह वर्णन आकर्षक होते हुए भी हमे उनकी किसी नवीन कल्पना की ओर उन्मुख नहीं करता। सुहाग रात के अवसर का जो चित्र उन्होंने उतारा है उसमे कही-कही अश्लीलता आ गई है, पर वह है भावात्मक। रत्नसेन प्रेम की सुरा पीकर मतवाला है और कहता है :—

'सुनु धनि ! प्रेम-सुरा के लिए। मरन-जियन डर रहै न हिए ।।
रातहु दिवस रहै रस-भीजा। लाभ न देख, न देखै छीजा ।।'

जायसी ने इस प्रसंग मे रूढ़ि के अनुसार षट्-ऋतु-वर्णन भी किया है । पद्मावती के 'पीउ' उसके पास हैं, इसलिए उसे प्रत्येक ऋतु सुहावनी लगती है। जायसी ने प्रकृति को स्वतत्र रूप मे न देखकर उसे मनुष्य के आनन्द अथवा दुःख के रग मे रंगी हुई देखा है। जो प्रकृति 'बारहमासा' में नागमती के साथ रोती-बिलखाती है वही प्रकृति षट्-ऋतु मे पद्मावती के साथ आनन्द मनाती है। जायसी के वियोग एवं संयोग-शृङ्गार-वर्णन की यही विशेषता है।

(५) **पदमावत : एक समासोक्ति**—पदमावत एक प्रेम-काव्य है। प्रेम के मुख्यत: दो रूप हैं : (१) लौकिक प्रेम और (२) आध्यात्मिक प्रेम। लौकिक प्रेम पार्थिव होता है और आध्यात्मिक प्रेम ईश्वरोन्मुख। हिन्दी के बहुत से कवियों ने अपनी-अपनी रचनाओ मे लौकिक प्रेम का ही चित्रांकन किया है। परन्तु आचार्य शुक्लजी के शब्दो मे 'एक प्रबन्ध के भीतर प्रेम भाव का ऐसा उत्कर्ष जो पार्थिव प्रतिबन्धों से परे होकर आध्यात्मिक क्षेत्र मे दिखाई पडे, जायसी का मुख्य लक्ष्य है।' पूछा जा सकता है कि जायसी ने 'पदमावत' मे अपने इस लक्ष्य की पूर्ति किस प्रकार की है? इस प्रश्न का उत्तर जायसी ने स्वय देने की चेष्टा की है। 'पदमावत' के अत मे उन्होने लिखा है :—

> **'तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥**
> **गुरू सुआ जेह पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥**
> **नागमती यह दुनियाँ-धंधा। बाँचा सोइ, न एहि चित बंधा॥**
> **राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलादीन सुलतानू॥**
> **प्रेम-कथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥'**

जायसी के उक्त कथन का मतलब है :—

(१) **चित्तौड** = तन अर्थात् शरीर
(२) **रत्नसेन** = मन अर्थात् अक्ल
(३) **हीरामन** = गुरू अर्थात् मुरशिद
(४) **हिंहलद्वीप** = हृदय अर्थात् क़ल्ब
(५) **पद्मिनी** = सहज बुद्धि अर्थात् मुआरिफ
(६) **नागमती** = दुनिया-धंधा अर्थात् नफ्स
(७) **अलाउद्दीन** = माया अर्थात् ऐश्वर्य
(८) **राघवचेतन** = शैतान अर्थात् इबलीस

उक्त सकेतो के आधार पर यह प्रश्न उठाया जाता है कि 'पदमावत' अन्योक्ति है अथवा समासोक्ति? काव्य-शास्त्र के अनुसार अन्योक्ति मे व्यंगार्थ की मुख्यता होती है और उसमे प्रस्तुत की व्यजना के लिए

अप्रस्तुत का विधान किया जाता है। दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ इसी परिभाषा के अनुकूल है। 'पदमावत' से भी एक उदाहरण लीजिए :—

'कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाय।
अबहुँ बेलि फिर पलुहै, जो पिय सींचै आय॥'

यह नागमती की युक्ति है। स्पष्ट है कि यहाँ जल-कमल का प्रसंग प्रस्तुत नहीं है, प्रस्तुत है विरहिणी की दशा। इसलिए यहाँ अन्योक्ति है। ऐसी ही अन्योक्तियाँ 'पदमावत' में और भी मिल सकती है। परन्तु इनके आधार पर हम उसकी सपूर्ण कथा को अन्योक्ति नही कह सकते। संपूर्ण कथा मे प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत की व्यंजना की गई है। उसमें प्रस्तुत है लौकिक कथा और अप्रस्तुत है उस लौकिक कथा-द्वारा अभिव्यंजित है, आध्यात्मिक प्रेम। इसलिए पदमावत अन्योक्ति न होकर एक समासोक्ति है।

(६) **पदमावत की साधना-पद्धति**—'पदमावत' एक ऐसे सूफी की रचना है जिसे हम बाशरा सूफी कह सकते हैं। बाशरा सूफियो से हमारा तात्पर्य उन सूफियो से है जो अपनी धर्म-पुस्तको मे विश्वास करते थे। जायसी भी ऐसे ही सूफी थे। उन्होने 'पदमावत' मे सूफी-साधना को ही महत्व दिया। पर इसके साथ ही वह 'हठयोग' की साधना मे भी आस्था रखते थे। उनका विश्वास था कि चित्त-वृत्ति-निरोध के लिए 'हठयोग' आवश्यक है, पर परम ज्ञान की प्राप्ति के लिए नही। जहाँ तक 'काया-गढ' का भेदन और इन्द्रियो का शम-दम-द्वारा नियमन है, वहाँ तक उनका योग-मतवाद से विरोध नहीं था। योगियो की भाँति वह भी अंतः साधना पर बल देते थे और काया (पिण्ड) के भीतर ब्रह्म (ब्रह्माण्ड) को खोजते थे, पर वह थे प्रेम के उपासक सूफी ही, भारतीय-योगी नही। एक प्रकार से उन्होने अपनी साधना मे योग-मतवाद और सूफी-मतवाद का समन्वय किया था।

जायसी जहाँ 'प्रेम' को 'जोग' से ऊँचा समझते थे वहाँ वह 'वेद' (धर्म-पुस्तक) को भी 'नाद' से अधिक महत्व देते थे। उनकी दृष्टि मे 'नाद' को भी स्थान प्राप्त था और 'वेद' को भी। 'नाद' को वह उन्माद के लिए और 'वेद' को वह अंकुश के लिए उपयुक्त एव आवश्यक मानते थे। पं० चन्द्रबली पाडे के अनुसार 'पदमावत' और कुछ नहीं, इसी 'नाद' और

इसी 'वेद' का समन्वय है। उसका पूर्वाद्ध 'नाद' है, उत्तरार्द्ध 'वेद' है। सूफियो का 'वेद' उन्हे बताता है :—

'विधना के मारग है तेते। सरग नखत तन-रोआँ जेते ॥

परन्तु उन सभी मार्गों मे से जायसी ने जो मार्ग अपनाया है वह यह है :—

'साँची राह सरीअत, जेहि विसवास न होइ।
पाँव राखि तेहि सीढी, निभरम पहुँचै सोइ ॥'

× × ×

'सो बड पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कबिलास बसेरा ॥
लिखि पुरान बिधि पठवा साँचा। भा परवाँन, द्ववौ जग बाँचा ॥'

× × ×

'वह मारग जो पावै, सो पहुँचै भव पार।
जो भूला होइ अनतहि, तेहि लूटा बटमार ॥'

स्पष्ट है कि जायसी सभी पथो को उदारता एव सम दृष्टि से नही देखते थे। फिर भी उन्होने हठयोग को अपनाया। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि उसमें उनकी आस्था थी और दूसरा यह कि वह उनके प्रचार का माध्यम हो सकता था। उनके समय मे चारो ओर योगियो की ही धूम थी। इसलिए वह अपने प्रचार-कार्य मे उनकी उपेक्षा नही कर सकते थे। यही कारण है कि उन्होने 'पदमावत' मे इसका विधान किया और पद्मिनी को 'चाँद' के रूप मे अकित कर उससे यह कहलाया—

'हौ रानी पदमावती सात सरग पर बास ॥
हाथ चढौं मैं तिहि के प्रथम करै अपनास ॥'

इस कथन का साधारण अर्थ यही है कि जो अपने नफ्स (इच्छाओ) का 'अपनास' (दमन) करता है, सात सरग (सूफी मत के सात खंड) पर निवास करनेवाली पदमावती (चाँद) उसी को प्राप्त होती हैं। यही तक जायसी हठयोग का समर्थन करते हैं, इसके आगे नही। इसके आगे जो कुछ है वह है 'प्रेम की पीर' का चमत्कार। कहने का तात्पर्य यह कि 'अपनास' द्वारा प्रियतम की प्राप्ति होती है और प्रेम-द्वारा उसके साथ चिर मिलन।

जायसी ने इन्हीं दोनों का समन्वय कर 'पदमावत' में समासोक्ति का विधान किया है। उसके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि साधना के मार्ग में दो बाधाएँ हैं : (१) अक्ल या मन (रत्नसेन) और (२) नफ्स या दुनिया-धंधा (नागमती)। चितौड़ रूपी तन में ही इन दोनों की स्थिति है। फलतः मन (रत्नसेन) दुनिया-धंधा (नागमती) में लीन रहता है। सूफी-साधना की दृष्टि से मन (रत्नसेन) का दुनिया-धंधा (नागमती) की ओर से विमुख होना आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति होती है तब जब मन (रत्नसेन) को मुरशिद कामिल अर्थात् गुरु (हीरामन तोता) मिल जाता है। मुरशिद कामिल मन (रत्नसेन) को हृदय, कल्ब या रुह में स्थित मुआरिफ़ अर्थात् प्रज्ञा (पद्मिनी) की प्राप्ति की ओर उन्मुख कर देता है। नफ्स (नागमती) की अपेक्षा (पद्मिनी) अधिक आकर्षक है। मन (रत्नसेन) जब उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है तब नफ़्स (नागमती) से उसका साथ छूट जाता है। मन (रत्नसेन) के प्रयत्नशील होने की अवस्था में मुरशिद (हीरामन) के साथ-साथ शैतान (राघवचेतन) भी उसे (मन को) पथ-भ्रष्ट करने के लिए रहता है, पर मुरशिद (हीरामन) के प्रभाव के कारण वह विवश रहता है। यदि मुरशिद के मार्ग-निर्देशन के अनुसार मन (रत्नसेन) बराबर अपने लक्ष्य (प्रज्ञा की प्राप्ति) की ओर बढ़ता रहता है तब वह अन्त में सफल होता है। उसे यहाँ तक पहुँचने के लिए ही गुरु की आवश्यकता है। इसके आगे अपने आप को पूर्ण बनाना उसका काम है, हकीकत की मंज़िल पर पहुँचना उसके बस की बात है। यदि यह न हो सका तो उसका पतन अवश्यभावी है। रत्नसेन (मन) पद्मिनी (प्रज्ञा) को प्राप्तकर विभूतियों के चक्कर में पड़ जाता है। 'पदमावत' में रत्नसेन विदाई-खंड-३३ और देश-यात्रा-खंड-३४ का आयोजन इसी दृष्टि से हुआ है। लक्ष्मी-समुद्र-खंड-३५ में रत्नसेन (मन) और पद्मिनी (प्रज्ञा) के बीच वियोग दिखा कर जायसी ने यह बताने की चेष्टा की है कि प्रज्ञा-द्वारा ही मन का उद्धार होता है। चितौड़ पहुँचने पर जब नागमती (नफ्स) और पद्मिनी (प्रज्ञा) के बीच वाद-विवाद होता है तब रत्नसेन (मन) दोनों में समन्वय स्थापित करता है। इस योजना-द्वारा जायसी यह बताना चाहते हैं कि

साधना मे लोक और पर-लोक दोनो का समन्वय होना चाहिए, किसी की उपेक्षा नही। रत्नसेन (मन) यह जानते हुए भी चित्त-वृत्ति निरोध को त्याग कर चित्त-वृत्ति-विलास मे मग्न हो जाता है। राघव-चेतन को निकाल देना उसका चित्त-वृत्ति-विलास ही है। उसका यही चित्त-वृत्ति-विलास 'प्रज्ञा' से उसका वियोग कराता है। प्रज्ञा पुनः उसका उद्धार करती है, परन्तु वह फिर चित्त-वृत्ति-विलास मे पड़ता है और इसका परिणाम होता है, देवपाल से उसका युद्ध। 'पदमावत' का उत्तरार्द्ध इसी प्रकार के सघर्षों का आख्यान है। क्यो? इसलिए कि रत्नसेन (मन) नागमती (नफ्स) और पद्मावती (प्रज्ञा) मे समन्वय नही कर पाता। वह रह रह कर चित्त-वृत्ति-विलास मे पड जाता है। तन (चितौड़) मे मन (रत्नसेन) की इस प्रकार की स्थिति से उसकी मुक्ति नही हो सकती। इसलिए जायसी ने पदमावत के अन्त मे नफ्स (नागमती), प्रज्ञा (पदमावती) और मन (रत्नसेन) तीनो को एक मे मिलाकर अपनी साधना का आदर्श स्थापित किया है।

(७) **पदमावत का काव्य-पक्ष**—हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यो मे तुलसी-कृत 'रामचरित मानस' के पश्चात् 'पदमावत' का द्वितीय स्थान है। 'पदमावत' एक घटना-प्रधान महाकाव्य है। उसके कथानक के सगठन में जिन-जिन घटनाओ का समावेश किया गया है उनके वर्णन मे काव्य के तीनो तत्व : (१) बुद्धि-तत्व, (२) भावना-तत्व और (३) कल्पना-तत्व मिलते है। **बुद्धि-तत्व** की दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि जायसी का संपूर्ण 'पदमावत' उनके बुद्धि-विलास एव चिन्तन का ही परिणाम है। यदि उसमे एक ओर कल्पना और यथार्थ का समन्वय है तो दूसरी ओर दो साधनाओ और दो संस्कृतियो का। जायसी ने इसी प्रकार के समन्वय मे अपनी बुद्धि का कौशल दिखाया है। **भावना-तत्व** की दृष्टि से तो वह हिन्दी का अद्भुत काव्य है। संयोग, वियोग, करुण, वात्सल्य, वीर, इन सब की जायसी ने उसमे योजना की है और बहुत ही सुन्दर ढंग से इन का निर्वाह किया है। वियोग-शृंगार में उनका 'बारहमासा' हिन्दी काव्य का प्राण है। उसमे विरहिणी की टीस है, विरहिणी की वेदना है, विरहिणी की कसक है। उसका प्रत्येक शब्द वियोगनी का एक ऐसा स्फुलिग है

जो अपना ताप से मानव और प्रकृति दोनो को समान रूप से उत्तप्त कर देता है। नागमती की मानसिक दशा का चित्र इन पंक्तियो में देखिए:—

'सखि झूमक गाँवै अंग मोरी। हौ झुराँव, बिछुरी मोरि जोरी॥'

× × ×

'अबहूँ मया-दिस्टि करि, नाह निठुर घर आउ।
मंदिर उजार होत है, नव कै आइ बसाउ॥'

जायसी ने सतीत्व पर मर मिटनेवाली हिन्दू-नारी के हृदय को अच्छी तरह पहचाना है और उसकी पूत भावनाओ को बड़ी सुन्दरता से अंकित किया है। यही कारण है कि उन्हे वियोग और सयोग, दोनो के चित्रण में पूरी सफलता मिली है। उन्होने वात्सल्य के जो चित्र उतारे है वे भी बड़े मार्मिक हैं। देखिए, रत्नसेन की माता के इन शब्दो मे कितना दर्द है :—

'सब दिन रहेहु करत तुम भोगू। सो कैसे साधब तप-जोगू।
कैसे धूप सहब बिन छाँहाँ। कैसे नीद परिहि भुइ माँहा॥'

कहा जा सकता है कि जायसी ने मानव-हृदय मे उठनेवाले कुछ ही भावों का अकन किया है। बात ठीक है, पर यह उन पर लागू नही होती। वह जीवन-गाथा नही, प्रेम-गाथा के कवि है। प्रेम-गाथा मे जिन-जिन भावनाओं को जिस ढग से स्थान मिलना चाहिए उसकी ओर उन्होने पूरी तरह ध्यान दिया है और उसमे वह सफल हैं। उनकी भाव-व्यजना स्वाभाविक एव क्रमबद्ध है। विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के व्यर्थ एवं अनावश्यक प्रयोगो-द्वारा भाव-प्रदर्शन करने का प्रयास उनमे नही है।

कल्पना-तत्व की दृष्टि से भी 'पदमावत' एक अद्‌भुत रचना है। उसके कथा-संगठन मे कुछ ऐतिहासिक अशो के अतिरिक्त जो कुछ है वह सब-का-सब काल्पनिक ही है। जायसी ने जिस प्रकार कल्पना और यथार्थ के मेल से अपनी कथा का ढाँचा खड़ा किया है उसी प्रकार उन्होंने कल्पना और भावना के मेल से अपने काव्य का रूप दिया है। उनकी कल्पनाएँ विदेशी भी हैं और भारतीय भी, पर वे सब की सब हृदय को स्पर्श करती है और भावो को तीव्रतर बनाती हैं। कौवा काला होता है, पर उसके कालेपन की कल्पना नागमती की निम्न उक्ति मे देखिए :—

'पिउ सों कहेउ संदेसडा, हे भौरा ! हे काग !
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि के धुआँ हम लाग ॥'

पूस के जाडे मे भयभीत होकर सूर्य के दक्षिण चले जाने की कल्पना कितनी स्वाभाविक और प्रसगानुसार है, यह भी देखिए :—

'पूस जाड थर-थर तन काँपा । सूरज जाइ लंका-दिसि चाँपा ॥'

'पदमावत' जायसी की इसी प्रकार की कल्पनाओ से भरा हुआ है । उसमे वर्णित कोई ऐसा प्रसंग नही है जिस पर जायसी ने अपनी कल्पना का रग न चढ़ाया हो । वह कल्पना के उस्ताद है और उनकी रचना कल्पना का अमर कोश । उसमे आपको प्रकृति के चित्र भी मिल सकते है। परन्तु जायसी ने प्रकृति का चित्रण सर्वत्र एक ही शैली मे नही किया है । सघन अमराई का वर्णन लीजिए :—

'लवग, सुपारी, जायफर, सब फर फरे अनूप ।
आस-पास घन इमली औ घन तार खजूर ॥'

यह प्रकृति- चित्रण की परिगणन शैली है । इस शैली मे कवि प्रकृति का ज्यो-का-त्यो चित्र उतार देता है । इसकी विशेषता है इसकी संक्षिप्तता मे । यदि वर्णन काफी लम्बा हो गया तो वह नीरस हो जाता है । जायसी इस दोष से बच नही सके है । उनका कल्पना-प्रसूत प्रकृति-चित्रण अवश्य बढ़ा-चढ़ा है और वह उनके काव्य की विशेषता है । इस प्रकार के चित्रण को हम रोमांचक शैली के अन्तर्गत रख सकते हैं । क्षीर-समुद्र, दधि समुद्र, सुरा-समुद्र, किलकिला-समुद्र आदि के चित्रण मे इसी शैली का प्रयोग हुआ है । किलकिला-समुद्र का वर्णन देखिए :—

'उठै लहर परबत के नाई । फिरि आवै जोजन सौ ताई ।
धरती लेई सरग लहि बाढा । सकल समुद जानहुँ भा ठाढा ॥'

इस प्रकार के वर्णन 'पदमावत' मे अधिक नही है । परन्तु जो है वे अत्यन्त रोचक और आकर्षक हैं । इन चित्रो से कुछ भिन्न प्रकृति के वे चित्र हैं जिनमे उसका मानवीकरण किया गया है । ऐसे चित्रो को हम रहस्यवादी शैली के अन्तर्गत ले सकते है । पद्मावती का रूप देखकर मान-सरोवर की सजीवता का वर्णन देखिए :—

'सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहिं लेइ।
पावँ छुवै मकु पावौ, एह मिस लहरेहिं देइ ॥'

इस चित्र मे सरोवर का मानवीकरण किया गया है। उसमें जो हिलोरे उठ रही हैं वे उसे सजीव बनाने मे समर्थ हैं। प्रकृति के ऐसे सजीव चित्र अनेक बार 'पदमावत' मे उतारे गए हैं। बारहमासा और षट्-ऋतु वर्णन भी प्रकृति के ही चित्र हैं, पर उनमे मानवीकरण से काम नही लिया गया है। उनमे काव्य-परंपरानुसार उपमानो का प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रकृति-चित्रो की 'पदमावत' में अधिकता है। जायसी अपने इस क्षेत्र के भी उस्ताद हैं। उनकी इस शैली को हम उपमान शैली कह सकते है। एक उदाहरण लीजिए :—

'सरग मांस, धर धरती, हिया सों प्रेम समुद्र।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ लेई उठहिं सो बुन्द ॥'

प्रकृति-चित्रण की भाँति ही जायसी के दृश्य-चित्रण भी अत्यन्त मोहक और सजीव है। सिंहल के पनिघट का शब्द-चित्र देखिए :—

'कनक-कलस, मुख-चन्द-दिपाहीं। रहस केलि सन आवहिं-जाहीं ॥
जासहुँ वै हेरहिं चख नारी। बाँक नैन जनु हनहिं कटारी ॥
केस मेघावर सिर ता पाईं। चमकहिं दसन बीजु कै नाईं ॥
माथे कनक-गागरी आवहिं रूप अनूप।
जेहि के असि पनिहारी सो रानी केहि रूप ॥'

इसी प्रकार जायसी ने नगर, हाट, वन, उपवन, जल-क्रीडा, यात्रा, विवाह, बारात, भोज, चढ़ाई, सेना, युद्ध, गढ़, आदि के अनेक दृश्य-चित्र उतारे है। इन चित्रो मे सजीवता और सुन्दरता तो है ही इन से भी बढ़कर वे चित्र हैं जो पद्मावती के 'नखशिख' से संबंध रखते है। ऐसे चित्र अत्युक्ति पूर्ण हैं, पर वे रहस्यमय परोक्षाभास के कारण हास्यास्पद होने से बच गए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'पदमावत' का काव्य-पक्ष अत्यन्त सबल और आकर्षक है। विचार, कल्पना और अनुभूति का उसमे सुन्दर समन्वय तो है ही, साथ ही उसमें प्रकृति और वस्तु के चित्र भी मोहक और काव्य-

परम्परा के अनुसार हैं। यह सच है कि जायसी की सामग्री नई नहीं है, पर उस सामग्री की उन्होंने जो योजना की है वह नई अवश्य है। घटना-चक्र के बीच उन्होने उपयुक्त स्थलों को चुनकर उनका जिस ढंग से वर्णन किया है वह अत्यन्त भावपूर्ण है।

(८) **पदमावत की रहस्य-भावना**—'पदमावत' में रहस्यवाद भी पाया जाता है। काव्य में रहस्यवाद का उदय उस समय होता है जब कवि की आत्मा परमात्मा में लीन होने के लिए छटपटा उठती है और वह अपनी सुख-दुःखमय अनुभूतियों का भौतिक प्रतीको के माध्यम से चित्रण करने लगता है। यह अध्यात्मिक अनुभव लौकिक अनुभव से ऊँचा होता है। इसका आरंभ जिज्ञासा से और अन्त जीवात्मा तथा परमात्मा के चिर मिलन में होता है। दार्शनिक दृष्टि से यह अनुभूति अद्वैतवाद की अनुभूति है। इसलिए रहस्यवादी कवि वही होता अथवा हो सकता है जो या तो आरंभ से ही अद्वैतवादी हो या फिर द्वैतवाद में विश्वास करता हुआ अद्वैत-वाद मे अपनी परिणत मानता हो। जायसी इसी दूसरी प्रकार के रहस्यवादी कवि हैं। एक ओर उनका इस्लाम के पैग़म्बरी मत मे विश्वास है तो दूसरी ओर अद्वैतवाद में। भारतीय अद्वैतवाद में दो प्रकार के द्वैत के त्याग को स्थान दिया जाता है : (१) आत्मा और परमात्मा के द्वैत का त्याग तथा (२) ब्रह्म और जड़ जगत के द्वैत का त्याग। जायसी ने पहले को माना है। उपनिषदों का 'अहं ब्रह्मास्मि' उनका 'अनलहक' है। 'अखरावट' में वह कहते हैं :—

'सोऽहं सोऽहं बसि जो करई। सो बूझै, सो धीरज धरई॥'

उन्होने अद्वैतवाद के मार्ग मे बाधक 'अहंकार' का भी उल्लेख किया है :—

'हौ-हौं कहत सबै मति खोई। जौं तू नाहिं आ सब कोई॥'

× × ×

'हौ-हौं करब अडारहु खोई। परगट गुपुत रहा भरि सोई॥'

और फिर ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हुए कहा है:—

'बाहर भीतर सोई समाना। कौतुक सपना सो निजु जाना॥

सोइ देखै औ सोई गुनई। सोई सब मधुरी धुनि सुनई ॥'

× × ×

'आपुहि कागद, आपु मसि, आपुहि लेखनहार।
आपुहि लिखनी आखर, आपुहि पण्डित अपार ॥'

जायसी ने ब्रह्म और जगत की समस्या पर भी विचार किया है, पर अद्वैतवादी ढंग से नहीं। वेदान्त के अनुसार चित्त-अचित् की अनन्यता जायसी भी स्वीकार करते है, पर उसके प्रतिपादन में उनका वेदान्त से मत-भेद है। वेदान्त चित्-अचित् (ब्रह्म और जगत) की अनन्यता के प्रतिपादन में 'विवर्त्तवाद' का आश्रय लेता है। आचार्य शुक्लजी के शब्दो में उसका मत है कि यह संसार 'न तो ब्रह्म का वास्तव स्वरूप है और न ब्रह्म का कार्य या परिणाम ही है। वह है केवल अध्यास या भ्रान्ति ज्ञान। उसकी कोई अलग सत्ता नही है। नित्य तत्व एक ब्रह्म ही है।' इस सामान्य सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए वेदान्त मे कई अन्य 'वादो' की व्याख्या की गई है जिनमे से एक 'प्रतिबिम्बवाद' भी है। जायसी इसी 'वाद' के समर्थक हैं। 'प्रतिबिम्बवाद' के अनुसार ब्रह्म 'बिम्ब' है और जगत उसका 'प्रतिबिम्ब' है। जायसी ने 'पदमावत' मे कहा है :—

'नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन-ज्योति नग हीर ॥'

इसके साथ ही जायसी यह भी मानते हैं कि जिस प्रकार व्यापक ब्रह्म सारी सृष्टि मे प्रतिबिंबित है उसी प्रकार वह मानव-शरीर में भी प्रति-बिंबित है। तात्पर्य यह कि वह 'यः पिंडे स ब्रह्मांडे' का समर्थन करते हैं :—

'सातौ दीप नवौ खंड, आठौ दिसा जो आहिं।
जो ब्रह्मण्ड सो पिण्ड है, हेरत अन्त न जाहि ॥'

× × ×

'आगि, वाउ, जल, धूरि, चारि मेरइ भाँड़ा गढ़ा।
आपु रहा भरिपूरि, मुहम्मद आपुहि आप महँ ॥'

इस प्रकार जायसी चेतन तत्व (अल्लाह) को मानव-शरीर (घट) के भीतर ही स्थित मानते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि बाहर की सारी

ष्टि उनके भीतर सूक्ष्म रूप मे रची हुई है। इसलिए उनका कहना है कि ह्म (अल्लाह) का वस्ल (मेल) प्राप्त करने के लिए साधक को कहीं बाहर ाने की आवश्यकता नही है, वह तो काया में हो स्थित है। उनके इसी श्वास में उनकी रहस्य भावना का विकास हुआ है।

रहस्यवाद दो प्रकार का होता है: (१) साधनात्मक और (२) ावनात्मक। साधनात्मक रहस्यवाद का आधार है योग और भावनात्मक हस्यवाद का आधार है प्रेम। जायसी ने अपने रहस्यवाद मे दोनो का मन्वय किया है, पर प्राथमिकता दी है भावनात्मक रहस्यवाद को ही। म्स पर विजय पाने के लिए वह रहस्यवाद के साधनात्मक पक्ष अर्थात् एड के भीतर ही ब्राह्माण्ड की उपलब्धि का ढंग बताते हैं :—

'छाड़हु घिन औ मछरी माँसू। सूखे भोजन करहु गरासू॥
एहि बिधि माँस घटावहु काया। काम, क्रोध, तिसना, मद, माया॥'

इस विधि से जब काया के भीतर ब्रह्म का प्रतिबिम्ब झलकने लगता तब साधक के मन मे यह जिज्ञासा उठती है :—

'हुता जो एकहि संग, हौं-तुम्ह काहे बीछुरे।
अब जिउ उठे तरंग, मुहम्मद कहा ना जाय किछु॥'

इसी जिज्ञासा के साथ जायसी के भावनात्मक रहस्यवाद का आरंभ ता है। स्पष्ट है कि जायसी के भावनात्मक रहस्यवाद का आधार है ; और प्रेम का वह पक्ष जिसे हम 'वियोग' कहते हैं। वियोग सच्चे प्रेम कसौटी है। इस दिशा में पड़कर साधक को जिन दशाओं का सामना ना पड़ता है उन्हे जायसी ने नागमती और रत्नसेन के वियोग-वर्णनों में ; कर दिया है। नागमती का वियोग-वर्णन वेदान्त-मत से प्रभावित है रत्नसेन का वियोग-वर्णन सूफी-मत से। पहले में साधक है पत्नी र साध्य है पति ; दूसरे में साधक है आशिक और साध्य है माशूक। प्रकार जायसी ने अपनी रहस्य-भावना के अभिव्यक्तिकरण मे दोनो स्थान दिया है, पर प्राथमिकता दी है आशिक-माशूक़ वाले प्रेम को। आशिक अपने माशूक का जलाल-जमाल देखना चाहता है। जब उसे नहीं देख पाता तब वह उसके वियोग में तड़पने लगता है :—

'छोड़ जमाल जलालहि रोवा । कौन ठॉव ते दैव बिछोवा ॥'

इस वियोग का कारण है देव अर्थात् शैतान। वही आशिक़ को माशूक़ के जमाल से महरूम कर देता है। परन्तु मुरशिद के पथ-प्रदर्शन से पुनः उसकी प्राप्ति हो जाती है और वियोग का अन्त हो जाता है। वियोग का अन्त होने पर आशिक का माशूक़ के साथ जो वस्ल (मेल) होता है उसे भी जायसी ने 'पदमावत' में स्थान दिया है। संक्षेप में यही जायसी का रहस्यवाद है। इस रहस्यवाद का आधार है 'प्रेम की पीर'। जायसी ने 'प्रेम की पीर' दोनो (आशिक और माशूक) ओर दिखाई है। यही उनके रहस्यवाद की विशेषता है।

(६) **पदमावत की शैली**—'पदमावत' की शैली जायसी की अपनी है। इसमें शक नहीं कि उन्होंने कथा-वस्तु को क्रम देने मे फारसी की मसनवी-शैली का अनुकरण किया है और यह भी सच है कि रसों की योजना, अलकारो के विधान और छन्दो के चुनाव मे वह भारतीय-शैली से प्रभावित हैं, फिर भी उनकी शैली पर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। वह अपने ढंग के निराले और अनूठे कवि हैं। रसों की योजना में अनूठा-पन दो अवसरो पर देखने को मिलता है: (१) शृंगार को वीभत्स का रूप देने में और (२) शृंगार को वीर का रूप देने मे। वियोग मे वीभत्स का दृश्य देखिए :—

'बिरह सरागिन्ह भूँजै माँसू। गिरि-गिरि परै रकत कै आँसू ॥

अब सयोग शृगार मे भी एक ऐसी ही दृश्य देखिए :—

'कुच-तूँबी अब पीठि गडोबौ। गहै जो हूकि, गाढ़ रस धोवौ ॥'

इसी प्रकार शृगार को वीर का रूप देने मे उनका अनूठापन देखिए:—

'कहौं सिंगार जैसि वै नारी। दारू पियहिं जैसि मतवारी ॥
उठै आगि जौ छाडहिं साँसा। धुआँ जौ लागै जाहि आकासा ॥
सेंदुर-आग सीस उपराहीं। पहिया तरिवन चमकत जाहीं ॥
कुच-गोला दुई हिरदय लाए। अंचल धुआ रहहिं छिटकाए ॥'

जायसी का सयोग शृंगार विप्रलंभ-शृंगार, की अपेक्षा, निम्न कोटि का है। उसमें यत्र-तत्र अश्लीलता तो है ही, तर्क-वितर्क और बाद-बिवाद की

प्रधानता भी है। अलंकार-योजना की दृष्टि से 'पदमावत' अत्यन्त समृद्ध है। व्यंजना का प्राधान्य होने के कारण उसमे रूपको और अन्योक्तियों का तो समावेश हुआ ही है, अन्य अलकारों की भी कमी नही है। शब्दालंकारो की अपेक्षा उसमे अर्थलकारो को विशेष महत्त्व दिया गया है। उत्प्रेक्षा, हेतूप्रेक्षा, उपमा, प्रतीप, पर्यायोक्ति, मुद्रालकार आदि अलकारों का उसमे स्वाभाविक और सफल प्रयोग हुआ है। अपने अलंकारो से जायसी ने रस-परिपाक मे पूरी सहायता ली है। एक उदाहरण लीजिए :—

'गहे बीन मकु रैन बिहाई। ससि-बाहन तँह रहै ओनाई।
पुनि धनि सिंह उरेहै लागै। ऐसिहि बिथा-रैन सब जागै॥'

रस और अलंकार-योजना के विस्तार मे जायसी ने जैसा अपना परिचय दिया है वैसा परिचय हमे उनकी छन्द-योजना से नहीं मिलता। 'पदमावत' मे केवल दो ही छन्दो—चौपाई और दोहा—का प्रयोग हुआ है। यह 'पदमावत' जैसे महाकाव्य मे अखरनेवाली बात है। दोहा-चौपाई पिगल के सरलतम मात्रिक छन्द है; पर जायसी ने उनकी रचना में भी भद्दी भूले की है। उनका प्रयोग भी बेतुका है। चौपाई मे चार चरण होते है। इसलिए यदि आठ पक्तियो के पश्चात् दोहो की रचना होती तो हिन्दी-छद-शास्त्र के अनुकूल कहा जाता, परन्तु 'पदमावत' मे जायसी ने सात पंक्तियो के पश्चात् ही दोहो की रचना की है। इससे ज्ञात होता है कि उन्होने यहाँ भी मसनवी-शैली का अनुकरण-किया है।

जायसी की वर्णन-शैली अत्यन्त प्रभावोत्पादक और रोचक है। वह जिस विषय को उठाते हैं उसे अन्त तक पहुँचाकर उसका पूरा प्रभाव पाठक के हृदय पर डालते हैं। उनका षट्-ऋतु वर्णन, नख-शिख-वर्णन, विवाह-वर्णन, भोज-वर्णन, युद्ध-वर्णन आदि इसी प्रकार का है। परन्तु इनमे कही-कही उनकी पाण्डित्य-प्रदर्श-प्रियता ने बाधाएँ भी खड़ी कर दी हैं। इसके अतिरिक्त उनके वर्णनो मे उपमाओ और भावो की ही पुनरुक्ति नहीं, वाक्यो की भी पुनरुक्ति मिलती है। पुनरुक्ति के अतिरिक्त उनमे अरोचक और अनपेक्षित प्रसंगो के समावेश से भी दोष आ गया है। इससे पाठक को कभी-कभी उनके वर्णनो के प्रति विरक्ति हो जाती है।

जायसी ने 'पदमावत' मे सूक्तियो की भी रचना की है। सूक्तियों से हमारा मतलब उन चमत्कारपूर्ण उक्तियों से है जिनमे वाक्चातुर्य की प्रधानता होती है। जिन सूक्तियों मे केवल चमत्कार अथवा केवल भावुकता होती है वे उतनी मनोरंजक और रोचक नहीं होती जितनी वे होती हैं जिनमे चमत्कार के साथ-साथ भावुकता भी होती है। जायसी ने ऐसी ही अनेक सूक्तियाँ लिखी हैं। बुढापे पर उनकी उक्ति देखिए :—

'मुहम्मद बिरिध जो नई चलै, काह चलै भुइँ टोइ।
जोबन-रतन हेरान है, मकु धरती पर होय॥'

इसी प्रकार मिट्टी पर उनकी उक्ति देखिए :—

'माटी मोल न किछु लहै, औ माटी सब मोल।
दिस्टि जो माटी सो करै, माटी होय अमोल॥'

जायसी सक्षेप मे कहना जानते हैं, फिर भी उनकी शैली विस्तार-सापेक्ष है। किसी बात को चन्द शब्दो में कहने से उन्हें सन्तोष नहीं होता। फिर भी उनकी शैली भाव-व्यजक, प्रभावोत्पादक और प्रवाहपूर्ण है।

(१०) पदमावत की भाषा—'पदमावत' की भाषा ठेठ अवधी है। अवधी के दो रूप हैं : (१) पूर्वी अवधी और (२) पश्चिमी अवधी। जायसी ने अवधी के पूर्वी रूप को ही अपनाया है, पर उसमें कहो-कहीं पश्चिमी अवधी के रूप भी मिलते हैं। वह 'तू' अथवा 'तैं' के स्थान पर प्रायः 'तुईं' का प्रयोग करते है। यह कन्नौजी अथवा पश्चिमी अवधी का रूप है। इसी प्रकार उनकी क्रियाएँ भी पश्चिमी अवधी से प्रभावित हैं। उन्होने कहीं-कही बहुत पुराने अप्रचलित शब्दों को भी स्थान दिया है। उनकी रचनाओं में 'दिनिअर', 'ससहर', 'भुवाल', 'विसहर' आदि प्राकृत की संज्ञाएँ भी मिलती हैं। तद्भव रूप में फारसी के शब्द भी आए हैं। इन प्रयोगों के कारण उनकी भाषा अव्यवस्थिति-सी हो गई है, पर वह है अधिक स्वच्छ। चरणो की पूर्ति के लिए अर्थ-सम्बन्ध और व्याकरण-सम्बन्ध-रहित शब्दों की भरती उन्होने कहीं भी नही की है। कुछ शब्द व्याकरण-विरुद्ध अवश्य हैं, पर शब्दो की तोड़-मरोड़ अथवा खींचातानी नहीं है। उनकी वाक्य-रचना स्वच्छ है, पर सुव्यवस्थित नहीं है। उसमे

न्यून पदत्व-दोष है। विभक्तियो का लोप, संबंध-वाचक सर्वनामों का लोप, आदि उनकी वाक्य-रचना मे बहुत मिलता है। इससे अर्थ के स्पष्टीकरण में पर्याप्त बाधा पहुँची है।

जायसी की भाषा बोलचाल की भाषा है। वह अत्यन्त सीधी-सादी है। उसमे समस्त पदो का व्यवहार बहुत ही कम किया गया है और जहॉ किया गया है वहॉ दो से अधिक पदो के समास का नही है। दो पदो के समासो का व्यवहार हिन्दी की रीति के अनुसार न होकर फारसी की रीति के अनुसार हुआ है, जैसे 'रवि-किरन' के स्थान पर 'किरिन-रवि'। इस प्रकार उस पर यत्र-तत्र फारसी प्रभाव भी दीख पड़ता है। फिर भी उसमें सहज माधुर्य और स्वाभाविकता है। उसमे लोकोक्तियॉ भी हैं और मुहावरे भी। उसका रूप भी सर्वत्र एक प्रकार का ही है। वह कहीं क्लिष्ट और कही सरल नहीं है। इससे ठेठ अवधी पर जायसी का पूरा अधिकार दीख पड़ता है। उसमे उनका व्यक्तित्व पूरी तरह झलकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी की सूफी-काव्य-धारा मे 'पद-मावत' एक विशिष्ट रचना है। प० चन्द्रबली पाण्डे के शब्दों में उसमें 'जायसी की साधना है, जायसी का सिद्धान्त है, जायसी का साहित्य है, जायसी का सुभाषित है और है जायसी का संसार भी। जायसी के संस्कार के साथ-ही-साथ उसमे जायसी की सभ्यता और जायसी की साध भी है। जायसी के अध्ययन मे 'पदमावत' का जो महत्त्व है वह तभी प्रकट हो सकता है, जब हम उसके परिशीलन मे इन सभी बातो को अपने सामने रखे और बराबर यह देखते रहे कि उनका उपदेश कहाँ से उठता, कहाँ बैठता और किसमें घर करता है। जायसी ने अपने आपको पदमावत में ढाल दिया है, इसमे सन्देह नहीं और सन्देह नही उनकी इस रचना-विदग्धता मे।'

जायसी की जानकारी

जायसी अपने समय के प्रसिद्ध सूफी थे। उनका ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। मानव-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों की उन्हें अच्छी जानकारी थी। सूफी-मत के तो वह पूर्ण आचार्य ही थे। इसके अतिरिक्त

अन्य मतों और सम्प्रदायो में भी उनकी अच्छी पैठ थी। ज्योतिष, हठयोग तथा काव्य-रीतियो का भी उन्हे अच्छा ज्ञान था। सामाजिक रीति-रिवाजों से भी वह परिचित थे। तात्पर्य यह कि उनकी जानकारी अत्यन्त विस्तृत थी। अध्ययन की सुविधाओ की दृष्टि से हम उनकी जानकारी को निम्न भागो मे विभाजित करेगे :—

(१) साहित्यिक जानकारी—जायसी अपने समय के प्रसिद्ध कवि और साहित्यकार थे। उन्हे भारतीय काव्य शास्त्र और भाषा-साहित्य का अच्छा परिचय था। शुक्लजी के शब्दो मे 'भिन्न-भिन्न अलंकारो की योजना, काव्य-प्रसिद्धि उक्तियो का समावेश, (जैसा कि नखशिख में है), प्रबन्ध काव्य के भीतर निर्दिष्ट वर्ण्य विषयो का सन्निवेश (जैसे जल-क्रीड़ा, समुद्र-वर्णन) प्रचलित काव्य-रीति के परिज्ञान के परिचायक है।' 'पदमावत' के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उन्हे सस्कृत का अच्छा ज्ञान नही था, पर उसमे यत्र-तत्र सस्कृत-कवियो के जो भाव मिलते हैं उनसे यह अनुमान होता है कि उन्होने केवल भाषा-काव्य-परम्परा की ही जानकारी प्राप्त की थी। उनका परिमित सस्कृत-शब्द-भाडार इस अनुमान को और भी पुष्ट करता है। फारसी-काव्य-शास्त्र के वह अवश्य अच्छे ज्ञाता थे। 'पदमावत' की रचना में उन्होने 'मसनवी' की ही शैली अपनाई और उसमें भरपूर वियोग का चित्रण किया। एक बात और है। अलंकारो और रसो के आयोजन में उन्होने अपनी कवित्व-शक्ति का जैसा परिचय दिया वैसा वह पिंगल के क्षेत्र मे नही दे सके। लगता है, पिगल के क्षेत्र में उनका ध्यान दोहा-चौपाइयो तक ही सीमित था। यदि ध्यान से देखा जाय तो यह भी पता चलेगा कि वह हिन्दी के इन साधारण छन्दो का भी भली भाँति निर्माण नहीं कर सके।

(२) धार्मिक जानकारी—जायसी मुसलमान थे और थे सूफीमत में दीक्षित। इसलिए उन्हें इस्लाम-धर्म और सूफीमत की पूरी जानकारी थी। भारतीय हठयोग का भी उन्हे अच्छा ज्ञान था। हठयोग का ज्ञान उन्होने सत्संग-द्वारा ही प्राप्त किया था। इसी प्रकार उन्होंने हिन्दुओं के पौराणिक वृत्तों की भी जानकारी प्राप्त की थी, पर अधिक नहीं। नारद को 'शैतान'

और इन्द्र के निवास-स्थान 'स्वर्ग' को 'कबिलास' कहना उनकी अधूरी जानकारी का ही परिचायक है। इसी प्रकार शिव और पार्वती के कथानक मे भी पौराणिक मान्यताओ को वह अच्छी तरह नही निभा सके। भारतीय अद्वैतवाद से वह प्रभावित अवश्य थे, पर उसका गभीर अध्ययन उन्होने नहीं किया था।

(३) **अन्य विषयों की जानकारी**—काव्य-शास्त्र, मत-मतांतर तथा पौराणिक वृत्तो की जानकारी के अतिरिक्त जायसी को ज्योतिष, काम-शास्त्र और रसायन का भी ज्ञान था। ज्योतिष के तो वह अच्छे ज्ञाता थे। उनकी रचना 'पदमावत' के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय का उन्होंने अध्ययन किया था। परन्तु काम-शास्त्र और रसायन का ज्ञान उन्होने सत्सग से ही प्राप्त किया था।

(४) **भौगोलिक जानकारी**—जायसी की भौगोलिक जानकारी अत्यंत परिमित थी। उन्होने अपने जीवन में लम्बी-लम्बी यात्राऍ नही की थी। उन्होने चित्तौड़-गढ़ का वर्णन तो किया, पर उसे देखा नहीं। सिहल द्वीप, लका आदि कहाँ और किस दशा मे है—यह भी वह नही जानते थे। लगता है, उन्होने अपने समय मे इन स्थानो के संबध में जो बाते सुन रखी थीं उन्ही के आधार पर उन्होने उनका वर्णन कर दिया, उन्होने उनके बारे मे विशेष जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा नही की। यदि की होती तो वह मानसरोवर को सिंहल द्वीप के उत्तर में, लंका को सिंहल द्वीप के दक्षिण में और सिंहल द्वीप को चित्तौड़ के पूर्व मे स्थित न मानते। इस प्रकार की भौगोलिक अज्ञानता के बावजूद भी उन्होने उड़ीसा, बीदर, चन्देरी, बरार, विजयगढ़ आदि का वर्णन भौगोलिक क्रम से किया है। तात्पर्य यह कि उनकी भौगोलिक जानकारी कुछ तो उनकी कल्पना पर और कुछ सत्सग तथा लोक-प्रचलित बातों पर ही आधारित है।

(५) **ऐतिहासिक जानकारी**—जायसी की ऐतिहासिक जानकारी भी वैसी ही है जैसी उनकी भौगोलिक जानकारी। 'पदमावत' का उत्तरार्द्ध भी उसके पूर्वार्द्ध की भाँति अधिकाँश कल्पित ही है। आधुनिक इतिहासकारों ने अलाउद्दीन और पद्मिनी की कथा को लोक-प्रचलित ही सिद्ध किया है।

टाड ने चारणों के मुख से उसे सुनकर ही अपनी रचना में स्थान दिया था। जायसी के समय मे तो उसका और भी अधिक प्रचार था। इसी प्रकार जायसी-द्वारा उल्लिखित अन्य घटनाएँ भी भ्रमपूर्ण सिद्ध होती हैं। इतिहास उन्होने पढा नही, सुना था और सुनकर उस पर अपनी कल्पना का रंग चढ़ाया था। गोरा-बादल के युद्ध की कथा भी उन्होने सुनी ही होगी, पर जिस परिस्थिति में उन्होने गोरा-बादल के युद्ध का आयोजन किया है, वह इतिहास-विरुद्ध है। 'पद्मावत' के उत्तरार्द्ध में कुछ घटनाएं अवश्य ऐतिहासिक हैं, पर उनकी ऐतिहासिकता पर कल्पना का ऐसा गहरा रंग चढ़ा दिया गया है कि उनमे आए हुए नाम ही ऐतिहासिक रह गए है।

(६) **सामाजिक विषयों की जानकारी**—जायसी को हिन्दू तथा इस्लामी रीति-रिवाजों की अच्छी जानकारी है। विवाह और भोज आदि का उन्होंने सविस्तर और प्रभावशाली वर्णन किया है। भोजन के अनेक भेदो का उल्लेख उनके व्यावहारिक ज्ञान का परिचायक है। शतरंज के खेल से भी वह परिचित जान पड़ते हैं। घोडो के दोष-गुण की भी उन्होंने चर्चा की है। सन्तानोत्पत्ति के समय हिन्दू-परिवारो मे जो रीति-रिवाज बरते जाते हैं उनसे भी वह परिचित हैं। इनके अतिरिक्त उन्होने प्राचीन रीति-रिवाजो को भी 'पदमावत' मे स्थान दिया है। पदमावती के शृङ्गार के प्रसंग में उन्होंने विभिन्न प्रकार के आभूषणो का उल्लेख किया है। राजपूत-नारियो के 'जौहर' का भी वह वर्णन करते है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी पर अँगरेजी की यह कहावत—'Everything of something and something of every thing'—पूरी तरह लागू होती है। वस्तुत: वह अपने धर्म के ही पूर्ण पंडित थे, पर उसके प्रचार के लिए वह जिन-जिन विषयो को उपयुक्त और उचित समझते थे उनका भी थोड़ा-बहुत ज्ञान उन्होने अपनी रुचि के अनुकूल प्राप्त कर लिया था।

जायसी और कबीर : तुलनात्मक अध्ययन

जायसी के संबध में यहाँ तक विचार करने के पश्चात् अब जायसी

और कबीर पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार कीजिए। जायसी और कबीर मे यदि किसी बात मे समानता थी तो केवल इस बात मे कि दोनों ने मुस्लिम-परिवार में जन्म लिया था। पर यह समानता केवल नाम-मात्र की थी। कबीर मुसलमान होकर भी मुसलमान नही थे। वह जाति-पाँति से परे, केवल मानव थे। जायसी मुसलमान तो थे ही, सूफी भी थे और अपनी उदार वृत्तियो के कारण एक सच्चे मानव भी। यही कारण था कि जहाँ जायसी अपने धर्म-ग्रन्थों में पूरी आस्था रखते थे, वहाँ कबीर का न तो अपने धर्म-ग्रन्थों में विश्वास था और न पराये धर्म-ग्रन्थों मे। 'पंडित-मुल्ला जो लिख दीया। छाँडि चले हम कछू न लीया॥'—ऐसा कहनेवाले थे कबीर और 'साँची राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ। पाँव राखि तेहि सीढी निभरम पहुँचै सोई॥' ऐसा कहनेवाले थे जायसी। जायसी अपनी साधना के लिए इस्लाम-धर्म और उससे सबधित सूफीमत के ऋणी थे, कबीर ने किसी धर्म, सम्प्रदाय अथवा मत से कोई सिद्धान्त उधार न लेकर अपनी सहज बुद्धि और स्वतंत्र अनुभूति से अपनी साधना का मार्ग बनाया था और ऐसा ही करने का दूसरों को भी उपदेश दिया था। उन्होने न तो किसी मत में दीक्षा ली, न किसी मत की स्थापना की और न किसी मत का प्रचार किया। वह फक्कड़ थे, मस्त मौला थे, अपनी धुन मे मस्त रहनेवाले जीव थे। कोई उनकी सुनता है या नहीं—इसकी भी उन्हे चिन्ता नही थी। वह 'अपनी राह तू चले कबीरा' के पक्षपाती थे। इस 'अपनी राह' के वह स्वय निर्माता और स्वय पथ-प्रदर्शक थे। जायसी साधक और प्रचारक दोनों एक साथ थे। वह पढे-लिखे, साहित्यकार और कवि थे, कबीर की भाँति अपढ और अशिक्षित नहीं। फारसी-काव्य-शास्त्र, हिन्दी-काव्य-शास्त्र, रसायन, ज्योतिष, काम-शास्त्र, सामाजिक रीति-रिवाज— इन सब का उन्हें ज्ञान था, कबीर इन सब में कोरे थे। फिर भी कबीर अपनी युक्तियों और दलीलों से बडे-बडे पडितो और मुल्लाओं के दाँत खट्टे कर देते थे। जायसी मे किसी से उलझने की प्रवृत्ति नहीं थी। वह जो कुछ कहना चाहते थे उस पर वह तर्क-वितर्क का रंग नही चढ़ाते थे। वह अपने ढंग से उसे कहकर शान्त रहते थे। उन्होंने न तो किसी के आचार-विचार की निन्दा की और न किसी मत अथवा संप्रदाय

के सिद्धान्तो की आलोचना। वह अपने मत के सफल साधक और कुशल प्रचारक थे। यही दोनो के व्यक्तित्व मे अन्तर था।

कबीर स्वतत्र चिन्तक, आत्मज्ञानी और तत्वदर्शी थे। उन्होने 'सत्य' की खोज के लिए अपने ढंग से साधना की थी। जायसी ने किसी 'परम सत्य' की खोज के लिए साधना नही की, उन्होने उस 'सत्य' को प्राप्त करने के लिए साधना की जो एक धर्म-विशेष का 'सत्य' था। इस प्रकार जहाँ कबीर का सत्य 'स्वसंवेद्य' था वहाँ जायसी का 'परसवेद्य।' जायसी 'सत्य' की उपलब्धि के लिए किसी सप्रदाय मे दीक्षित होना आवश्यक समझते थे और कबीर संप्रदाय के सकुचित घेरे से बाहर रहकर 'सत्य' की खोज पर बल देते थे। उनका कहना था कि 'परमसत्य' की उपलब्धि सब को एक ही भाँति नहीं होती। उसकी उपलब्धि के लिए जो साधक जितना प्रयत्न करता है उसी के अनुपात से उसे उसकी उपलब्धि होती है। इसीलिए वह पोथी पढ़कर साधक बननेवालो को फटकार कर कहते थे :—

'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।'

और धर्म-ग्रन्थों को असत्य सिद्ध करनेवालो को यह कह कर :—

'वेद कतेब कहो क्यों झूठा। झूठा जो न बिचारै।

वह चुनौती देते थे। वह अधविश्वासी नही थे। वह उस 'परमसत्य' के उपासक थे जिसे उन्होने अपनी स्वतत्र विवेक बुद्धि और स्वानुभूति से प्राप्त किया था और इसमे शक नही कि वह आजीवन उसी की साधना मे मस्त रहे। उन्होने उसे कभी माता के रूप मे देखा, कभी पिता के रूप में देखा, कभी स्वामी के रूप में देखा और कभी पति के रूप मे उसे पाकर पत्नीभाव से उस पर अपना सब कुछ निछावर कर दिया। यही उनकी साधना थी और यही उनकी साधना का चरम लक्ष्य! इस लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग में उनके सामने जो कुछ भी आया उसे उन्होंने निर्भीकतापूर्वक साफ किया। उन्होने माया-मोह की निन्दा की, पडितो और मुल्लाओं को फटकारा, तीर्थ-व्रत और रोजा-नमाज की आलोचना की, कनफटो को चुनौती दी, शाक्तों की निन्दा की, पर यह सब कुछ उन्होने किया आत्म-विश्वास से प्रेरित होकर

केसी द्वेष भावना से प्रेरित होकर नही। वह न तो सर्वधर्म समन्वयवादी थे, न हिन्दू-मुसलिम-ऐक्य-विधायक, न समाज-सुधारक और न मत-प्रचारक ! इस प्रकार कबीर में जो बाते नहीं थी वे सब जायसी में थीं और जो बातें कबीर में थीं वे जायसी मे नहीं थी। थोड़े शब्दों में यदि इसी तथ्य को कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि कबीर और जायसी एक-दूसरे के पूरक थे।

कबीर का ब्रह्म वही था जो वेदान्त का ब्रह्म, कबीर का जीवात्मा वही थी जो वेदान्त का जीवात्मा, कबीर की माया वही थी जो वेदान्त की माया, कबीर की साधना वही थी जो वेदान्त की साधना, पर यह सब था उनकी स्वतंत्र चिन्तन का परिणाम। वह साधना करते-करते उसी लक्ष्य पर पहुँचे थे जिस लक्ष्य पर वेदान्त के मनीषी और चिन्तक ! पर जायसी वेदान्ती होकर भी सूफी थे और ऐसे सूफी जिसे हम 'बाशरा' अर्थात् 'किताबी' कहते है। किताबी होने के कारण जायसी जो कुछ कहते थे उसमें उनकी धर्म-भावना ही प्रमुख है, आत्म-विश्वास नही। आत्म-विश्वासी होने के कारण कबीर जो कुछ कहते हैं उसमे उनका 'वाद' प्रमुख है। 'वाद' की प्रमुखता के कारण जहाँ कबीर की बाते सब की समझ मे नहीं आतीं, वहाँ धर्म-भावना की प्रमुखता के कारण जायसी की बातें सब को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। यही नहीं, कबीर ने जो कुछ देखा और जो कुछ अनुभव किया उस तक कोई पहुँच सका या नहीं, यह तो हम नही जानते; पर जायसी ने जो कुछ देखा और जो कुछ अनुभव किया वह हम सब के सामने है। संक्षेप मे यदि हम कबीर और जायसी की साधना-पद्धति के अन्तर को स्पष्ट करना चाहें तो यों कह सकते है कि कबीर अपने 'परम तत्व' के बारे मे केवल कहते हैं, उसे दिखाते नहीं; जायसी कहते भी हैं और उसे दिखाते भी हैं। कबीर का 'परम-तत्व' जहाँ अनिर्वचनीय और 'गूँगे का गुड़' हैं वहाँ जायसी का प्रियतम कण कण मे अपनी झाँकी दिखाता रहता है। यही कारण है कि कबीर के उपदेश सामाजिक बन्धनो के प्रसंगो से बहुत ऊपर उठ गए हैं और जायसी के उपदेश सामाजिक बन्धनो के प्रसगो मे आबद्ध होकर साकार हो उठे हैं। कबीर ने सबको दार्शनिक बनाने की चेष्टा की है, जायसी ने सब को रसमय। कबीर अपनी साधना में संसार को लेकर चलना नही चाहते, पर जायसी

अपनी साधना में दोनो का समन्वय करते हैं। इसलिए साहित्यकारों को जायसी के अध्ययन में आनन्द मिलता है और सतो को कबीर के अध्ययन में !

काव्य के क्षेत्र में कबीर मुक्तको के रचयिता हैं और जायसी महाकाव्यकार ! कबीर अपने यथार्थ व्यक्तित्व मे कवि नही हैं, जायसी अपने यथार्थ व्यक्तित्व मे कवि हैं। कबीर ने अपना 'चीन्हा' छोडने के लिए कुछ नहीं कहा, उन्होंने कहा अपने तथा अपने संपर्क मे आनेवाले लोगो के सुधार के लिए। जायसी ने 'चीन्हा' छोड़ने के उद्देश्य से अपने ग्रन्थो की रचना की। इसलिए उन्हे अपनी रचनाओ में काव्य की सभी विधियों का परिपालन करना पड़ा। वह काव्य शास्त्र के अच्छे जानकर भी थे। कबीर न तो काव्य-शास्त्र का 'क-ख' जानते थे और न उन्हे श्रोता अथवा पाठक की रुचि का ध्यान ही था। उन्हे जो कहना था उसे वह कभी दोहो में, कभी चौपाइयो में, कभी पदों मे, कभी बिरहो मे और कभी विभिन्न प्रकार की राग-रागिनियों मे कह देते थे। उन्होने न तो भाषा की चिन्ता की और न छन्दो की। उन्होने यदि किसी बात की चिन्ता की तो केवल विचारो और भावों की। जायसी ने अपनी काव्य-साधना मे फूॅक-फूॅक कर कदम रखा और उसे उन्होने सफल बनाया। रस, अलंकार और छन्द दोनों ने अपनाये, पर एक ने उन्हें समझ- बूझ कर और दूसरे ने उनसे अपरिचित होकर अपनी साधना के उमग मे ! इसलिए एक ने अपने आपको कवि बनाकर कवि सिद्ध किया, दूसरे ने कवि बनने की इच्छा न रखते हुए भी दूसरो की दृष्टि मे अपने आपको कवि सिद्ध कर दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी और कबीर, दोनो अपने-अपने मार्ग के समर्थ पथिक हैं। वे अपनी साधना मे एक दूसरे से मिले कम है, बिछुड़े अधिक हैं। दोनो की मानसिक वृत्तियाॅ भिन्न हैं; दोनो के दार्शनिक सिद्वान्त भिन्न हैं, दोनों की साधना के साधन भिन्न हैं, दोनो की साधना के लक्ष्य भिन्न हैं और इस प्रकार की भिन्नता के कारण दोनों का महत्व भी भिन्न-भिन्न है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र के सिद्ध साधक और सफल मनीषी हैं।

३. सूरदास

जन्म-संवत् १५३५ : मृत्यु-संवत् १६४०

ीवन-परिचय

कृष्ण-भक्तों में अष्ट-छाप अर्थात् ब्रज के आठ कवीश्वरो का ।शेष महत्त्व है। इन कवीश्वरो के नाम है : सूरदास (स० १५३५-१६४०), ;भनदास (स० १५२५-१६३६), परमानन्ददास (स० १५५०-१६४०), ;ष्णदास (सं० १५५२-१६३५), छीत-स्वामी (सं० १५६७-१६४२), ोविन्दस्वामी (स० १५६२-१६४२), चतुर्भुजदास (स० १५६७-१६४२), ौर नन्ददास (स० १५६०-१६३६)। इनमे से प्रथम चार महाप्रभु ल्लभाचार्य (स० १५३५-८७) के और अन्तिम चार श्री स्वामी बिट्ठलनाथ स० १५७२-१६४४) के शिष्य थे।

अष्ट-छाप के कवियो मे सूरदास प्रमुख हैं। 'निजवार्ता' के अनुसार उनका जन्म वैशाख शुक्ल ६, सं० १५३५ को माना जाता है और उनकी जन्म-भूमि रुनकुता ग्राम मे बताई जाती है। यह स्थान आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क पर स्थित है। कुछ लोग उनकी जन्म-भूमि दिल्ली के निकट सोही नामक ग्राम (रेणुका-क्षेत्र) भी बताते हैं। गोस्वामी गोकुलनाथ-कृत 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' के अनुसार वह सारस्वत ब्राह्मण थे और एक दृष्टि-कूट के आधार पर ब्रह्म-भट्ट। प० चन्द्रवली पांडे अन्तर्साक्ष्य के आधार पर उन्हे एक धनी जाट-कुल का मानते हैं। जो भी हो, इसमे सदेह नही कि सूर बाल्यावस्था से ही भगवान् के प्रेम में रग गए थे और रुनकुता के समीप यमुना के किनारे गऊ घाट पर साधु-जीवन व्यतीत करते थे। संगीत के प्रति उनकी स्वाभाविक रुचि थी। मस्ती के क्षणो मे वह अपना तानपूरा छेड़कर कुछ गुनगुनाया करते थे। यहीं महाप्रभु वल्लभाचार्य से उनकी भेट हुई। उन्होने स्वामीजी को स्वरचित पद गाकर सुनाए। उन्हे सुनकर स्वामीजी बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने

अपनी साधना में दोनो का समन्वय करते हैं। इसलिए साहित्यकारों को जायसी के अध्ययन में आनन्द मिलता है और सतों को कबीर के अध्ययन में !

काव्य के क्षेत्र में कबीर मुक्तको के रचयिता हैं और जायसी महाकाव्यकार ! कबीर अपने यथार्थ व्यक्तित्व मे कवि नहीं हैं, जायसी अपने यथार्थ व्यक्तित्व मे कवि हैं। कबीर ने अपना 'चीन्हा' छोडने के लिए कुछ नहीं कहा, उन्होंने कहा अपने तथा अपने संपर्क मे आनेवाले लोगो के सुधार के लिए। जायसी ने 'चीन्हा' छोड़ने के उद्देश्य से अपने ग्रन्थो की रचना की। इसलिए उन्हे अपनी रचनाओ मे काव्य की सभी विधियों का परिपालन करना पड़ा। वह काव्य शास्त्र के अच्छे जानकर भी थे। कबीर न तो काव्य-शास्त्र का 'क-ख' जानते थे और न उन्हे श्रोता अथवा पाठक की रुचि का ध्यान ही था। उन्हे जो कहना था उसे वह कभी दोहो में, कभी चौपाइयो में, कभी पदों मे, कभी बिरहो मे और कभी विभिन्न प्रकार की राग-रागिनियों मे कह देते थे। उन्होने न तो भाषा की चिन्ता की और न छन्दो की। उन्होंने यदि किसी बात की चिन्ता की तो केवल विचारो और भावों की। जायसी ने अपनी काव्य-साधना मे फूॅक-फूॅक कर कदम रखा और उसे उन्होंने सफल बनाया। रस, अलकार और छन्द दोनों ने अपनाये, पर एक ने उन्हें समझ-बूझ कर और दूसरे ने उनसे अपरिचित होकर अपनी साधना के उमंग मे ! इसलिए एक ने अपने आपको कवि बनाकर कवि सिद्ध किया, दूसरे ने कवि बनने की इच्छा न रखते हुए भी दूसरो की दृष्टि मे अपने आपको कवि सिद्ध कर दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी और कबीर, दोनो अपने-अपने मार्ग के समर्थ पथिक हैं। वे अपनी साधना मे एक दूसरे से मिले कम है, बिछुड़े अधिक हैं। दोनो की मानसिक वृत्तियाँ भिन्न हैं; दोनो के दार्शनिक सिद्धान्त भिन्न हैं, दोनों की साधना के साधन भिन्न हैं, दोनो की साधना के लक्ष्य भिन्न हैं और इस प्रकार की भिन्नता के कारण दोनों का महत्व भी भिन्न-भिन्न है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र के सिद्ध साधक और सफल मनीषी हैं।

---

३. सूरदास

जन्म-संवत् १५३५ : मृत्यु-संवत् १६४०

जीवन-परिचय

कृष्ण-भक्तों में अष्ट-छाप अर्थात् ब्रज के आठ कवीश्वरो का विशेष महत्त्व है। इन कवीश्वरो के नाम है : सूरदास (स० १५३५-१६४०), कुंभनदास (स० १५२५-१६३६), परमानन्ददास (स० १५५०-१६४०), कृष्णदास (स० १५५२-१६३५), छीत-स्वामी (स० १५६७-१६४२), गोविन्दस्वामी (सं० १५६२-१६४२), चतुर्भुजदास (सं० १५६७-१६४२), और नन्ददास (स० १५६०-१६३६)। इनमे से प्रथम चार महाप्रभु वल्लभाचार्य (स० १५३५-८७) के और अन्तिम चार श्री स्वामी बिट्ठलनाथ (स० १५७२-१६४४) के शिष्य थे।

अष्ट-छाप के कवियो में सूरदास प्रमुख हैं। 'निजवार्ता' के अनुसार उनका जन्म वैशाख शुक्ल ६, स० १५३५ को माना जाता है और उनकी जन्म-भूमि रुनकुता ग्राम मे बताई जाती है। यह स्थान आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क पर स्थित है। कुछ लोग उनकी जन्म-भूमि दिल्ली के निकट सोही नामक ग्राम (रेणुका-क्षेत्र) भी बताते हैं। गोस्वामी गोकुलनाथ-कृत 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' के अनुसार वह सारस्वत ब्राह्मण थे और एक दृष्टि-कूट के आधार पर ब्रह्म-भट्ट। पं० चन्द्रवली पांडे अन्तर्साक्ष्य के आधार पर उन्हे एक धनी जाट-कुल का मानते हैं। जो भी हो, इसमे सदेह नही कि सूर बाल्यावस्था से ही भगवान् के प्रेम में रग गए थे और रुनकुता के समीप यमुना के किनारे गऊ घाट पर साधु-जीवन व्यतीत करते थे। संगीत के प्रति उनकी स्वाभाविक रुचि थी। मस्ती के क्षणो मे वह अपना तानपूरा छेड़कर कुछ गुनगुनाया करते थे। यहीं महाप्रभु वल्लभाचार्य से उनकी भेट हुई। उन्होने स्वामीजी को स्वरचित पद गाकर सुनाए। उन्हे सुनकर स्वामीजी बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने

सूर को अपने धर्म में दीक्षित किया और श्रीमद्भागवत की कथाओं को सुललित गेय पदों में रूपान्तरित करने का आदेश दिया। यह सं० १५८० की घटना बताई जाती है। इसके अतिरिक्त उन्होने श्रीनाथजी के मन्दिर (सं० १५७६) की कीर्तन-सेवा का भार भी सूर को सौप दिया। उस दिन से अपने गोलोकवास तक भक्त सूर बराबर श्रीकृष्ण की पावन लीलाओं का गुण-गान करते रहे।

सूरदासजी अन्धे थे, पर वह जन्माध नहीं थे। गोवर्द्धन-पर्वत की तलहटी में स्थित पारसोली नामक ग्राम मे श्री विट्ठलनाथ के सामने उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

सूर की रचनाएँ

सूरदास-कृत पाँच ग्रन्थ बताए जाते हैं : (१) सूरसागर, (२) सूर-सारावली, (३) साहित्य-लहरी, (४) नल दमयन्ती और (५) ब्याहलो। इनमें से पिछले दो अप्राप्य हैं और उनके सूर-कृत होने में भी सन्देह है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(१) **सूर-सारावली (सं १६०५)**—यह ग्रन्थ स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर 'सूर-सागर' की अनुक्रमणिका-मात्र है। ऐसा जान पडता है कि सूर ने परम्परानुसार कुछ पदो की रचना कर उन्हे 'सूर-सागर' की भूमिका के रूप मे स्थान दे दिया है, पर यदि 'सारावली' और 'सूर-सागर' की तुलना सूक्ष्म रूप से और विस्तारपूर्वक की जाय तो उसमें ऐसे अनेक पद मिलेगे जो 'सूर-सागर' मे नहीं है। इससे कुछ लोगों को इसके सूर-कृत होने में भी सन्देह है। इसमे सूर के एक लाख पद लिखने की बात भी कही गई है।

(२) **साहित्य-लहरी (सं० १६०७)**—यह एक शास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें नायिका-भेद, अलकार एवं रस-निरूपण आदि के सबंध में बहुत-से पद कहे गए हैं। इसमे अनेक पद 'दृष्टिकूट' के भी हैं। ऐसे ही कुछ पद 'सूर-सागर' मे भी हैं। कुछ ऐसे पद भी है जो 'सूर-सागर' मे नहीं मिलते।

(३) **सूर-सागर (सं० १५८७ के बाद)**—यह सूर का प्रामाणिक ग्रंथ है। अन्य ग्रंथ वास्तव में इसी वृहत् ग्रंथ की छाया मात्र हैं। यह एक ग्रंथ नहीं, कई ग्रंथों का संग्रह है। इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि

यह प्रबन्ध-काव्य नहीं है। इसमें 'भागवत' के कृष्ण, वह कृष्ण जो सौन्दर्य, प्रेम और लीला के कृष्ण हैं, अपने प्रकृत रूप मे चित्रित किए गए हैं। 'महाभरत' के कृष्ण कर्मयोगी, राजनीतिज्ञ और शक्ति-सम्पन्न कृष्ण हैं। सूर पुष्टिमार्गी भक्त थे। इसलिए उन्होने कृष्ण के महाभारतवाले रूप को चित्रित न कर भागवतवाले रूप को ही चित्रित किया है और उसे बारह स्कधो में विभाजित किया है। पहले स्कंध में २१६ पद हैं। इन पदों मे अधिकांश पद विनय-सम्बन्धी हैं। दूसरे स्कन्ध में ३८ पद हैं। इसका अधिकाश भाग भक्ति, आत्मज्ञान और ब्रह्म तथा २४ अवतारों की उत्पत्ति से भरा हुआ है। तीसरे स्कन्ध मे १८ पद हैं। इसमें कई सम्वाद और कई कथाएँ हैं। चौथे स्कन्ध में १२ पद हैं। इसमें पार्वती-विवाह, शुक-वचन आदि का वर्णन है। पाँचवें स्कन्ध में केवल चार पद हैं। छठे स्कन्ध में भी चार ही पद हैं। इसमें अजामिल आदि की कथा है। सातवें स्कन्ध में ८ पद हैं। इसमें नृसिंहावतार की कथा प्रधान रूप से वर्णित है। आठवें स्कन्ध में १४ पद हैं। इसमें गज-मोचन, कूर्म-अवतार, समुद्र-मन्थन आदि की कथाएं हैं। नवें स्कन्ध में १७२ पद हैं। इसमें गङ्गावतरण, परशुराम-अवतार आदि की कथाएँ हैं। राम की कथा विस्तारपूर्वक है। दसवें स्कन्व के पूर्वार्द्ध में ३४६४ पद हैं। यह अंश 'सूर-सागर' का प्राण है। इसमें कृष्ण-जन्म से लेकर मथुरा-गमन तक की कथा है। दसवें स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में १३८ पद हैं। इसमे कृष्ण-कथा का उत्तरार्द्ध है। ग्यारहवें स्कन्ध में केवल ६ पद हैं। इसमें अवतारों की कथा है। बारहवें स्कन्ध में ५ पद हैं। इसमें बौद्धावतार आदि की कथा है। इस प्रकार 'सूर-सागर' में कुल पदों की संख्या ४०३२ है जिनमें से ३६३२ पदों में कृष्ण-लीला का गान है। कृष्णलीला के दो अश हैं-: (१) ब्रज-लीला और (२) द्वारिका-लीला। 'भागवत' में दोनों लीलाओ को समान महत्त्व दिया गया है, पर 'सूर-सागर' मे ब्रज-लीला के ३४६४ और द्वारिका-लीला के १३८ पद हैं।

सूर का समय

सूरदास की रचनाओं का अध्ययन करने से उनके समय का कुछ आभास मिल जाता है। उनके जीवन-परिचय से ज्ञात होता है कि

उनका जन्म बहलोल लोदी के शासन-काल (सं० १५०८-३६) मे हुआ था। उसकी मृत्यु के पश्चात् सिकन्दर लोदी (सं० १५३६-७४) बादशाह हुआ। हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार अच्छा नही था। उसने अनेक मन्दिर गिरवाकर उनके स्थान पर मसजिदे बनवाई थीं। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र इब्राहीम लोदी (सं० १५७४-८३) दिल्ली के राज-सिहासन पर आरूढ़ हुआ। इस घटना के दो वर्ष पश्चात् वृन्दावन के पूर्णमल्ल के मन्दिर मे श्रीनाथजी की स्थापना हुई। इस समय सूर अपने 'सूर-सागर' के प्रारम्भिक अंश की रचना कर रहे थे।

इब्राहीम लोदी बड़ा स्वर्थी शासक था। वह अफ़ग़ान अमीरो के प्रति अत्यन्त असभ्यतापूर्ण व्यवहार करता था। इससे भारत की राजनीतिक परिस्थिति अत्यन्त डाँवाडोल हो रही थी। कई राज्य अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर चुके थे और आपस मे लड़-झगड़ रहे थे। देश के राजाओ तथा योद्धाओ को देश की मर्य्यादा का कुछ भी ध्यान नही था। विदेशी शासको को भारत पर आक्रमण करने के लिए निमंत्रण देने मे उन्हें ज़रा भी संकोच नहीं होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि लोदी वंश का अत हो गया और सं० १५८३ के लगभग पानीपत की लड़ाई के पश्चात् मुगल-साम्राज्य स्थापित हो गया।

मुगल-साम्राज्य के आविर्भाव के पश्चात् हिन्दू-जाति तथा हिन्दू-धर्म का जिस प्रकार पतन हुआ वह इतिहास-प्रेमियो से छिपा नही है। मुसलमानी शासन के अन्तर्गत जहाँ हिन्दुओं की राजनीतिक व्यवस्था बिगड़ रही थी, वहाॅ उनके धर्म का स्वरूप भी विकृत हो रहा था। नये-नये मतो तथा नवीन प्रकार के साधु-सन्तों और योगियों ने हिन्दू-धर्म की मर्यादा नष्ट कर दी थी। साम्प्रदायिक भेद-भाव बढ़ते जा रहे थे। वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म में अत्यन्त शिथिलता आ गई थी। विजेता और विजित में परस्पर द्वेष की भावना इतनी बढ़ गई थी कि कबीर, जायसी, नानक तथा इसी प्रकार के अन्य साधु-सन्तों के उपदेश काम नहीं दे रहे थे। उस समय की जनता का, विशेषतः हिन्दू-जनता का उनसे कुछ भी बोध नहीं हुआ। आतताई, अत्याचारी और अन्यायी के दमन की उनके

कोरे उपदेशों में कोई व्यवस्था नहीं थी। हिन्दू-जनता को आवश्यकता थी ऐसे आदर्श महापुरुष की जो उन्हे उठाए, उन्हें गले लगाए, उनके आँसू पोछे और उनकी करुण-कहानी सुने। इसी प्रकार समस्त भारत को आवश्यकता थी एक ऐसे कुशल राजनीतिज्ञ की जो हिन्दू-मुसलमान को समान समझे और उनके बीच सद्भावना उत्पन्न करे। सौभाग्य से इन दोनो आवश्यकताओं की पूर्ति सोलहवी शताब्दी के प्रथम चरण में हो गई। भारत का भाग्य चमक उठा। हिन्दू-जाति ने राम और कृष्ण के रूप मे अपना भगवान पाया और भारतीय जनता ने अकबर (स० १६१३-६२) के रूप में एक कुशल, उदार और निष्पक्ष शासक।

साहित्यिक दृष्टि से सूर का समय अत्यन्त समृद्ध था। चन्दबरदाई (स० ११८३-४६) से मैथिल-कवि विद्यापति (सं० १४१७-१५०५) तक और फिर संत कबीर (सं० १४२५-१५०५) से जायसी (स० १५२०-६६) तक ऐसे अनेक भक्त-कवि मिलते हैं जो अपनी रचनाओ-द्वारा हिन्दी को गौरान्वित कर चुके थे। हिन्दी-साहित्य की नींव ही नही पड़ चुकी थी, उस नींव पर उसके इतिहास का भव्य भवन भी बनाया जा रहा था। जनता में उसके प्रति पर्याप्त अनुराग भी था। हिन्दू और मुसलमान, दोनों उसकी ओर आकृष्ट थे और डिंगल, अवधी तथा ब्रजभाषा मे सुन्दर रचनाएँ करते थे। उसे राज-दरबारों में भी सम्मान मिल रहा था। राज-दरबारों में अच्छे-अच्छे कवि थे जो अपने आश्रय-दाताओं का अपनी रचनाओं-द्वारा मनोरंजन करते थे। कबीर, दादू, नानक, अमीर खुसरो, रैदास, विद्यापति ठाकुर, धर्मदास आदि की रचनाए जनता की स्मृति में स्थान पा चुकी थीं और उनकी लोक-प्रियता स्थापित हो चुकी थी। ऐसे साहित्यिक वातावरण में सूर ने जन्म लेकर उसे एक नई दिशा प्रदान की और उसमें भक्ति और प्रेम की ऐसी धारा प्रवाहित की जिसमें अवगाहन कर आज भी हृदय तृप्त नहीं होता।

सूर का व्यक्तित्त्व

हिन्द-साहित्य के इतिहास में 'भक्ति-काल' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं गौरवयुक्त है। भक्ति-भावना की जैसी सुन्दर झलक इस काल के भक्त-कवियों के सरस स्फीत उद्‌गारों में देखने को मिलती है वैसी अन्यत्र दृष्टि-

गोचर नहीं होती । सूर भी इसी काल के कवि थे । वह पहले भक्त कवि थे जिन्होंने भारतीय भक्ति-पद्धति के रहस्य को पहचाना और अपने काव्य में कृष्ण के बाल और तरुण रूप को स्थान देकर भक्ति की अविरल धारा प्रवाहित की। जयदेव की जिस 'अनंग-रंग-रंजित भावना' का प्रस्फुटन 'गीत-गोविन्द' में हुआ था और जिसका स्पष्ट चित्रण मैथिल-कोकिल विद्यापति ने अपनी रचनाओं में किया था उसका परिमार्जन करना सूर का ही काम था। सूर ने ही अपनी भक्ति-भावना के प्रसार द्वारा तत्कालीन हिन्दू-जनता को वज्रयानी सिद्धों तथा नाथ-पंथी योगियों के दूषित प्रभावो से बचाया और उसे संतों की निर्गुणोपासना की ओर से सगुणोपासना की ओर उन्मुख किया। उन्होने ऐसे समय मे प्रेम की बंसी बजाई जब संपूर्ण भारत मत-मंतोंतारो और धार्मिक पाखंडों का अखाड़ा बना हुआ था और हम आदर्शहीन एवं अकर्मण्य होकर अज्ञानता के सागर में डुबकियाँ लगा रहे थे। उन्होंने ऐसे अवसर पर हमारा हाथ पकड़ा और कृष्ण के लोक-रक्षक रूप का उद्घाटन किया जब हमारा कोई नहीं था और हम अपने जीवन से निराश होकर आत्मघात करने पर उतारू हो गए थे। वह 'मसीहा' बनकर हमारे सामने आए। उन्होने हमारी नाड़ी देखी, उन्होने हमारा रोग पहचाना और फिर उन्हे हमें भक्ति-भावना से समन्वित ऐसी औषधि दी जिसे ग्रहणकर हम अपनी यातनाओं से मुक्त हो गए।

सूर सुधारक नही थे। समाज-सुधार का बीड़ा लेकर वह हमारे सामने नहीं आए। वह उपदेशक भी नहीं थे। उपदेश देने के लिए उन्होंने कृष्ण की पावन लीलाओं का गुण-गान नहीं किया। वह किसी संप्रदाय अथवा मत के प्रवर्तक भी नहीं थे। अपने समय के विभिन्न मत-मतांतरों के खंडन-मंडन से भी उन्होंने कोई सरोकार नहीं रखा। साधु-संन्यासियों, बड़े-बड़े पडितों एवं विद्वानों और आचार्यों से भी उन्होंने कभी लोहा नहीं लिया। छुआछूत के चक्कर में भी वह नही पड़े। किसी लोक-धर्म की स्थापना भी उन्होंने नहीं की। वह सदा प्रेम के गीत गाते रहे और इसके लिए उन्होंने अपनाया अपने इष्ट देव कृष्ण का प्रेममय जीवन, वह जीवन जो एक ओर नन्द-यशोदा और गोप-गोपियों का सर्वस्व था तो दूसरी ओर पूतना और

कंस के लिए सहारक। अपमान, निराशा और पतन के पंकिल में आपाद-मस्तक धँसी हुई जनता ने उनके इष्टदेव के रूप में पहले-पहल कृष्ण को पहचाना और उनपर अपना तन-मन-धन सब अर्पण कर दिया। इस प्रकार हिमालय पर्वत से कन्या कुमारी तक और अटक से कटक तक संपूर्ण भारत कृष्णमय हो गया। सूर की इस महान् देन का शब्दो में मूल्यांकन नहीं हो सकता।

सूर हमारे धार्मिक नेता ही नही थे, वह एक सुलझे हुए प्रौढ़ कवि भी थे। जिस समय उन्होने लेखनी उठाई उस समय कविता-कामिनी जीवन की सरसता के प्रति उदासीन होकर साधु-संतो और योगियो के अखाड़ों में समाधिस्त हो चुकी थी। सूर ने उसे उस क्षेत्र से बाहर निकालकर उसका शृंगार किया और उसे जीवन की समस्याओ से स्पदित एवं मंडित किया। संगीत-प्रेमी होने के कारण उन्होंने उसमें स्वरों की कोमलता भर दी, भक्त होने के कारण उन्होंने उसमें भाव भर दिये, कलाकार होने के कारण उन्होंने उसे अलकार-प्रिय बना दिया और कथाकार होने के कारण उसे उन्होंने जीवनपरक बना दिया। इससे उसका प्रकृत रूप निखर आया और वह जन-समाज के बीच अपना स्थान बनाने में समर्थ हो गयी। अपने इस नए रूप में उसने अपने युग के कवियों का ही नहीं, भावी युग के कवियों का भी पथ-प्रदर्शन किया। हिन्दी-कविता सूर का यह उपकार नहीं भूल सकती।

वैष्णव-भक्ति का विकास

हिन्दी-साहित्य के इतिहास के जिस युग में सूरदास का अभ्युदय हुआ उसे हम 'भक्ति-काल' (सं० १३७६–१७००) कहते हैं। इस काल में हमें मुख्यतः तीन प्रकार के भक्त-कवि मिलते हैं : (१) वेदान्त से प्रभावित संत-कवि, (२) कुरान से प्रभावित सूफी-कवि और (३) वैष्णव-धर्म से प्रभावित वैष्णव-भक्त-कवि। सूरदास इसी तृतीय प्रकार के भक्त-कवि थे। वह जिस वैष्णव-धर्म से प्रभावित थे उसका मूल स्रोत हमारा प्राचीनतम धर्म ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमें 'विष्णु' शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र मिलता है और उसका अर्थ प्रसंगानुसार कई रूपकों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। 'विष्णु' शब्द 'विश्' धातु से बना है जिसका अर्थ है प्रवेश करना। इस व्युत्पत्ति

के अनुसार विष्णु वह देवता हैं जिनका सब जगह प्रवेश हो। ऋग्वेद के कई प्रसंगो में वह चेतन-देवता माने गए हैं और 'आदित्य', 'वामन', 'गोपा', 'इन्द्र के योग्य सहायक' (इन्द्रस्य युजः सखा) आदि नामो से अभिहित हुए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में विष्णु नाम के चेतन देवता के प्रति लोगों में श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी, पर उसे कोई साम्प्रदायिक रूप नहीं मिला था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया और अन्यान्य धर्म-ग्रन्थों की रचना होती गई त्यों-त्यों चेतन देवता विष्णु को अन्य चेतन-देवाओं की तुलना मे प्राथमिकता मिलती गई और इन्द्र के सभी पर्याय हरि, केशव, वासुदेव, वृष्णीपति, वृषण, ऋषभ, बैकुंठ आदि उनके कई नामों एव उपाधियों के आधार बन गए। आगे चलकर उनका एक नाम 'नारायण' भी हो गया।

महाभारत-काल मे वैदिक-काल के चेतन-देवता विष्णु का और भी विकास हुआ। उन्हे नारायण या हरि का रूप समझकर माता, पिता एवं सारे ससार के शाश्वत गुरू की उपाधि भी दी गई। फिर भी उस काल के प्रमुख उपास्य देव विष्णु नहीं थे, अपितु वासुदेव थे। कुछ दिनों बाद पौराणिक-काल में जब वासुदेव और श्रीकृष्ण में तादात्म्य स्थापित किया गया तब उन्हे विष्णु का अवतार मान लिया गया। इस प्रकार एक नवीन वैष्णव-धर्म की स्थापना हो गई। वैष्णव का अर्थ है, विष्णु के उपासक। यह शब्द साम्प्रदायिक दृष्टि से 'महाभारत' के अठारहवें पर्व में प्रयुक्त हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि वैष्णव-धर्म की स्थापना महाभारत-काल में ही हो चुकी थी, परन्तु उस समय उसका वही रूप था जिसे हम 'भागवत धर्म' कहते हैं। ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी तक 'भागवत-धर्म', जिसे हम 'वैष्णव-धर्म' का प्राचीन रूप कह सकते हैं, का विशेष विकास नहीं हो सका। इसका कारण उस काल की जटिल एवं विषम ऐतिहासिक परिस्थितियाँ थीं। शकों और हूणों का चारों ओर आतंक था। शैव, शाक्त और बौद्ध-धर्म के अनुयायी सब पर हावी थे। परन्तु गुप्त-काल का प्रादुर्भाव होते ही जब 'भागवत-धर्म' को राज्य का आश्रय प्राप्त हुआ तब उसने एक सर्वथा नवीन रूप में लोक-जीवन के भीतर प्रवेश किया। विष्णु ब्रह्म की एक प्रधान शक्ति के रूप में

उपासित हुए और कृष्ण उनके अवतार माने जाने लगे।

गुप्तकालीन वैष्णव-धर्म की तीन प्रमुख विशेषताएँ थीं। पहली यह कि विष्णु देवाधिदेव थे और कृष्ण उनके पूर्ण अवतार, दूसरी यह कि अवतारों की पूजा होने लगी थी तथा उनके नाम एवं संख्या में परिवर्तन भी होने लगे थे और तीसरी यह कि विष्णु के साथ लक्ष्मी की भी पूजा आरम्भ हो गई थी। इन विशेषताओं से स्पष्ट है कि उस समय तक 'भागवत-धर्म' 'वैष्णव-धर्म' में पूर्णतया परिवर्तित हो चुका था। परन्तु गुप्त-साम्राज्य (सं० ३३२–६५०) का अन्त होते ही उत्तर भारत में उसकी शक्ति क्षीण हो गई। हर्षवर्द्धन (सं ६६३–७०४) आदि ने 'भागवत-धर्म' से भिन्न धर्म ग्रहण करने के कारण उसकी उन्नति मे कोई सहायता नहीं पहुँचाई। सौभाग्य से इस समय तक दक्षिण भारत पर उसका पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। वहाँ उसके वास्तविक स्वरूप का विवेचन भी आरंभ हो गया था। नवीं शताब्दी के आरंभ में स्वामी शंकराचार्य (सं० ८४५–७७) ने वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार उसकी जो आलोचना की उसके उत्तर में वैष्णव-आचार्यों ने भी गीता और उपनिषद् पर अपने-अपने भाष्य लिखे। उन्होंने वैष्णव-धर्म के आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन ही नहीं किया, बल्कि अपने-अपने सम्प्रदायो की स्थापना भी की।

उक्त सम्प्रदायों में सर्व प्रथम संप्रदाय था श्री संप्रदाय। रघुनाथाचार्य अथवा नाथमुनि ने 'न्यायतत्त्व' नामक एक संस्कृत-पुस्तक की रचना की और वैष्णव-धर्म का प्रचार किया। उनके पश्चात् दूसरे आचार्य पुंडरीकाक्ष और तीसरे आचार्य राम मिश्र हुए। चौथे आचार्य रघुनाथाचार्य के पुत्र यामुनाचार्य (सं० ९७३–१०९७) थे। उन्होंने वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत 'श्री-सम्प्रदाय' की स्थापना की। श्री रामानुजाचार्य (सं० १०८४–११९४), श्री वेदान्त देशिक (सं० १३२५-१४२६) तथा मनबल महामुनि (सं० १४२७-१५००) इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य थे। इन आचार्यों ने यह प्रतिपादित किया कि जीवात्मा और जगत दोनो परमात्मा के गुण विशेष हैं। इनके द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का रूप विशिष्ट बन जाता है। ब्रह्म के इस विशिष्ट रूप की उपलब्धि भक्ति द्वारा हो सकती है। अपने इस सिद्धान्त के

अनुसार श्री संप्रदाय के आचार्यों ने नारायण और लक्ष्मी की उपासना की और चारों वर्णों को अपनाया, पर अन्त्यजो के साथ खान-पान में भेद भाव रखा।

दूसरा संप्रदाय सनक-संप्रदाय था। इसके प्रवर्तक द्वैताद्वैतवादी स्वामी निबार्काचार्य (सं० ११७१-१२१६) थे। उनका मत था कि जीव, जगत और ईश्वर यद्यपि तीनो भिन्न हैं तथापि जीव एवं जगत का व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलंबित है। ईश्वर मे ही जीव और जगत के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। अपने इस सिद्धान्त के अनुसार उन्होने कृष्ण और राधा की उपासना को प्राथमिकता दी। इस लिए दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर भारत मे उनकी उपासना-पद्धति का अच्छा प्रचार हुआ और मथुरा उनके सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र बन गया। आचार्य हरिदास-द्वारा स्थापित 'टट्टी-संप्रदाय' उनके ही संप्रदाय के अन्तर्गत एक उप-संप्रदाय था।

तीसरा संप्रदाय था ब्रह्म-संप्रदाय जिसके प्रवर्तक मधवाचार्य अथवा आनंदतीर्थ (सं० १२५४-१३३३) थे। उन्हे न तो अद्वैतवाद जंचा और न रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद। उन्होने दोनों मतों का खण्डन कर द्वैतवाद का प्रचार किया। उन्होने यह सिद्ध किया कि 'ब्रह्म सूत्र' गीता और उपनिषदों में द्वैत मत का ही प्रतिपादन किया गया है। उनका कहना था कि विष्णु तो स्वतत्र हैं, पर जीव एवं जगत अस्वतंत्र पदार्थ हैं। ब्रह्म एवं जीव में सेव्य-सेवक भाव है जिस कारण दोनों कभी अभिन्न नहीं कहे जा सकते।

चौथा संप्रदाय था रुद्र-संप्रदाय अथवा पुष्टि मार्ग। इस संप्रदाय के प्रवर्तक वल्लभाचार्य (सं० १५३५-८७) थे। उन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखा और शुद्धाद्वैतवाद का प्रचार किया। उनका मत था कि परमात्मा ने अपने एकाकी रूप मे पूर्णतः प्रसन्न न रह सकने के कारण अपने को ही प्रकृति, जीवात्मा तथा अन्तर्यामी आत्मा में विभाजित किया। परमात्मा की इच्छा से ही प्रकृति में 'चित्त' एवं 'आनन्द' तथा जीवात्मा में केवल 'आनन्द' का अभाव है। परमात्मा मे 'सत्', 'चित्त' एवं 'आनंद' तीनों की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा है। अपने इस सिद्धान्त के अनुसार उन्होने

बताया कि परमात्मा सच्चिदानन्द है और उसकी शक्ति का नाम माया है जिससे रहित होने पर परमात्मा और जीवात्मा एक ही हैं। मायाधीन जीवात्मा को मोक्ष-ज्ञान तभी होता है जब परमात्मा की उस पर कृपा होती है। इस प्रकार उन्होने ईश्वरीय अनुग्रह को 'पुष्टि' की संज्ञा दी। पुष्टि-मार्ग में दीक्षित भक्त को उन्होने चार श्रेणियों मे विभाजित किया : (१) मर्यादा पुष्टि भक्त वह है जो ईश्वर के गुणो को जानता हुआ भक्ति करता है, (२) प्रवाह पुष्टि भक्त वह है जो कर्म में विशेष रुचि रखता हुआ भक्ति करता है, (३) पुष्टि पुष्ट भक्त वह है जो ईश्वर का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सर्वाधिक स्नेह सपन्न रहा करता है और (४) शुद्धि पुष्टि भक्त वह है जो प्रेमपूर्वक ईश्वर की सेवा एवं गुण-श्रवण-कीर्तन आदि मे मग्न रहता है। इन भक्तो के अवलब हैं, श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं जो सब दिव्य गुणो से संपन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। पुरुषोत्तम ही 'आनन्द' के स्रोत हैं और वह अपनी नित्य लीलाओं-द्वारा उसका विस्तार करते हैं। उनकी इन नित्य लीलाओं में प्रवेश करना ही जीव अथवा भक्त की सर्वोत्तम गति है। यही है वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग के सिद्धान्तो का सार। वल्लभाचार्य 'निवृत्ति मार्ग' की अपेक्षा 'प्रवृत्ति मार्ग' को अधिक श्रेयस्कर समझते थे। इसलिए उन्होंने अपना विवाह भी किया था और गोपीनाथ (सं० १५६७-१५६५) तथा विठ्ठलनाथ (सं० १५७२-१६४२) उनके दो पुत्र थे।

उक्त चारों सप्रदायों के अतिरिक्त एक पाँचवाँ संप्रदाय 'गौड़ीय संप्रदाय' भी था जिसके प्रवर्तक बंग प्रदेश के चैतन्य देव (सं० १५४२-७०) थे। उनकी भक्ति-भावना का रूप राधामय था। श्रीकृष्ण के प्रति प्रदर्शित भक्ति के उन्होंने पाँच भेद किए : (१) शांत रस की भक्ति, (२) दास्य भाव की भक्ति, (३) सख्य भाव की भक्ति, (४) वात्सल्य भाव की भक्ति और (५) मधुर भाव की भक्ति। इन पाँचों में से उन्होने अंतिम प्रकार की भक्ति को ही अपनाया। उनकी इस प्रकार की भक्ति वल्लभ-संप्रदाय के अनुरूप ही थी, पर वह परकीया-प्रेम की ओर विशेष झुकी हुई थी। उनकी उपासना का मुख्य साधन था, संकीर्तन। यह एक प्रकार की वैधी भक्ति थी जिसमें गुरु-सेवा, वैष्णव-सत्संग, भागवत-श्रवण, द्वारका अथवा मथुरा-निवास,

तुलसी-पूजन और एकादशी व्रत आदि को विशेष महत्त्व दिया जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिण भारत में स्वामी शंकराचार्य के मत का विरोध करने के लिए वैष्णवाचार्यों ने कृष्ण-भक्ति की जो धारा प्रवाहित की उसने प्रायः संपूर्ण भारत को रस-मग्न कर दिया। हिन्दी-साहित्य में भक्ति की इस धारा का प्रवेश अत्यन्त स्वाभाविक ढग से हुआ, राजनीतिक परिस्थिति की प्रतिक्रिया के रूप में नहीं। सूर ने अपने समय के विषम वातावरण से प्रभावित होकर कृष्ण की शरण नहीं ली। वह पलायनवादी नहीं थे। उनका मन तो पहले ही से कृष्ण के रंग में रंगा था और वह भक्ति की उस धारा से अभिषिक्त थे जो पौराणिक काल से प्रवाहित हो रही थी।

सूर की भक्ति का स्वरूप

सूर की रचनाओं में हमें उनकी भक्ति-भावना के दो रूप मिलते हैं : (१) सेव्य-सेवक-भाव की भक्ति और (२) सख्य-भाव की भक्ति। आरंभ में उनकी भक्ति का स्वरूप पहले प्रकार का था। उनकी इस प्रकार की भक्ति में वही विनय, वही दैन्य, वही आत्मसमर्पण और वही कारुण्य है जो तुलसी की भक्ति-भावना का शृंगार हैं। उनके इन पदों से :—

'कलि मैं नामा प्रकट ताकी छानि छवावै।
सूरदास की बीनती कोऊ लै पहुँचावै॥'

× × ×

'प्रीति जानि हरि गये विदुर कैं नामदेव घर छायौ।
सूरदास द्विज दीन सुदामा, तिहिं दारिद्र नसायौ॥'

ऐसा लगता है कि वह आरंभ में नामदेव (सं० १३२७-१४०७) के सगुण-निर्गुण-मार्ग से प्रभावित थे और उस समय तक वह किसी संप्रदाय में दीक्षित नहीं हुए थे। इतना ही नहीं, वह यह भी कहते हैं :—

'हरि-सुमिरन, नहिं गुरु की सेवा, मधुबन बस्यो न जाइ।
अबकी बार मनुष्य देह धरि, कियौ न कछू उपाइ॥
भटकत फिरयो स्वान की नाईं; नैकु जूठ कै चाइ।
कबहु न रिझए लाल गिरधरन, बिमल-बिमल जस गाइ॥

प्रेम-सहित पग-बांधि घूघरू, सक्यौ न अंग नचाइ।
श्रीभागवत सुनी नहिं स्रवननि, नैकहुँ-रुचि उपजाइ॥
आनि भक्ति करि हरि भक्तनि के कबहुँ न धोए पाइ।
अब हौ कहा करौ करुनामय! कीजै कौन उपाय॥
भव-अंबोधि, नाम निज नौका, सूरहि लेहु चढ़ाय।'

और इसके साथ ही यह भी गाते हैं :—

'आनंद-मगन राम-गुन गावै, दुःख संताप की काटि लनी।
सूर कहत जे भजत राम कौं, तिन सौ हरि सौं सदा बनी॥'

इसलिए यह मानने में किसी को सन्देह नहीं रह जाता कि सूर भक्त तो हो गए थे, पर वह एक ऐसे भक्त थे जिसका न तो कोई गुरु था, न कोई संप्रदाय और न कोई इष्ट देव। वह कभी 'लाल गिरधरन' की भक्ति करते थे तो कभी 'राम' की। 'भागवत'-कथाओं का अमृत-पान भी उन्होंने नहीं किया था। परन्तु जब स० १५८० मे स्वामी वल्लभाचार्य ने अपने सप्रदाय में उन्हें दीक्षित किया तब उनकी भक्ति-भावना में एक नया मोड़ उपस्थित हो गया और वह श्री कृष्ण की पावन लीलाओं का गुण-गान करने लगे। इस प्रकार उनकी सेव्य-सेवक भाव की भक्ति सख्य-भाव में परिवर्तित हो गई।

सूर की भक्ति का विकास तीन प्रसंगो में हुआ है : (१) कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं के प्रसंग में, (२) गोप-ग्वाल और श्रीकृष्ण के प्रसंग मे और (३) राधा और कृष्ण के प्रसंग में। कृष्ण की बाल-क्रीणाओं के प्रसंग में सूर की भक्ति सेवा-भाव की है। उनकी इस प्रकार की भक्ति पर वल्लभ-सम्प्रदाय का पूर्ण प्रभाव है और यही उनकी उपासना का मुख्य क्षेत्र भी है। इसमें उनकी वृत्ति भी खूब रमी हैं। क्यों? इसलिए कि उन्होंने कृष्ण के बाल-रूप मे :—

'अलख, निरंजन, निर्विकार, अच्युत, अविनासी।
सेवत जाहि महेश, शेष, सुर, माया, दासी॥
धर्म-स्थापना हेतु पुनि धारयो नर-अवतार।'

का दर्शन किया है। यही कारण है कि वह उनके इस रूप का सौ-सौ तरह

से वर्णन करते हुए नहीं अघाते और कहते हैं :—

'हमैं नंदनंदन मोल लिये।
जम के फंद काट मुकराए, अभय अजाद किये।'
× × ×
'सब कोउ कहत गुलाम श्याम को, सुनत सिरात हिये।
सूरदास कौ और बड़ो सुख, जूठनि खाइ जिये॥'
× × ×
'छबि सूरदास बलिहारी। मांगत कछु जूठनि थारी।
हरि तनक-तनक कछु खायौ। जूठन सब भक्तनि पायौ।'

सूर ने श्रीकृष्ण की बाल-क्रीड़ाओ को एक मनोविज्ञान के पंडित की भांति जाना और परखा है और माता-पिता के हृदय से उनका वर्णन किया है। इसलिए उनका शैशव-वर्णन शाश्वत है। पर इस क्षेत्र के बाहर गोप-ग्वाल और कृष्ण के प्रसङ्ग में सूर उनके सच्चे सखा हैं। माखन चुराने में, खेल-कूद मे, शरारत करने में, गोचारण में, गोपियो के छकाने में, झाँसा-पट्टा देने में, प्रेम-लीला में, लूट-खसोट मे प्रत्येक क्षण उनका और कृष्ण का साथ रहता है। वे कृष्ण से लड़ते-झगड़ते हैं और शीघ्र ही उनसे मिल भी जाते हैं; पर ईर्ष्या-द्वेष का नाम नहीं। वे कृष्ण को अपने से भिन्न नहीं समझते। कृष्ण और उनमें कोई अन्तर नहीं। दोनो एक हैं। मिलन और विरह के सुख-दुःख वे समान रूप से गोपियों की भाँति ही अनुभव करते हैं। सूर ने इन गोप-ग्वालों के हृदय में बैठकर, कृष्ण की कैशोर-लीलाओं का जी-भर आनन्द लिया है और अपने पदो में उनके अनूठे चित्र उतारे हैं।

सूर की सख्य-भक्ति का तीसरा स्वरूप है राधा और कृष्ण के प्रेम-प्रसङ्ग में। इस प्रकार के प्रसङ्गो में उनकी सख्य-भक्ति का पूर्ण रूप से विकास हुआ है। कृष्ण के सखा होने के नाते उन्होंने जिस प्रकार बाल-मित्र के रूप में बाल-कृष्ण की भक्ति की है उसी प्रकार एक तरुण-मित्र के रूप में वह तरुण-कृष्ण के प्रेम-व्यापारो में उनका साथ देते रहे हैं। इन अवसरो पर कृष्ण का उनसे कोई पर्दा नहीं है। वह बाहर भी कृष्ण के साथ हैं और अंतःपुर मे भी। कोई बात, कोई प्रेम

व्यापार उनसे छिपा नहीं है। कृष्ण का सारा प्रेम-व्यापार उनकी आँखों के सामने होता रहता है और वह उसके चित्र उतारा करते हैं। कृष्ण उचित कार्य कर रहे हैं अथवा अनुचित, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं। उन्हें चिन्ता है प्रत्येक दशा में उनके साथ रहने की। सूर कृष्ण के औचित्य-अनौचित्य को अपना औचित्य-अनौचित्य समझते हैं और इसीलिए वह शान्त रहते हैं। कृष्ण को उन्होने मित्र-रूप में इतना अपना लिया है कि वह कृष्ण के साथ एक प्राण दो शरीर हो गए हैं।

सूर की भक्ति-भावना के अन्तर्गत उनके कुछ ऐसे पद भी मिलते हैं जिनसे नवधा-भक्ति के सम्पूर्ण अंगों की—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—पूर्णतः पुष्टि होती है, पर नवधा-भक्ति के इन अंगो में भी उन्होने सख्य-भक्ति को ही प्राथमिकता दी है। उनके कुछ पदों से उनकी सगुण रहस्यवादात्मक भक्ति का भी आभास मिलता है। ऐसे पदों को उनकी भक्ति में गौण स्थान देना चाहिए।

सूर ने 'सूर-सागर' के तृतीय स्कन्ध में भक्ति के दो भेद किए हैं : (१) सकाम और (२) निष्काम। सूर की सखा-भक्ति सकाम है। सकाम-भक्ति-द्वारा भक्त क्रमशः उद्धार पा जाता है। वह धीरे-धीरे ब्रह्म तक पहुँचता है और विष्णु-पद मे लीन हो जाता है। निष्काम-भक्ति-द्वारा भक्त सीधा बैकुण्ठ में पहुँचता है और फिर जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता। भक्ति के ये भेद श्रीमद्भागवत के अनुसार हैं। इसी के आधार पर सूर ने कर्म-योग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग का वर्णन किया है और इन तीनों मार्गों-द्वारा भगवान की प्राप्ति को सम्भव सिद्ध किया है।

सूर के दार्शनिक विचार

सूर ने जिस युग मे अपनी भक्ति-भावना का रूप स्थिर किया था उस युग में यदि एक ओर शकराचार्य के मायावाद की धूम थी तो दूसरी ओर रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद, निंबार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद और मध्वाचार्य के द्वैतवाद का प्रचार था। इन वादों के साथ-साथ गोरखनाथ की विभूति भी फैली हुई थी और कबीर का निगुर्णवाद एवं सूफियों का प्रेमवाद

भी जन-जीवन में लोक-प्रिय हो रहा था। इस प्रकार सूर के सामने कई आकर्षण थे। पर उन्होंने इनमें से किसी को नहीं अपनाया। उन्होने वल्लभाचार्य के रूद्र-संप्रदाय अथवा पुष्टि मार्ग मे दीक्षा ली। पुष्टि-मार्ग उनकी प्रकृति के विशेष अनुकूल था। उसे उन्होने इसलिए नहीं अपनाया कि वह उसके दार्शनिक सिद्धान्तो से विशेष प्रभावित थे, बल्कि इसलिए कि वह श्रीकृष्ण के अनुग्रह पर आश्रित था। सूर यही चाहते थे और यही उनका लक्ष्य था। यही कारण था कि उन्होने अपनी भक्ति-भावना के निरूपण में कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त करने पर जितना ध्यान दिया उतना ध्यान उन्होंने उन साधानो पर नहीं दिया जिनका प्रतिपादन पुष्टि-मार्ग मे किया गया था। वह अपने लक्ष्य के सस्थापन मे पुष्टि-मार्ग के ऋणी थे, पर उस लक्ष्य की पूर्ति के साधनो में उन्होने अपनी स्वतंत्र प्रवृत्ति का परिचय दिया। उन्होंने 'भागवत' का अनुसरण किया, पर सर्वत्र नहीं है। उन्होने बाल-लीला के पद गाये, पर उसी को उन्होंने सर्वत्र महत्त्व नहीं दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने वल्लभाचार्य का उस रूप मे कभी गुण-गान भी नहीं किया जिस रूप में उनके पुत्र गोस्वामी बिट्ठलनाथ उनसे कराना चाहते थे। इससे स्पष्ट है कि वह पुष्टि-मार्गी थे अवश्य, पर वह पुष्टि-मार्ग से पूर्णतया प्रभावित नही थे उनके अपने दार्शनिक विचार इस प्रकार थे :—

(१) **ब्रह्म और कृष्ण संबंधी विचार**—सूर कृष्ण के भक्त थे। उनके कृष्ण पूर्ण ब्रह्म थे। वह निगुर्ण भी थे और सगुण भी। सूर ने उनके मुख से कहलाया है :—

'को माता, को पिता हमारे'

और फिर सूर स्वयं कहते हैं:—

'पिता-मात इनके नहिं कोई।
आपुहि करता, आपुहि भरता, निरगुन गये तो रहत हैं जोई॥'

सूर की इस भावना पर संत-मत का प्रभाव है। 'सूर-सागर' के अनेक पदों में उन्होंने इसी प्रकार कृष्ण के निर्गुण रूप का बखान किया है। साथ ही उन्होंने राम, शिव, हरि आदि की भी वन्दना की है, पर उन्हें देखा है सबको कृष्ण के ही रूप में। शिव के प्रति उनकी भावना का एक उदाहरण

लीजिए:—

'सखी री नन्दनन्दन देखु ।
धूरि धूसरि जटाजुटली हरि किये हर भेष ।'

× × ×

'देखि अंग अनंग झझक्यौ, नन्द सुत हर जान ।
सूर के हृदय बसौ नित स्याम-सिव कौ ध्यान ॥'

राम के प्रति भी उनकी ऐसी ही भावना है । देखिए, उनके नन्द-नन्दन सीता-हरण से कितने दुखी हैं:—

'तात बचन लगि राज तज्यो नित, अनुज घरिन संग भये बनचारी ।
धावत कनक मृग कै पाछैं, राजिव-लोचन परम उदारी ।
रावन हरन सिया कौ कीन्हौं, सुन नन्द-नन्दन नींद निवारी ।'

अन्य अवतारो की अपेक्षा सूर ने राम का गुण-गान अधिक किया है, पर उसमे उनका वृत्ति नहीं रमी है । वह राम की मर्यादा से प्रभावित होकर भी उसे पूर्णतयः नहीं अपनाते । अपनाते हैं वह पुष्टि को ही, पर चाहते हैं मर्यादा को भी । ऐसे ही अवसरों पर वह पुष्टि-मार्ग के अधानुकरण से बच गए हैं । उन्होने कृष्ण की शैशव-लीलाओ का ही नहीं, उनकी किशोरावस्था एवं तरुणावस्था की लीलाओं का भी चित्रण किया है ।

(२) **गोपियाँ और राधा संबधी विचार**—सूर कृष्ण के बहुवल्लभ हैं, पर वह राधा की ओर ही अधिक झुके हुए हैं । राधा और कृष्ण के बीच का प्रेम-संबन्ध देश-काल से सर्वथा मुक्त है, पर कृष्ण और गोपियों के बीच का प्रेम-संबन्ध इस प्रकार का नहीं है । गोपियाँ वेद की 'ऋचा' हैं । कृष्ण स्वयं कहते हैं :—

'वेद ऋचा होई गोपिका हरि सों कियो बिहार ।
जो कोई भरता-भाव हृदय धरि हरि को ध्यावै ।
नारि पुरुष को हुइ, श्रुति-ऋचा-गति सो पावै ।
तिनके पद-रज जो कोइ वृन्दावन-भू माहिं ।
परसै, सोउ गोपिका गति पावै, संशय नाहिं ।'

पर राधा के संबन्ध मे उनकी यह धारणा नहीं है:—

'द्वै तनु, जीव एक हम -तुम दोउ, सुख कारण उपजायो।'

स्पष्ट है कि जो कृष्ण हैं, वही राधा हैं—एक प्राण दो शरीर! 'विलास और और आनन्द के लिए एक प्राण दो शरीरों मे विभक्त हो गया है और वही राधा-कृष्ण के रूप में नित्य रास-लीला कर रहा है।' इस प्रकार तात्विक दृष्टि से उनमे कुछ भेद नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश और राम जैसे कृष्ण के विभिन्न रूप हैं वैसे ही उमा, रमा, सती और सीता 'राधा' के विभिन्न रूप हैं। राधा, कृष्ण, की शक्ति हैं। कृष्ण अपनी इसी शक्ति से अपनी लीलाओं का विस्तार करते हैं। इसलिए कृष्ण की साधना राधा की साधना और राधा की साधना कृष्ण की साधना है। बिना राधा के कृष्ण का रूप आधा है। राधा-युक्त कृष्ण ही पूर्ण हैं। यही सूर की साधना का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में वह रसवादी सखा-भाव के जीव हैं। कहना न होगा कि उनकी इस प्रकार की साधना पर यदि एक ओर पुष्टि-मार्ग का प्रभाव है तो दूसरी ओर सनक-सम्प्रदाय का। पुष्टि-मार्ग के अनुसार यदि हम 'राधा' को सच्चिदानन्द कृष्ण की माया मान लें तो सनक-सम्प्रदाय के अनुसार कृष्ण और राधा उनके सर्वस्व हैं।

(३) माया संबंधी विचार—श्री गुलाबराय के अनुसार सूर ने माया के तीन रूपो का वर्णन किया है: (१) माया का दार्शनिक रूप, (२) माया का सांसारिक रूप और (३) माया का राधा-रूप। पुष्टि-मार्ग के अनुसार सूर माया को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हैं। इसलिए ब्रह्म और माया दोनों एक-दूसरे से पृथक नही हैं, दोनों नित्य और सत्य हैं। यह तो हुआ माया का दार्शनिक रूप। अपने सांसारिक रूप में माया त्रिगुणात्मक है। वह सत्, रज और तम से मिलकर बनी है। सृष्टि का निर्माण वह अपने इन्हीं गुणों के संयोग से करती है और ब्रह्म पर अपना आवरण डाल देती है। इस प्रकार माया ब्रह्म को जीव की दृष्टि से छिपाकर अविद्या की जननी बनती है। अविद्या के अंधकार मे जीवात्मा माया के आवरण को सत्य समझ बैठता है और नाना भाँति के कष्ट भोगता है। माया-सम्बन्धी सूर की इस कल्पना पर संत-मत का प्रभाव है, परन्तु संतों की भाँति उन्होंने उसके प्रति कटु भाव प्रदर्शित नही किया है। भक्त होने के कारण उन्होंने

माया के अविद्या-रूप की उतनी निन्दा नहीं की है जितनी कि उसके भक्त-भावना के मार्ग मे बाधक-रूप की। भक्त माया के मोहकारी रूप के निन्दक रहे हैं और सन्त उसके अविद्या-रूप के। सन्त माया के अविद्या-रूप का विनाश ज्ञान-द्वारा करते है और भक्त उसके मोहकारी रूप का विनाश भगवान के अनुग्रहकारी रूप-द्वारा। सूर की भक्ति-भावना मे 'राधा' माया का ही अनुग्रहकारी रूप है। राधा-सम्बन्धी सूर की यह कल्पना हिन्दी के भक्ति-काव्य में अपना एक निजी महत्त्व रखती है।

(४) **भक्ति और मुक्ति संबंधी विचार**—मुक्ति का अर्थ है—जीव का जन्म-मरण के बंधन से छुटकारा पाना। सूर ने भक्ति को मुक्ति का साधन माना है, ज्ञान को नहीं। ज्ञान और योग-वैराग्य से भक्ति का स्थान बहुत ऊँचा है। ज्ञान और वैराग्य में जबतक भक्ति का समावेश नहीं होता तबतक कृष्ण का सामीप्य दुर्लभ है। भक्ति-द्वारा यह सहज ही प्राप्य है। इसलिए सूर-मुक्ति के लिए भक्ति पर ही बल देते हैं, परन्तु वह ऐसी मुक्ति नहीं चाहते जिससे जीव अपनी सत्ता खो बैठे। दार्शनिक शब्दों में वह सायुज्य मुक्ति के पक्षपाती नहीं हैं। वह शुद्धाद्वैत-द्वारा पोषित सानिध्य-मुक्ति चाहते हैं। इस प्रकार की मुक्ति में परमात्मा से मिलकर जीव अपनी सत्ता बनाए रखता है। कहने का तात्पर्य यह कि सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर सूर कृष्ण और राधा की रस-लीलाओं के आनन्द से वंचित होना नहीं चाहते। वह मुक्त होना चाहते हैं, पर अपना यह आनन्द खोकर नहीं। इसलिए वह मुक्ति में भी अपनी सत्ता बनाए रखने की कामना करते हैं। 'मुकुति आनि मन्दे में मेली' कहकर सूर की गोपियाँ सायुज्य मुक्ति का ही तिरस्कार करती हैं, सानिध्य-मुक्ति की नही। सानिध्य-मुक्ति ही भक्तों को प्रिय है, इसलिए कि इस प्रकार की मुक्ति में उपास्य और उपासक आमने-सामने रहते हैं। लौकिक जीवन में भक्त, पारलौकिक जीवन में भी भक्त, आरंभ मे भी भक्त और अन्त में भी भक्त। भक्त के लिए उसकी भक्ति ही उसका सर्वस्व है और भक्ति में ही उसकी मुक्ति है।

(५) **ज्ञान और भक्ति संबंधी विचार**—कृष्ण ज्ञान-द्वारा सुलभ हैं अथवा भक्ति-द्वारा? इस प्रश्न को सूर ने सीधे-सादे शब्दों में इस प्रकार

सुलझाया है :—

'रूप, रेख, गुन, जाति, जुगुत बिनु निरालंब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम बिचारहिं तातें 'सूर' सगुन-पद गावै॥'

'सगुन पद गावै' का अर्थ है—सगुणोपासना का समर्थन करना। सूर सगुणोपासक भक्त थे। ब्रह्म के सगुण रूप की भक्ति में मन को एक ठोस आधार मिल जाता है जिसमें उसकी चारो वृत्तियाँ : (१) शरीरिकी, (२) कार्यकारिणी, (३) ज्ञानार्जनी और (४) चित्तरंजनी—केन्द्रित हो जाती हैं और फिर वह अपने लघुत्व और ब्रह्म के महत्त्व का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार का अनुभव करते समय उसमे आत्म-ग्लानि, आत्म-निवेदन और आत्म-समर्पण-संबधी उच्च भावनाओं का उदय होता है। तात्पर्य यह कि भक्ति के लिए तीन बाते अपेक्षित हैं : (१) आलंबन के महत्त्व की स्वीकृति, (२) आलंबन के प्रति अनन्य प्रेम और (३) आलबन के प्रति दैन्य एवं आत्म-समर्पण का भाव। परन्तु निर्गुण की उपासना 'प्रेम' पर आधारित न होकर 'ज्ञान' पर आश्रित है। विचार अथवा ज्ञान द्वारा निर्गुण की पकड़ आसान काम नही है। 'मन-बानी कौ अगम-अगोचर' को ज्ञान-द्वारा बिरले ही पा सकते हैं और जो पाते हैं, वही जानते हैं। वे उसके बारे मे दूसरो को कुछ बता नही सकते। सूर को यह अभीष्ट नहीं है। वह चाहते हैं, कृष्ण के रंग मे सबको रंग देना। इसलिए वह कृष्ण की शक्ति, उनके सौन्दर्य और उनके शील का वर्णन करते है और कहते हैं चलो, देखो :—

'नटवर वेष धरे ब्रज आवत।
मोर-मुकुट मकराकृत कुंडल, कुटिल अलक मुख पर छबि पावत॥'

कृष्ण के इस रूप पर कौन नहीं रीझेगा? यही है भक्ति का मर्म! इसका मतलब यह नहीं कि सूर ने ज्ञान का तिरस्कार किया है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह भक्ति-विरोधी ज्ञान के समर्थक नही थे। भक्ति के क्षेत्र में वह ज्ञान को उसी सीमा तक महत्त्व देते थे जिस सीमा तक वह उसके विकास में सहायक हो सके। तात्पर्य यह कि संत-मत के ज्ञान-मार्ग के वह कायल नहीं थे। वह मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय को, ज्ञान की अपेक्षा भक्ति

को महत्त्व देते थे।

(६) सामाजिक विचार—सूर तुलसी की भाँति न तो दार्शनिक थे और न समाजवादी थे, वह केवल भक्त थे। इसलिए उनकी रचनाओं में उनकी सामाजिक-मान्यताओं को खोजना अनुचित प्रयास ही होगा। फिर भी हमे इतना समझ लेना चाहिए कि भक्ति-भावना के क्षेत्र में क्या ब्राह्मण और क्या शूद्र, उनके लिए सब बराबर थे। उनकी दृष्टि में भक्त का महत्त्व था, उसकी जाति का नहीं। वह सब को कृष्ण की भक्ति का अधिकारी समझते थे। उनकी इस उदार भावना ने उनके युग की हिन्दू-जनता को कितना बल दिया—यह शब्दों में नहीं आका जा सकता। कहा जा सकता है कि जाति-पाँति के क्षेत्र में संत भी इसी उदार भावना से ओत-प्रोत थे, पर उनकी इस भावना का आधार हृदय नहीं, मस्तिष्क था। फलतः मस्तिष्क तो इसे स्वीकार करता था, पर हृदय नहीं। सूर ने जाति-पाँति के बन्धनों की व्यर्थता सिद्ध की भक्ति के आधार पर जिसमें हृदय से हृदय का मेल था। यही कारण है कि उनकी भक्ति-भावना से प्रभावित होकर शूद्र ही नहीं, मुसलमान भी कृष्ण-भक्ति की ओर झुके और उन्होंने अपनी अनन्य भक्ति का परिचय दिया।

सूर की प्रेम-साधना

सूर के श्रीकृष्ण प्रेममय हैं। प्रेममय श्रीकृष्ण के लीला-गान में सूर का विषय भी प्रेम ही है। उनका 'सूर-सागर' प्रेम का अथाह सागर है। उसमें प्रेम के विविध रूपों की तरंगें उठती हैं और अन्ततः भगवद्भक्ति में पर्यवसति हो जाती हैं। पुत्र और माता का प्रेम, पुत्र और पिता का प्रेम, गोप-गोपियों का प्रेम, प्रिय और प्रिया का प्रेम, भक्त और भगवान का प्रेम, पति और पत्नी का प्रेम, भाई-भाई का प्रेम, इन समस्त प्रकार के प्रेम-व्यापारों में स्वार्थ-साधन की गन्ध नहीं है। उनकी दृष्टि में सच्चे प्रेम की यह परिभाषा है :—

'प्रेम प्रेम ते होइ, प्रेम ते पारहि पइये।
प्रेम बंध्यो संसार, प्रेम परमारथ लहिये।
एकै निश्चय प्रेम को जीवन मुक्त रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को जेहि रे मिलैं गोपाल।'

प्रेम प्रेम से उत्पन्न होता है। प्रेम से ही भव-सागर पार किया जा सकता है। प्रेम में ही समस्त ससार बँधा पड़ा है। प्रेम से ही परमार्थ प्राप्त होता है। प्रेम के निश्चय से ही रसीली जीवन-मुक्ति प्राप्त होती है। प्रेम का निश्चय ही सत्य है, क्योंकि वही भगवद्भक्ति का सुलभ साधन है। यह सत्य प्रेम विरहानुभव के बिना प्रस्फुटित नहीं होता। सूर कहते हैं:—

'ऊधौ! बिरही प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि, पुट गहै रसहि परै॥

यह है सत्य प्रेम के प्रस्फुटन के लिए विरह का महत्त्व! इस महत्त्व को साधु-सन्तों और भक्तों ने समान रूप से स्वीकार किया है। सूर ने भी इसीलिए वियोगिनी गोपिकाओं तथा राधा के प्रेम के चित्र उतारे हैं। उन चित्रों में जो तन्मयता है, जो उफान है, जो ज्वार है, जो वेदना और टीस है उसे सूर का वियोगी हृदय ही समझने में सफल हुआ है। सूर अपने काव्य में सर्वत्र प्रेमी हैं। उनके भगवान प्रेम के भूखे हैं। भक्तों के प्रेम के कारण ही वह अवतार लेते हैं, गर्भ की यातनाएँ सहते हैं और नन्द-पुत्र कहलाते हैं। भक्तों के प्रति भगवान का यह प्रेम-संकल्प है:—

'हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुनु अर्जुन परतिज्ञा मेरी, यह ब्रत न टरत न टारे॥
भक्तनि-काज लाज जिय धरिकै, पाइ पियादे धाऊँ।
जँह-जँह भीर परै भक्तनि कौ, तँह-तँह जाइ छुडाऊँ॥
जो भक्तन सौं बैर करत हैं, सो बैरी निज मेरौ।
देख बिचारि भक्त-हित-कारन, हाँकत हौं रथ तेरौ॥
जीतै जीति भक्तन अपने कै, हारैं हारि बिचारौ।
सूरदास सुनि भक्ति-विरोधी, चक्र सुदरसन धारौ॥'

भगवान के इस व्रत मे जो प्रेम का स्फीत उद्गार है वही भक्तों का सर्वस्व है। सूर ने भगवान के मुख से इस व्रत का स्पष्टीकरण कराकर सब के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया है। सूर की रचनाओ मे प्रेम के दो पक्ष हैं: (१) लौकिक और (२) आध्यात्मिक। इन दोनों पक्षों का सबल और समन्वित चित्रण ही सूर के काव्य का लक्ष्य है। सूर ने वास्तव में प्रेम के

लौकिक रूप पर ही प्रेम के आध्यात्मिक रूप का ताना-बाना बुना है। गोप-गोपिकाओं का, यशोदा का, राधा का, समस्त ब्रज मण्डल का कृष्ण के प्रति जो सहज अनुराग है, वह है तो ऐहिक, पर उसके मूल में सूर के आध्यात्मिक प्रेम का प्रस्फुरण हुआ है। सूर ने स्थान-स्थान पर 'गोपी-पद-रज-महिमा' गाई है। उनकी गोपियाँ वेद की ऋचाएँ हैं जो लीला के लिए साकार हो गई हैं। इसी प्रकार कृष्ण के बाल-सखा उनके परम भक्त हैं जो उनकी प्रत्येक लीला मे उनके साथ आनन्द-विभोर रहते हैं। सारी ब्रजभूमि कृष्ण का लीला-स्थल है, परब्रह्म का गोलोक है जहाँ साकार रूप में वह अपने भक्तो और अपनी शक्तियो सहित विहार करते हैं। समस्त 'सूर-सागर' में सूर का यही दृष्टिकोण उन्हें भक्त और कवि बनाने में समर्थ हुआ है।

सूर के काव्य-विषय

सूर का 'सूर-सागर' हिन्दी की एक अद्भुत कृति है। यह न तो 'प्रबन्ध-काव्य' है, न 'चरित-प्रबन्ध काव्य' और न 'कथा-प्रबन्ध काव्य'। इसकी रचना मे सूर का ध्यान न तो कृष्ण-चरित पर रहा है और न उनकी जीवन-गाथा पर। इसमे उन्होने कृष्ण के सगुण-रूप और उनकी लीलाओं का ही वर्णन किया है। अतः प० चन्द्रबली पांडे के शब्दो मे 'जहाँ लीला में कथा इष्ट है, वहाँ पक्का प्रबन्ध है, परन्तु जहाँ रस और भाव की बात है वहाँ मुक्तक की झड़ी है।' इसलिए उनका कहना है कि 'सूर-सागर' 'भाव-प्रबन्ध-काव्य' है, 'वस्तु-प्रधान' अथवा 'चरित-प्रधान' नहीं। इस दृष्टि से 'सूर-सागर' को हम दो रूपो मे विभाजित कर सकते हैं: (१) मुक्तक रूप में और (२) प्रबन्ध रूप में। इसका यह आशय नहीं कि सूर ने 'सूर-सागर' मे 'मुक्तक' और 'प्रबन्ध' का अलग-अलग विधान किया है। यह विभाजन तो अध्ययन की दृष्टि से है। ध्यान से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि 'मुक्तक' में भी 'प्रबन्ध' है और 'प्रबन्ध' में भी 'मुक्तक' है। केवल 'मुक्तक' और केवल 'प्रबन्ध' के रूप मे जो पद हैं उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं हैं। इसीलिए 'सूर-सागर' को 'भाव-प्रबन्ध-काव्य' कहा गया है।

रचना की दृष्टि से 'सूर-सागर' के समस्त पदों को हम सात भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) विनय के पद,
(२) अवतार के पद,
(३) कृष्ण-जन्मोत्सव के पद,
(४) बाल-विनोद के पद,
(५) भावती लीला के पद,
(६) दर्शनिक तत्त्व-संबंधी पद और
(७) भ्रमर-गीत।

विनय के पद सर्वथा मुक्तक हैं। इन पदो में सूर ने कहीं अपने इष्ट देव की स्तुति की है, कहीं भक्ति की महिमा का गान किया है और कहीं सन्त-महिमा, गुरु-महिमा तथा सत्सग-महिमा का बखान किया है। अवतार के पद प्रबन्ध-प्रधान हैं जिनमें से कुछ बड़े हैं, कुछ छोटे मुक्तक के रूप में। इनकी योजना कृष्णावतार के पहले भी की गई और इसके बाद भी। बाद वाले पद अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अवतार की कथाएँ एक ही पद में कही गई हैं तो कुछ कई छोटे-छोटे पदो में। परन्तु स्थान प्रायः सभी अवतारों को दिया गया है। कृष्ण-जन्मोत्सव के पदों से ही वस्तुतः 'सूर-सागर' का आरभ होता है। इन पदो में सूर ने नंद-गृह की शोभा, बधाई, ढाढ़ी-ढ़ाढ़िन और बंदी-जन तथा भिक्षुकों की भीड़-भाड़ एवं आनन्द-समारोहों का मनमोहक वर्णन किया है। सूर की सेवा-भाव की भक्ति का आभास इन्हीं पदों से मिलने लगता है और वह बाल-विनोद के पदों मे अपनी चरम-सीमा पर पहुँच जाता है। बाल-विनोद के पदों में कृष्ण के शैशव और बाल्य-काल की मनोरम लीलाओं के वर्णन हैं। शैशव-काल की लीलाओं में जो पद कहे गए हैं वे हैं तो मुक्तक, किन्तु उनमें से अधिकांश ऐसे भी हैं जो किसी-न-किसी प्रबन्ध पर आधारित हैं। साथ ही यह भी देखा जाता है कि उनमें से कुछ अद्भुत लोला के पद भी है। विषय की दृष्टि से उनमें छट्ठी, पालना-झूलन-संबंधी पद, गोद-क्रीड़ा-संबंधी पद, रूप-वर्णन-संबंधी पद, अन्न-प्राशन-संबंधी-पद,

वर्षगाँठ-संबंधी पद, घुटुरुवन-चलन-संबंधी पद, पाँव-चलन-संबंधी पद तथा नन्द-यशोदा-और गोपिकाओं के उल्लास-सबधी पद आते हैं। कृष्ण की बाल-लीलाएँ उनकी ४-५ वर्ष की अवस्था से प्रारंभ होती हैं। इन लीलाओं के वर्णन में मोहन के मैया मैया कहने, माखन-रोटी माँगने, खाने-पीने, मथानी पकड़कर खेलने, आँगन मे अपनी परछाईं पकड़कर खेलने, चन्द्रमा के लिए हठ करने, सोने-जागने, कलेवा करने, गोप-बालकों के साथ बाहर जाकर खेलने, माखन चुराने, गो-चराने, फटकारने, दुलराने तथा कन-छेदन आदि संबंधी मुक्तक आते हैं। इन लीलाओं के वर्णन में सूर की वृत्ति खूब रमी है और यही उनकी उपासना का क्षेत्र भी है।

भावती-लीलाएँ कृष्ण की किशोरावस्था से संबंधित हैं। इन लीलाओं का आरंभ गुप्त रूप से बाल-लीलाओं के अन्तर्गत होता है और उनका चरम उत्कर्ष होता है 'रास-लीला' में। यही लीलाएँ सूर सदा देखना चाहते हैं। इनके दो रूप हैं : (१) प्रकट और (२) गुप्त। ये दोनों रूप किसी-न-किसी प्रबन्ध पर आधारित हैं, किन्तु भावों की झोंक में प्रबन्ध दब गया है। इसीलिए ये मुक्तक-से प्रतीत होते हैं। इनमें कहीं ऐश्वर्य का वर्णन है तो कहीं माधुर्य का। इनमें उनके पठन-पाठन से उत्पन्न होनेवाले फल की ओर भी सूर ने संकेत किया है। चीर-हरण लीला, मान-लीला, दान-लीला, पति-पत्नी-लीला, मान मोचन-लीला तथा होली, बसन्त, मुरली, रास आदि के वर्णन इन के अतर्गत आते है। 'सूर-सागर' के दशम स्कन्ध में इन लीलाओं को मुख्य-स्थान मिला है। रस की दृष्टि से इनमें संयोग शृङ्गार का वर्णन है और इनकी रचना पर जयदेव तथा विद्यापति के गीत-काव्य का प्रभाव है। सूर ने इनमें व्यंजित मधुर-रस को ही अपनी साधना का लक्ष्य बनाया है। शृङ्गार के वियोग पक्ष से सम्बन्ध रखनेवाले सूर के वे पद हैं जिन्हे हम भ्रमर-गीत कहते हैं। इसके पदों में सगुण और निर्गुण भक्ति का अत्यन्त सुन्दर और भावात्मक विवेचन है। इन पदों में सूर ने अपने दार्शनिक विचारों को इस प्रकार व्यक्त किया है कि वे भाव प्रधान होकर अत्यन्त सरस, चुटीले और मार्मिक हो गए हैं।

सूर की काव्य-साधना

काव्य में तीन तत्त्व होते हैं : (१) बुद्धि-तत्त्व, (२) कल्पना-तत्त्व और (३) भाव-तत्त्व। इन तीनो तत्त्वो के सुन्दर समन्वय मे ही काव्य का प्रादुर्भाव होता है। सूर का 'सूर सागर' इन तीनो तत्त्वो से समन्वित है। उसमें भाव-तत्त्व प्रमुख और कल्पना एवं बुद्धि-तत्त्व गौण है। भाव-तत्त्व के अन्तर्गत 'वात्सल्य' और 'रति' का विशद चित्रण 'सूर-सागर' की विशेपता है। इसके अतिरिक्त उसकी एक विशेषता और है और वह है उसका दार्शनिक पक्ष जिसके अन्तर्गत 'भ्रमर गीत' का आयोजन हुआ है। इस प्रकार संक्षेप में सूर की काव्य-साधना के तीन रूप हैं : (१) वात्सल्य-वर्णन (२) रति-वर्णन और (३) भ्रमर-गीत। इन तीना को 'सूर-सागर' के दशम स्कन्ध मे स्थान दिया गया है। यहाँ हम इन्ही तीनो पर विचार करेंगे :—

(१) वात्सल्य-वर्णन—सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी-साहित्य मे ही नहीं, विश्व-साहित्य मे अद्वितीय है। इसके अन्तर्गत सूर ने कृष्ण के जन्म से उनकी बाल्यावस्था तक के शब्दिक चित्र अंकित किए हैं। कृष्ण उनके लिए साधारण शिशु हैं, बालक है और इसके साथ ही परब्रह्म भी हैं। इसलिए उन्होने अपने वात्सल्य-वर्णन मे बालकृष्ण के दोनों रूपों : (१) लौकिक और (२) अलौकिक का चित्रण किया है। बालकृष्ण के लौकिक रूप-चित्रण के अन्तर्गत जन्मोत्सव-सम्बन्धी पद, संस्कार-सम्बन्धी-पद और बाल-चरित-सम्बन्धी पद आते हैं। बाल-चरित्र-सम्बन्धी पदो में बाल-कृष्ण की दो लीलाएँ चित्रित की गई है : (१) माखन-चोरी-सम्बन्धी लीलाएँ और (२) गोचारण-सम्बन्धी लीलाएँ। बालकृष्ण के अलौकिक-रूप-चित्रण के अन्तर्गत पूतना, तृणावर्त, शकट, काग, धेनुक, वत्स, नाग आदि से सम्बन्धित पौराणिक कथाओ का वर्णन है। वात्सल्य-वर्णन का यह अंश कथा-प्रधान होने के कारण उतना सरस और भावात्मक नही है जितना उसका लौकिक अंश। बालकृष्ण के लौकिक चरित अत्यन्त स्वाभाविक, हृदय-स्पर्शी और मोहक हैं। अध्ययन का सुविधा की दृष्टि से उसे हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं : (१) गोकुल-लीला और (२) वृन्दावन-लीला। वसुदेव-देवकी के घर श्रीकृष्ण मथुरा में गुप्त रूप से जन्म लेकर

गोकुल में नन्द-यशोदा के घर प्रकट हुए हैं। इस अवसर पर संपूर्ण गोकुल सौन्दर्य का सागर बन गया है :—

'सोभा-सिन्धु न अंत रही री।
नंद-भवन भरि पूरि उमगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री।'

और उल्लास का यह हाल है :—

'बहुत नारि सुहाग-सुंदरि और घोष-कुमारि।
सजन-प्रीतम नाम लै-लै, दै परस्पर गारि॥
अनद अति सै भयो घर-घर, नृत्य ठावँहि ठावँ।
नँद-द्वारे भेंट लै-लै उमह्यौ गोकुल गाँव॥'

कृष्ण के अवतीर्ण होते ही नन्द-यशोदा का सोया भाग जाग उठा है। दोनो के हर्ष-उल्लास का ठिकाना नहीं है। यशोदा के उल्लसित हृदय मे बैठकर सूर ने उनकी अभिलाषाओं का जो चित्र उतारा है उसे इन पंक्तियो मे देखिए :—

'जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दांत दूध के देखौं, कब तोतरै मुख बचन झरै।
कब नन्दहिं बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहि ररै।'

सूर ने माता के वात्सल्य-पूर्ण हृदय को जितने विस्तार से परखने की चेष्टा है उतने विस्तार से विश्व के किसी कवि ने उसे परखने और समझने की चेष्टा नहीं की है। माता अपने शिशु को कैसे पालना में झुलाती है, कैसे उसे सुलाती है, कैसे उसे दूध पिलाती है, कैसे उसे गोद मे खेलाती है, कैसे उसके शैशव-कालीन संस्कारो के लिए अपने पति से प्रस्ताव करती है, कैसे उसकी रूप-माधुरी पर मुग्ध होकर अपने मन मे कल्पनाएँ करती है, कैसे उसे चलना सिखाती है, कैसे उसे नहलाती-धुलाती है, तात्पर्य यह कि माता और शिशु के बीच होनेवाला कोई भी ऐसा व्यवहार नहीं हैं जो सूर की पैनी आँखों से ओझल हुआ हो। लगता है, उन्होने अपने जीवन का प्रत्येक क्षण नन्द और यशोदा के साथ रहकर व्यतीत किया है और गुप्त रूप से उनके मनोभावों का चित्र एक सफल चित्रकार की भाँति उतारा है। यशोदा

अपने शिशु को चलना सिखा रही हैं। इसका एक शब्दिक चित्र देखिए :—

'सिखवति चलन यशोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरे पैया।'

और जब वह चलने लगते हैं तब :—

'चलत देखि जसुमति सुख पावै।
ठुमकि, ठुमकि पग धरनी रेंगत, जननी देखि-दिखावै
देहरि लौं चलि जात, बहुरि फिरि फिरि इतहीं कौं आवै।
गिरि-गिरि परत, बनत नाहिं नाँघत,सुर-मुनि सोच करावै।'

कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि सूर ने स्वतत्र रूप से अकेले कृष्ण के शैशव-कालीन विनोद का जी भर आनन्द लूटा है। उस समय का उनका एक चित्र देखिए :—

'सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुनि चलत, रेनु तन-मंडित, मुख दधि-लेप किये।
चारु कपोल, लोल लोचन, गो-रोचन तिलक दिये।
लट लटकनि मनु मत्त मधुप-गन, मादक मधुहि पिये।
कठुला-कंठ, बज्र के हरि-नख, राजत रुचिर हिये।
धन्य सूर एकौ पल इहि सुख, का सत कल्प जिये।'

सूर के लिए वह स्वतत्र क्षण कितना पवित्र, कितना महान और कितना उल्लासप्रद है, यह सूर ही जानते हैं। यह सूर की उपासना का क्षण है जिसकी बराबरी वह 'सत कल्प' जीकर भी नहीं कर सकते। ऐसे ही चित्र वह देखना चाहते हैं। ऐसे ही चित्रों के अंकन में उनकी वृत्ति रमती है और वह अलौकिक आनन्द का अनुभव करते हैं। शिशु-चेष्टा के इस चित्र को उतारने में वह कहाँ से कहाँ पहुँच गए है, यह निम्न पंक्तियों में देखिए :—

'चरन गहे अँगुठा मुख मेलत।
नंद-घरनि गावति, हलरावति, पलना पर हरि खेलत॥
जो चरनारबिंद श्री-भूषन, उरतें नैंकु न टारति।
देखौ धौं का रस चरननि मैं, मुख मेलत करि आरति॥

जा चरनारबिंद के रस कों सुर-मुनि करत विषाद।
सो रस मोहूँ को दुरलभ, तातें लेत सवाद॥'

सूर नन्द और यशोदा के ही हृदय में नही उतरे है, उन्होंने बाल कृष्ण के सरल हृदय मे भी प्रवेश किया है। बालकों में जो सहज स्पर्द्धा, चपलता, चचलता, उलाहना देना, हठ करना आदि की भावना होती है उसके भी स्फीत चित्र उन्होने उतारे हैं। बाल-स्पर्द्धा का रस इन पंक्तियों में लीजिए :—

'मैया! कबहिं बढ़ैगी चोटी?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी-ज्यौं, ह्वै है लांबी मोटी।'

और देखिए उनके बालकृष्ण शिकायत करने में कितने उस्ताद हैं :—

'मैया! मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसों कहत मोल कौं लीन्हौं, तू जसुमति कब जायौ।
कहा करौं इहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात?'

इतनी सुन्दर गढ़ी हुई शिकायत से बाल-जीवन का सौन्दर्य फूटा पड़ता है। सूर ने ऐसी शिकायतों की सृष्टि में अपने हृदय की सारी सरलता उँडेल दी है। बाल-मनोविज्ञान में उनकी पहुँच कहाँ तक है, इसका अनुमान इन पंक्तियों से लगाइए :—

'मैया! मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटयौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायौ।
हौं जू कहत नान्हें कर अपनैं मैं कैसें करि पायौ।'

यह है सफेद झूठ! पनिहारिनों को तग करने में, गोपिकाओं के वस्त्र नोचने मे, खेल मे बाजी हार जाने पर दाँव न देने में, अपनी बारी आने पर सब को थका देने मे, माखन चुराकर खाने में सूर के बालकृष्ण कितनी बार झूठ बोले हैं, कैसी मीठी-मीठी बातें उन्होने बनाई हैं, कैसे अपने गोप-ग्वालों को छकाया है, इससे 'सूर-सागर' भरा पड़ा है। उलाहना मिलने पर

उनके बालकृष्ण की अच्छी तरह मरम्मत भी हुई है। पाँच वर्ष की अल्पावस्था में ही उन्होने गोकुल में इतना उत्पात किया कि बेचारे नन्द बृन्दावन मे आकर रहने लगे।

वृन्दावन में बालकृष्ण की शरारतों ने दूसरा रूप धारण कर लिया। उन्हें गाय चराने की धुन सवार हुई। यशोदा से हट करने लगे :—

'आजु मैं गाइ चरावन जैहौं।
बृन्दावन के भाँति भाँति फल अपने कर मैं खैहौं'।

पाँच वर्ष का बालक और गोचरण की कठिनाइयाँ! यशोदा समझाती हैं, भय दिखाती हैं, परन्तु उनके अनुनय-विनय का बालकृष्ण पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। वह जाते हैं, बन-बन घूमते हैं, तरह-तरह के खेल खेलते हैं, मुरली बजाते हैं, सब को रिझाते हैं और फिर यह शिकायत लेकर आते हैं :—

'मैया! हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसों, मेरे पाइ पिराइ।
जौ न पत्याहि, पूछि बलदाउहिं, अपनी सौंह दिवाइ।'

कितना भोलापन है इस शिकातत में और कितनी सुन्दर योजना है गवाही की बात मे! न बलराम कसम खाएगे और न भेद खुलेगा! सूर के बालकृष्ण ने अपने इस भोलेपन से अनेक अवसरो पर लाभ उठाया है। इस प्रकार जहाँ उन्होने लौकिक चरित्र-द्वारा सब के मन पर विजय प्राप्त की है वहाँ उन्होने अलौकिक-चरित्र द्वारा सब को आश्चर्य चकित भी किया है। गोकुल में पूतना-बध और काग-बध तथा वृन्दावन में कालीदमन आदि सम्बन्धी लीलाओ में उन्होने अपने जिस अलौकिक रूप की प्रतिष्ठा की है वह उनके भक्तो की उपासना का क्षेत्र विस्तृत करने में समर्थ है। उनके इस रूप को यदि हम किसी रस की परिभाषा मे व्यक्त करना चाहें तो हम इसे अद्भुत रस कह सकते हैं।

(२) रति-वर्णन—रति-वर्णन के अन्तर्गत कृष्ण की भावती लीलाओं को स्थान दिया जाता है। इन लीलाओ का केन्द्र वृन्दावन है। परन्तु इनका आभास गुप्त रूप से गोकुल मे ही मिलने लगता है। गोकुल में

माखन-चोरी करते समय गोपिकाओं से जो छेड़छाड़ होती है वही इन लीलाओं की पृष्ठिभूमि हैं। गोकुल की एक गोपिका की शिकायत सुनिए:—

'ग्वालिनि उरहन के मिस आई।
नंद-नंदन तन-मन हरि लीन्हौं, बिनु देखें छिन रह्यो न जाई॥
सुनहु महरि अपने सुत के गुन, कहा कहौं किहि भाँति बनाई।
चोली फारि, हार गहि तोरयौ, इन बातनि कहौ कौन बड़ाई॥
माखन खाइ, खवायौ ग्वालनि, जो उबरयौ सो दियौ लुढ़ाई।
सुनहु 'सूर' चोरी सहि लीन्ही, अब कैसे सहि जाति ढिठाई॥'

गोपिका के उक्त उलाहने में जो 'रति' का भाव है वह सूर की सेवा-भक्ति के कारण गोकुल में दब गया है, पर वृन्दावन के उन्मुक्त वातावरण में वह उभर आया है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वृन्दावन सूर की उपासना का क्षेत्र नहीं, उनकी साधना का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में उनकी भक्ति 'सखा-भाव' की है। इसलिए उनकी तत्सम्बन्धी रचनाओं मे माधुर्य का प्राबल्य है। पद मुक्तक ही हैं, पर उनमें कही प्रबन्ध प्रधान है, कहीं भाव! आलम्बन कृष्ण हैं, वही कृष्ण जो यशोदा के लिए बालक, पर गोपिकाओं के लिए भाँति-भाँति की केलि करनेवाले तरुण कृष्ण! उनके प्रति गोपिकाओं का जो रति-भाव है वह धीरे-धीरे बढ़ता है और अन्त में 'महारस' का रूप धारण करता है। 'रति-भाव' के दो उद्दीपन विभाव हैं: (१) कृष्ण का रूप और (२) कृष्ण की मुरली। आश्रय भी दो हैं: (१) गोपिकाएँ और (२) राधा। सूर ने अपने रति-वर्णन में गोपिकाओं को राधा से अलग रखा है। कृष्ण किस कौशल से गोपियों को बुलाते, उन्हें खिझाते और उन्हे रिझाते हैं, इसे 'सूर-सागर' में कहीं भी देखा जा सकता है। कृष्ण के रूप-सौंदर्य से प्रभावित गोपियों की दशा का चित्र इन पंक्तियो में देखिए:—

'स्याम-अँग जुवती निरखि भुलानी।
कोउ निरखति कुंडल की आभा, इतनेहिं माँझ बिकानी॥
निरखि कपोल निरखि कोउ अटकी, सिथिल भई ज्यों पानी।
देह-गेह की सुधि नहिं काहूँ, हरषति कोउ पछितानी॥'

और फिर वही गोपिकाएँ कहती हैं :—

'नैननि सौं झगरौ करिहौ री।
कहा भयो जौ स्याम-संग है, बाँह पकरि सम्मुख लरिहौं री॥
जन्महिं ते प्रतिपाल बड़े किये, दिन-दिनकौ लेखौ करिहौं री।
रूप-लूट कीन्हीं तुम काहे, अपने बाँटे को धरिहौं री॥
एक मातु-पितु, भवन एक रहे, मैं काहैं उनकौ डरिहौ री।
सूर अंस जो नही देहिगे, उनकैं रंग मै हूँ ढरिहौ री॥'

गोपिकाओ की यह सहज ईर्ष्या आँखो के प्रति ही नही, वरन् उस मुरली के प्रति भी है जो कृष्ण के अधर-रस का निरन्तर पान करती रहती हैं :—

'मुरली कहै सु स्याम करैं री।
वाही कैं बस भए रहत हैं, बाकैं रंग ढरैं री॥
घर-बन, रैन-दिना संग डोलत, कर तैं करत न न्यारी।
आई बन बलाइ यह हमकौ, कहा दीजियै गारी॥'

अपने नयन और कृष्ण की मुरली के प्रति गोपिकाओं का यह ईर्ष्या भाव तरुण कृष्ण के प्रति उनके गुप्त अनुराग का द्योतक है। इस गुप्त अनुराग का उद्घाटन होता है चीर-हरण लीला के अवसर पर। जब कृष्ण ने 'बसन हरे सब कदम चढ़ाए' तब गोपिकाएँ कहती हैं :—

'हमरे अंबर देहु मुरारी।
लै सब चीर कदम चढि बैठे, हम जल-माँझ उघारी॥'

गोपिकाओं के इस अनुनय-विनय पर कृष्ण चीर नही देते, कहते हैं :—

'लाज ओट यह दूरि करौ।
जोइ मैं कहौं, करौ तुम सोई, सकुच वापुरिहि कहा करौ॥
जल तैं तीर आइ कर जोरहु, मैं देखौं, तुम बिनय करौ।
पूरन व्रत अब भयौ तुम्हारौ, गुरु जन-संका दूरि करौ॥'

भावती-लाली का आरभ इसी चीर-हरणलीला से होता है। इस लीला में चीर-हरण का उद्देश्य केवल 'गुरुजन-सका' का निवारण करना है। जब तक यह शंका बनी है, तब तक 'रति-भाव' की भक्ति हो ही नहीं सकती। शंका, भय, लज्जा, संकोच आदि रति-भाव के विकास में

बाधक हैं। कृष्ण इसी बात की ओर संकेत करते हैं और कहते हैं 'अब अंतर मो सौं जनि राखहु।' और यदि अंतर रखोगी, मुझसे पर्दा करोगी तो फिर मैं तुम्हें प्राप्त नहीं हो सकूँगा। भावती-लीला के आरंभ में कृष्ण के इस संकेत का महत्त्व समझ लेने के बाद गोपिकाओं के चरित्र पर आक्षेप करने का स्थान नहीं रह जाता। कृष्ण कहते हैं :—

'जप-तप करि तनु अब जनि गारौ। तुम घरनी, मैं कन्त तुम्हारौ।
सरद रास तुम आस पुराऊँ। अंकम भरि सब कौ उर लाऊँ'॥

गोपिकाएँ अपने-अपने घर जाती हैं, परन्तु उन्हें चैन कहाँ! जैसे-तैसे शरद ऋतु आती है और वे कृष्ण के पास पहुँचती हैं! कृष्ण कहते हे :—

'यहि बिधि वेद-मारग सुनौ।
कपट तजि पति करौ पूजा, कहा तुम जिय गुनौ।
कन्त मानौ भव तरौगी, और नहिंन उपाय।
ताहि तजि क्यों बिपिन आईं, कहा पायौ आई॥'

देखा कृष्ण की परीक्षा लेने का ढङ्ग! कैसी उल्टी शिक्षा दे रहे हैं वह! कोई डिगे तो डिग जाय, पर गोपियाँ डिगनेवाली नहीं है। वे कहती हैं :—

'तुम पावत हम घोष न जाहीं।
कहा जाहि लैहैं ब्रज में हम, यह दरसन त्रिभुवन मैं नाहीं॥
तुमहू तें ब्रज हितू कोऊ नहि, कोटि कहौ नहि मानैं।
काके पिता, मात हैं काके, काहूँ हम नहिं जानैं॥
काके पति, सुत-मोह कौन को, घर हौं कहाँ पठावत।
कैसो धर्म, पाप है कैसो, आस-निरास करावत॥
हम जानैं केवल तुमहीं कौ, और वृथा संसार।
सूर स्याम निठुराई तजियै, तजियै वचन-विकार॥'

पास हो गईं गोपिकाएँ कृष्ण की परीक्षा में और फिर कृष्ण ने उन्हें अंगीकार किया। यदि आप गोपिकाओं के इस प्रेम-प्रसंग पर ध्यान दीजिए तो पता चलेगा कि उन्होंने वेद की ऋचाएँ होकर भी वेद-मार्ग का अनुसरण नहीं किया, अनुसरण किया भक्ति-मार्ग का। इस प्रकार सूर

गोपियों के माध्यम से वेद-मार्ग पर भक्ति-मार्ग की विजय घोषित करते हैं।

राधा की स्थिति गोपिकाओं की स्थिति से विभिन्न है। दार्शनिक-दृष्टि से गोपिकाएँ यदि वेद की ऋचाएँ हैं तो 'राधा' ब्रह्म की शक्ति 'माया'। जैसे 'ब्रह्म' और 'माया' अभेद हैं उसी प्रकार कृष्ण और राधा। कृष्ण राधा से जब यह बात कहते हैं :—

'प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु, बातनि भेद करायौ।
जल-थल जहाँ रहौ, तुम बिनु नहिं, बेद उपनिषद गायौ।
द्वै तन जीव-एक हम दोऊ, सुख कारन उपजायौ।'

तब राधा कहती हैं :—

'नेह पुरातन जानि स्याम की अति आनन्द भई।
प्रकृति पुरुष, नारी मैं, वै पति, काहै भूलि गई।
को माता, को पिता, बंधु को, यह तौ भेट नई।
जन्म-जन्म, जुग-जुग यह लीला, प्यारी जानि लई।
सूरदास-प्रभु की यह महिमा, यातैं बिबश भई।'

यह है राधा और कृष्ण के बीच प्रेम-सम्बन्ध का रहस्य! इस अटूट सम्बन्ध का लौकिक आभास राधा और कृष्ण को उस समय मिलता है जब वह एक दिन खेलते-खेलते यमुना-तट पर पहुँचते हैं और वहाँ एक सुन्दर बालिका को देखकर उससे पूछते हैं :—

'बूझत स्याम कौन तू गोरी।'

और फिर इसी पूछ-ताछ मे :—

'प्रथम सनेह दुहुँनि मन जान्यौ।
नैन नैन कीन्हीं सब बातैं, गुप्त प्रीति प्रगटान्यौ॥'

यही गुप्त प्रीति प्रकट होकर 'लीला' का रूप धारण करती है। प्रश्न उठता है कि राधा-माधव के बीच होनेवाली इस प्रेम-लीला मे राधा स्वकाया हैं अथवा परकीया। इस प्रश्न का उत्तर 'सूर-सागर' के पदो के आधार पर ही दिया जा सकता है। 'सूर-सागर' मे राधा के दो रूप हैं : (१) रास-लीला के पहले का और (२) रास-लीला के बाद का। 'रास-लीला के पूर्व राधा का रूप एक कन्या अथवा अनूढ़ा का रूप है। राधा

का यह रूप ही कृष्ण मे रति का आलम्बन है। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने की बात है कि कृष्ण, राधा पर अनुरक्त होते हुए, भी लौकिक दृष्टि से, उनसे प्रेम का प्रस्ताव नहीं करते। प्रेम का प्रस्ताव करती हैं राधा और वह भी तब जब नन्द कहते है :—

'कह्यौ बृषभानु की कुँवरि सों बोलिकै,
राधिका! कान्ह घर लिए जा री।'

सूर ने राधा-द्वारा प्रेम का प्रस्ताव किए जाने के लिए भागवत पर आधारित जिस प्रसंग की चर्चा की है वह लौकिक दृष्टि से एक अनूढ़ा के लिए स्वाभाविक ही है। एकान्त मिला नहीं कि फल यह होता है :—

'नवल गोपाल, नवेली राधा, नये प्रेम-रस पागे।
अन्तर बन बिहार दोऊ क्रीडत, आपु-आपु अनुरागे॥'

परन्तु गुप्त बात कभी-न-कभी प्रकट होकर ही रहती है। फलतः वृन्दावन की गली-गली मे राधा-कृष्ण के गुप्त प्रेम की चर्चा होने लगती है। राधा की माता राधा को समझाती-बुझाती हैं, नन्द के घर जाने से उसे रोकती हैं, बालिकाओ के साथ खेलने के लिए आदेश देती है, परन्तु इससे होता कुछ नही। राधा के रोम-रोम मे कृष्ण बस गए है। वह निकलें भी तो कैसे निकलें! वियोग के क्षण कोटे नही कटते। ऐसी स्थिति मे जब एक दिन राधा कृष्ण को देख पाती हैं तब वह यह कहने से नही चूकती :—

'मातु-पिता अति त्रास दिखावत।
भ्राता मोहिं मारन कौ धिरवै, देखे मोहिं न भावत॥'

और फिर कहती हैं :—

'कुल की कानि कहाँ लगि करिहौ।
तुम आगें मैं कहौ जु साँची, अब काहू नहिं डरिहौ॥'

इसलिए :—

'प्राननाथ हो! मेरी सुरति किन करौ।'

'सूर-सागर' में राधा-कृष्ण के इस गुप्त प्रेम-व्यापार की ओर हम अश्रद्धा की दृष्टि से नही देखते। इसके दो कारण हैं : पहला तो यह कि सूर ने आरभ मे ही उनको प्रकृति-पुरुष के रूप मे प्रतिष्ठापित कर दिया है

और दूसरा यह कि लौकिक दृष्टि से इस सपूर्ण प्रेम-व्यापार के पीछे नन्द और यशोदा का हाथ है। तात्पर्य यह कि सूर ने सर्वत्र राधा के अनूढ़ा-रूप की रक्षा की है और उसे कलंकित होने से बचाया है।

राधा का दूसरा रूप है रास-लीला के बाद का रूप। परन्तु यह रास क्या है ? इस पहले सूर के शब्दो मे जान लीजिए :—

'जाको व्यास वरणत रास।
है गन्धर्व-विवाह, चित्त दै सुनो विविध विलास॥'

स्पष्ट है कि महर्षि व्यास ने जिसे 'रास' की सज्ञा दी है वह वस्तुतः कृष्ण का राधा के साथ गधर्व-विवाह है। इस विवाह के फलस्वरूप राधा अपने ऊढा अथवा विवाहिता रूप मे हमारे सामने आती है। सूर ने गन्धर्व-विवाह के आयोजन-द्वारा जहाँ राधा के उच्छृङ्खल प्रेम को एक ओर संयत कर दिया है वहाँ दूसरी ओर उन्हे गोपकाओ की श्रेणी से पृथक भी कर दिया है। अब विचारणीय यह है कि राधा की स्थिति स्वकीया की है अथवा परकीया की ? ऊपरी दृष्टि से देखने पर राधा स्वकीया-सी जान पड़ती है; पर वह स्वकीया हैं नहीं, इसलिए कि उनका प्रेम न तो प्रकट है और न उनके माता-पिता एवं समाज-द्वारा समर्थित। ऐसी दशा में हम उनके प्रेम को परकीया-प्रेम ही मान सकते हैं। अपने इस परकीया-प्रेम-द्वारा ही उन्होने कृष्ण पर ऐसा जादू डाला है कि :—

'स्याम भए राधा-वस ऐसे।
चातक स्वाति, चकोर-चंद-ज्यौं, चक्रवाक-रवि जैसे॥'

और फिर :—

'तादिन ते वृषभानु नन्दिनी अनत जान नहिं दीन्हीं।
सूरदास प्रभु प्रीति पुरातन यहि विधि रस बस कीन्हीं॥'

वृन्दावन मे राधा और कृष्ण के बीच यह प्रेम-व्यापार गुप्त रूप से ही चलता रहता है। इसमे न तो किसी प्रकार का कल्मष है और न किसी प्रकार का अश्रद्धा का भाव ! गोपिकाएँ, राधा की सखियाँ और राधा—सब कृष्ण के प्रेम-सागर मे डूबती-उतराती हैं, पर सब मे संयम बना हुआ है, सब समझती और जानती-बूझती है कि कृष्ण परब्रह्म हैं, अन्तर्यामी हैं। सूर

के रति-वर्णन की यह विशेषता हिन्दी के वैष्णव-काव्य में अद्वितीय है।

(३) भ्रमर-गीत—सूर की काव्य-साधना का तीसरा रूप है, भ्रमर गीत। यह सूर के काव्य का दार्शनिक पक्ष है, जिसकी प्रतिष्ठा वियोग की भाव-भूमि पर की गई है। यो राधा के मान करने अथवा कृष्ण के अन्तर्ध्यान होने पर वृन्दावन मे वियोग के क्षण आए है, परन्तु जिस वियोग की भाव-भूमि पर भ्रमर-गीत की रचना हुई है वह क्षणिक वियोग नही, दीर्घ कालीन है और उसका सम्बन्ध कृष्ण के मधुपुरी-प्रवास से है। एक दिन सुफलक-सुत वृन्दावन आते हैं और कृष्ण तथा बलराम को लेकर मधुपुरी चले जाते हैं। ब्रज के निवासियो को कृष्ण का इस प्रकार चले जाना अखर जाता है और वे उनके वियोग मे तड़पने लगते हैं। माता यशोदा रो-रो कर कहती हैं :—

'मिलन आस तन प्रान रहत हैं, दिन दस मारग ज्वैहौं।
जौ न सूर आइहै इते पर, जाइ जमुन धँसि जैहौं॥'

और गोपिकाओ का यह हाल है :—

'हरि कौ मारग दिन प्रति जोवति।
चितवत रहत चकोर चंद-ज्यौं, सुमिरि-सुमिरि गुन रोवति।'

विरह के इसी सच्चे रूप पर सूर ने भ्रमर-गीत की रचना की है। यह सूर की अपनी कल्पना नही है। इस का विस्तृत परिचय भागवत के दशम स्कन्ध के ४६वे तथा ४७वे अध्याय में मिलता है। सूर ने उसी के आधार पर तीन भ्रमर-गीत लिखे हैं। उनका पहला भ्रमर-गीत चौपाई में लिखा गया है। यह भागवत का छायानुवाद है। इसमे ज्ञान-वैराग्य की विशेष चर्चा के पश्चात् ज्ञान पर भक्ति की विजय घोषित की गई है। गोरख-पंथियो, सहजयानी सिद्धो और निर्गुण-उपासक संतो की 'बानियो' का तत्कालीन हिन्दू जनता पर जो प्रभाव था उसका वर्णन उद्धव के मुख से कराकर सूर ने अपनी गोपिकाओ-द्वारा उसका उपहास कराया है। उद्धव कहते हैं :—

'हृदय कमल में ज्योति विराजै। अनहद नाद निरन्तर बाजै॥
इड़ा-पिंगला सुखमन नारी। सून्य सहज में बसैं मुरारी॥'

× × ×

'आपुहि पुरुष, आपु ही नारी। आपुहि वानप्रस्थ व्रतधारी ॥
आपुहि पिता, आपु ही माता। आपुिह भगिनि, आपु ही भ्राता ॥'

गोपिकाएँ उत्तर देती हुई कहती है :—

'बार-बार ये बचन निवारे। भक्ति बिरोधी ज्ञान तुम्हारे ॥
होत कहा उपदेसे तेरे। नयन सुबस नाहीं अलि! मेरे ॥'

इसी प्रकार उद्धव और गोपियों के बीच वाग्युद्ध होता है। इसमें सूर की कोई मौलिक सूझ-बूझ नहीं है। इससे कुछ आगे बढा हुआ सूरका दूसरा भ्रमर-गीत है। यह उनकी मौलिक रचना है और पदो मे है। इसमें उद्धव का गोपियों को उपदेश, गोपियो का उद्धव को उपालभ, उद्धव का कृष्ण के पास लौटकर गोपियो की अवस्था का वर्णन और कृष्ण का मूर्च्छित होकर गिरना—सब कुछ एक ही छन्द मे भर दिया गया है। पहले भ्रमर-गीत की भांति इसमें भी मधुकर नाम से उद्धव को संबोधित कर उपालभ दिया गया है जिससे भ्रमर की व्यंजना हो जाती है। भ्रमर के आने और उसके गुंजन करने का स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

सूर का तीसरा भ्रमर-गीत ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अध्येय है। भागवत मे भ्रमर-गीत के प्रसंग के अन्तर्गत गोपिकाओ की भक्ति की रक्षा करते हुए भी भागवतकार ने ज्ञान के विरुद्ध एक शब्द भी नही कहा है और अन्त में उद्धव के ज्ञान-सदेश से उन्हे संतोष-लाभ करते हुए ही चित्रित किया है। परन्तु सूर के भ्रमर-गीत का यह उद्देश्य नहीं है। उनका उद्देश्य है, उद्धव का ज्ञान-गर्व विगलित करना और निर्गुणोपासना के स्थान पर सगुणोपासना की प्रतिष्ठा करना। उनके इस उद्देश्य की पूर्ति में गोपिकाएँ उनकी सहायिका है। उद्धव निर्गुणोपासक हैं, उन्हे अपने ज्ञान का गर्व है। यह गर्व टूटे कैसे? भगवान सोचते हैं :—

'यह तो करत जोग की बातैं, जामैं रस जरिजात ॥'

× × ×

'प्रेम भजन न नैकु याकै, जाइ क्यों समुझाई।
सूर प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहिं देउँ पठाए ॥'

इतना सोचना था कि भगवान ने उद्धव से कहा :—

'तुरत ब्रज जाहु उपँग-सुत आजु ।
ज्ञान बुझाइ खबरि दै आवहु, एक पंथ द्वै काज ॥
जब तैं मधुवन कौ हम आए, फेरि गयौ नहिं कोइ ।'

उद्धव आ गये उनके कहने में। जाने के लिए तैयार हो गये। इधर वह मथुरा से ब्रज को रवाना हुए, उधर :—

'जबहिं चले उधौ मधुबन तैं, गोपिन मनहिं जनाइ गई ।
बार-बार अलि लागे स्रवननि, कछु दुख, कछु हिय हष भई ॥
जँह-तँह काग उडावन लागी, हरि आवत उड़ जाहिं नही ।
समाचार कहि जबहि मनावति, उडि बैठत सुनि औचकहीं ॥'

ऐसे शुभ सगुन होने लगे और फिर इस घटना के कुछ देर बाद ही सारे ब्रज मे यह समाचार फैल गया :—

'कोउ माइ ! आवत है तनु स्याम ।
वैसे पट, वैसिय रथ-बैठनि, वैसीयै उर-दाम ॥
जो जैसे तैसैं उठि धाईं, छाँडि सकल गृह-काम ।'

परन्तु जब उन्हे मालूम हुआ कि वह श्याम नहीं, कोई और हैं तब उनकी जो दशा हो गई उसका शब्द-चित्र इन पंक्तियों मे देखिए :—

'परी मुरछि धरनी ब्रजबाला, जो जहँ रही सुताहीं ॥
सपने की रजधानी ह्वै गई, जो जागी, कछु नहीं ।
बार-बार रथ ओर निहारहिं, स्याम बिना अकुलाहीं ॥'

इस प्रकार सूर ने वियोग की जिस भाव-भूमि पर अपने भ्रमर-गीत के दार्शनिक पक्ष की प्रतिष्ठ की है वह इतनी सटीक और उपयुक्त है कि उद्धव कुछ कहने के पहले ही अपने उद्देश्य मे विफल हो जाते है। जब गोपिकाएँ बार-बार उनसे कुछ कहने के लिए अनुरोध करती है तब वह कहते हैं :—

'कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन, छाँडि विषय बिकार ।
सूर पाती दई लिखि मोहिं, पढ़ौ गोप-कुमारि ॥'

गोप-कुमारियाँ पाती ले तो लेती हैं, पर उनकी दशा कैसी होती हैं, यह भी सूर के शब्दों में सुन लीजिए :—

'निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावाति लै छाती।
लोचन-जाल कागद-मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम, स्यामजू की पाती ॥'

× × ×

'कोउ ब्रज बाचत नाहिन पाती।
कत लिखि-लिखि पठवत नंद-नन्दन कठिन विरह की काँती ॥
नैन सजल, कागद अति कोमल, कर-अँगुरी अति ताती।'
परसैं जरै, बिलोकै भीजै, दुहूँ भांति दुख छाती ॥'

गोपिकाओ की यह दशा देखकर उद्धव समझाते हैं—

'जानिकर बावरी जनि होहु।
तत्व भजैं वैसी ह्वै जैहौ, पारस परसै लोहु।
मेरौ वचन सत्य करि मानौ, छाँडौ सब कौ मोहु ॥'

परन्तु उनकी इन बातो को वहाँ सुनता कौन है! गोपिकाएँ कहती हैं :—

'उधौ! कही सु फेरि न कहिऐ।
जौ तुम हमै, जियायौ चाहत, अनबोल ह्वै रहिऐ।'

× × ×

'ऊधौ! हमहिं न जोग सिखैयै।
जिहि उपदेस मिलै हरि हमकौ, सो ब्रत-नेम बतैयै ॥'

× × ×

'इहिं उर माखन-चोर गड़े।
अब कैसैं निकसत सुनि ऊधौ! तिरछे ह्वै जु अड़े ॥'

× × ×

'तौ हम मानैं बात तुम्हारी।
अपनौ ब्रह्म दिखावहु ऊधौ! मुकुट पितांबर धारी ॥'

× × ×

'ऊधौ! जोग जोग हम नाहीं।
अबला सार-ज्ञान कह जानैं, कैसे ध्यान धराहीं ॥
तेई मूँदन नैन कहत हौ, हरि मूरति जिन माही।
ऐसी कथा कपट की मधुकर! हम तैं सुनी न जाहीं ॥'

उद्धव सबकी सुनते हैं, पर टस-से-मस नहीं होते। अकेले किससे-किससे उलझे! फिर उनकी यह दशा देखकर एक गोपी खीझ उठती है और कहती है :—

'ऊधौ। हमरी सौं तुम जाहु।
यह गोकुल पूनौ कौ चंदा, तुम ह्वै आए राहु॥'

× × ×

'जोग बेचि कै तंदुल लीजै, बीच बसेरे खाहु।
सूरदास जबहीं उठि जैहौ, मिटि है मन कौ दाहु॥'

गोपिकाओं के मन का दाह मिटे या न मिटे, पर सूर के मन का दाह तो मिट ही जायगा, इसमें सन्देह नहीं। इससे यह न समझना चाहिए कि सूर ज्ञान-मार्ग के विरोधी थे। ऐसा समझना उनके प्रति अन्याय करना होगा। 'भ्रमर-गीत' से उन्होने जो कार्य साधा है वह केवल यही था कि भक्ति-मार्ग, ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा, अत्यन्त सुलभ है। उस समय इसकी अत्यन्त आवश्यकता थी। गोरख-पन्थी, कबीर-पंथी, सहजयानी-सिद्ध और योगियों ने भोली-भाली हिन्दू-जनता पर इतना गहरा प्रभाव जमा लिया था कि उसके आगे कोई किसीको कुछ समझता ही नहीं था। सूर से यह नहीं देखा गया। फलतः उन्होने गोपिकाओं-द्वारा इस प्रभाव का उन्मूलन किया। उद्धव अपनी गाते रहे, पर उनकी बात किसी ने नहीं मानी। अन्त मे उनका ज्ञान-गर्व ढह गया और वह यह कहने लगे :—

'अब अति चकितवंत मन मेरौ।
आयौ हो निरगुन उपदेसन, भयौ सगुन कौ चेरौ॥'

और जब वह मथुरा लौट गये तब उन्होने कृष्ण से यह कहा :—

'सुनहु-स्याम वै सब ब्रज-बनिता, बिरह तुम्हारे भई बावरी।
नाही बात और कहि आवत, छाँड़ि जहाँ लगि कथा रावरी॥'

साथ ही उन्होने यह भी स्वीकार किया :—

'ब्रज मैं एक अचंभौ देख्यौ।
मोर मुकुट-पीताम्बर धारे, तुम गैइनि संग पेख्यौ॥'

उनका इतना कहना था कि हो गई विजय भक्ति-मार्ग की। यही

कृष्ण चाहते थे और यही सूर की भी इच्छा थी। इस इच्छा की पूर्ति के लिए सूर ने अपनी गोपिकाओं को ऐसा साधा कि वे भागवत की गोपिकाओं से बाजी मार ले गईं। उन्होंने न तो भागवत की गोपिकाओं की तरह कृष्ण के चरित्र में दोष दिखाने की चेष्टा की और न नन्ददास की गोपिकाओं की भाँति ज्ञान छाँटने की। उन्होंने आरम्भ से अन्त तक अपनी अनुभूति का ही परिचय दिया और उसी से उद्धव को परास्त किया। यही सूर के भ्रमर-गीत की परम विशेषता है जिसके कारण वह हिन्दी के भक्ति-काव्य के प्रथम प्रणेता माने जाते हैं।

सूर-काव्य की अन्य विशेषताएँ

सूर का 'सूर-सागर' एक ऐसा सागर है जिसके अन्तराल मे भाव-रत्नों के अतिरिक्त कुछ ऐसे ठोस रत्न भी मिलते है जो अपनी आभा से हमे चमत्कृत कर देते हैं। यहाँ उन्ही के सम्बन्ध में हम संक्षेप में विचार करेंगे :—

(१) **रूप-वर्णन**—रूप-सौदर्य के प्रति आकृष्ट होना मानव का स्वभाव है। यही आकर्षण अन्ततोगत्वा प्रेम मे परिणत होता है। नन्द, यशोदा, गोप, गोपिकाएँ—सब कृष्ण के रूप-सौदर्य से आकृष्ट होकर ही उनसे प्रेम करते हैं। कृष्ण का सौदय केवल उन्हा तक सीमित नही है, वह असीम और व्यापक है। सूर कहते हैं :—

'सुन्दर स्याम, सखा सब सुन्दर, सुन्दर वेष धरे गोपाल।'

इस प्रकार सूर की साधना सौदर्य की महान् उपासना है। यही कारण है कि उन्होने विभिन्न अवसरो पर कृष्ण के रूप-सौदर्य के स्फीत चित्र उतारे हैं। इससे सपूर्ण 'सूर-सागर' कृष्ण के रूप-चित्रो का 'अलबम' बन गया है। इस 'अलबम' मे कृष्ण के सभी अगो के कहीं एक साथ और कहीं अलग-अलग चित्र मिलते है। गाएँ चराकर आने के समय का उनका एक चित्र लीजिए :—

'आवत मोहन धेनु चराए।
मोर मुकुट सिर, उर बनमाला, हाथ लकुट, गोरज लपटाए॥
कटि कछनी, किंकिन-धुनि बाजति, चरन चलत नुपुर-रव लाए।
ग्वाल-मंडली मध्य स्यामघन, पीत बसन दामिनी लजाए॥'

कितना सटीक और शुद्ध शब्द-चित्र है चरवाहे कृष्ण का। सूर ने अपनी भक्ति-भावना के विकास मे ऐसे चित्रों से बहुत कुछ सहायता ली है। वह एक उच्च कोटि के चित्रकार हैं। अपने चित्रों में वह केवल रूप की बाह्य आकृतियो को ही स्पष्ट नही करते, वरन् उनके साथ-साथ वह चेष्टाओ, क्रीड़ाओ और अन्तर्भावो की स्थूल रेखाएँ भी अकित कर देते हैं। यही उनके रूप-चित्रों की विशेषता है। शास्त्रीय दृष्टि से यदि देखा जाय तो कोई उपमा कृष्ण के रूप पर फबती ही नहीं :—

'उपमा हरि-तनु देख लजानी।
कोउ जलमै, कोउ बननि रहींदुरि, कोउ-कोउ गगन समानी॥
मुख निरखत ससि गयौ अंबर कौ, तडित दसन, छवि हेरि।
मीन, कमल, कर चरन, नयन डर, जल मै कियौ बसेरि॥'

ऐसे रूप का चित्रण करना सूर की प्रतिभा का ही काम है। उन्होंने निकट से, दूर से, पार्श्व मे खड़े होकर, कृष्ण के जैसे सजीव रूप-चित्र उतारे हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं।

(२) **संस्कारों तथा उत्सवों के वर्णन**—सूर ने अपने 'सूर-सागर' मे छठी, अन्नप्राशन, वर्षगाठ, कनछेदन, उपनयन आदि सस्कारों का वर्णन करने के साथ-साथ हिडोला, होली आदि उत्सवों का भी अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। भगवान के कर्ण-भेद सस्कार का एक दृश्य लीजिए :—

'कान्ह कुँवर कौ कनछेदन है, हाथ सुहारी भेली गुर की।
रोवत देखि जननि अकुलानी, दियौ तुरत नौआ कौ घुरकी॥'

होली मे कृष्ण की कैसी गति बनी है, इसे भी देख लीजिए :—

'खेलत श्याम फाग ग्वालन संग।
एक गावत, एक नाचत, एक करत बहु-रंग॥'

× × ×

'कनक कलसन घोरि केसर कर लिए ब्रज-नारि।
जबहिं आवत देखि तरुनिन भजत दै किलकारि॥'

सूर ने अपने उक्त वर्णनो मे भारतीय परम्पराओ का विशेष रूप से ध्यान रखा है। इसलिए इनसे उनके लौकिक ज्ञान का अच्छा परिचय

मिलता है। इन सामाजिक आचारो के अतिरिक्त उन्होने साम्प्रदायिक आचारो का भी वर्णन किया है। इस प्रकार के आचारो को हम दो भागो मे विभाजित कर सकते हैं: (१) नित्य आचार और (२) नैमित्तिक आचार। नित्य आचारो के अन्तर्गत शृङ्गार, भोग, उत्थापन, संध्या, आरती, शयन आदि और नैमित्तिक आचारों के अन्तर्गत हिंडोला, चाचर, बसन्त आदि की गणना की जा सकती है। 'सूर-सागर' मे इन सब को उचित स्थान मिला है।

(३) **मुरली का जादू**—सूर के सयोग शृङ्गार मे मुरली का महत्व-पूर्ण स्थान है। भागवत् मे बताया गया है कि कृष्ण जब अपनी मुरली को अपने कोमल अधरो पर रखते हैं और उससे स्वर निनादित होता है तब सर्वज्ञ होकर भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवतागण मुग्ध हो जाते हैं। सूर ने मुरली को इसी भाव से अपने साहित्य मे स्थान दिया है। उनके कृष्ण की मुरली से निकला हुआ सगीत विश्व-संगीत है जिसमे अद्भुत तन्मयता और विचित्र आकर्षण हैं। गोप-गोपियाँ ही नहीं, सारा ब्रज उनकी मुरली पर मस्त है। पशु-पक्षी, गौएँ आदि उस मुरली से निकली हुई मधुर ध्वनि पर आत्म विभोर हो जाती है। इसलिए वह खाते-पीते, खेलते-कूदते, उठते-बैठते, सोते-जागते हर समय कृष्ण के साथ रहती है। उसका इतना दुलार देखकर गोपियाँ उससे ईर्ष्या करती है। सूर-साहित्य मे वह कही उद्दीपन का काम करती है, कही रूपक की सृष्टि करती है, कही रहस्यवादी बन जाती है और कही अलौकिक चरित्र का प्रदर्शन करती है। नाना रूप हैं उस मुरली के। कृष्ण की भाँति उनकी मुरली भी नानारूपिणी है और भक्तो की भक्ति-भावना का आधार है।

(४) **प्रकृति-वर्णन**—सूर-सागर के नायक श्रीकृष्ण है। ब्रज-भूमि उनका रङ्ग-स्थल है। यही उनकी लीलाओं का उदय और विकास हुआ है। पं० चन्द्रबली पाण्डे के मत से सूर ने कृष्ण की ब्रज-लीला को दो रूपों मे ग्रहण किया है: (१) सहज विलास के रूप में और (२) शत्रु-संहार के रूप मे। इसलिए उन्होंने प्रकृति को भी दो रूपो मे चित्रित किया है। सहज विलास के रूप में ब्रज की प्रकृति मधुर, कोमल और उदात्त

है। इसके विरुद्ध शत्रु-संहार के रूप में ब्रज की प्रकृति उग्र है। इस प्रकार सूर ने प्रकृति के कोमल और उग्र, दोनो रूपो के चित्र सफलतापूर्वक उतारे हैं।

सूर ने प्रकृति का चित्रण किसी-न-किसी प्रसङ्ग के अन्तर्गत ही किया है। गोकुल में बालकृष्ण को जगाते-समय यशोदा कहती हैं :—

'जागिये ब्रजराज कुँअर कमल-कुसुम फूले।
कुमुद-वृन्द संकुचित भए, भृङ्ग लता भूले॥'

प्रातःकाल के इस सीधे-सादे चित्र मे कृष्ण की अवस्था की वृद्धि के साथ-साथ गम्भीरता आती जाती है। देखिए, प्रातःकाल का यह दूसरा चित्र कितना व्यापक है :—

'जागिये गोपाललाल ग्वाल द्वार ठाढे।
रैनि-अंधकार गयो, चन्द्रमा मलीन भयो,
तारागन देखियत नहि तरनि किरन बाढे॥
मुकलित भये कमल-जाल, गुँज करत भृङ्गमाल,
प्रफुलित बन पुहुप द्वार कुमुदिनी कुम्हलानी।
गधर्व गुणगान करत, स्नान दान नेम धरत,
हरत सकल पाप वदत विप्र वेद-वानी॥'

सूर के प्रातःकाल के चित्र बडे सुन्दर हैं। उन्होंने षट् ऋतुओं का भी वर्णन किया है, पर है सब किसी-न-किस प्रसङ्ग के अन्तर्गत ही। षट-ऋतुओं में बसन्त,वर्षा और शरद के चित्र अत्यन्त सुन्दर और प्रभावोत्पादक हैं। रास-लीला के प्रसङ्ग में शरद और होली-धमार के प्रसङ्ग मे बसन्त के चित्र उतारे गए हैं। इन चित्रों में संयोग-शृङ्गार की उत्फुल्लता ही दृष्टिगोचर होती है। वर्षा-ऋतु के चित्रों मे संयोग के आनन्द की व्यञ्जना कम, वियोग-वेदना और भय की व्यञ्जना अधिक है। कृष्ण के सयोग और वियोग का जो प्रभाव गोपिकाओ के हृदय पर पड़ता है वही प्रकृति पर भी। **'नाचत नहीं मोर ता दिन तें बोलै न वर्षा-काल'** यदि वियोग-वेदना से प्रभावित प्रकृति का चित्र है तो **'किलकि-किलकि कुल सहित आप मङ्गल गायो'** संयोग के आनन्द से प्रभावित प्रकृति का चित्र है। प्रकृति के इन उल्लासमय और विषादमय

चित्रो के अतिरिक्त सूर ने प्रकृति का जो उग्र रूप अकित किया है उसका भी एक नमूना लीजिए :—

> 'गिरि पर बरषन लागे बादर ।
> मेघवर्त्त, जलवर्त्त, सैन सजि, आए लै-लै आदर ॥
> सलिल अखड धार धर टूटत, किये इन्द्र मन सादर ।
> मेघ परस्पर यहै कहत है, धोइ करहु गिरि खादर ॥'

प्रकृति के ऐसे उग्र चित्र 'सूर-सागर' मे बहुत कम ही हैं। सूर ने प्रायः प्रकृति के कोमल अंगो का ही चित्रण किया है । कृष्ण की सयोग-लीला के प्रसग मे वह प्रकृति को अपनी आँखो से देखते हैं, पर जब कृष्ण वृन्दावन से मथुरा चले जाते है तब वह प्रकृति को अपनी आँखो से न देखकर गोपिकाओं की आँख से देखते है। तात्पर्य यह कि सयोगावस्था मे प्रकृति उनके साथ है, पर वियोगावस्था में वह गोपिकाओ के साथ है । यही कारण है कि वह सयोग-शृङ्गार के उद्दीपन में प्रकृति को जो महत्त्व देते हैं, वह विप्रलंभ के उद्दीपन मे नही । कृष्ण के वियोग में प्रकृति प्रायः उसी प्रकार क्षीण और व्याकुल है जिस प्रकार गोपिकाएँ । दोनो की दशा एक-सी ही है । जब मधुवन को हरा-भरा देखकर वे प्रकृति को अपने समान नहीं पाती तब वे उस पर व्यग करने से बाज़ नही आती । वे यही तो कहती है :—

> 'मधुवन ! तुम क्यों रहत हरे !
> विरह-वियोग स्याम सुन्दर के ठाढे क्यों न जरे ॥'

इससे स्पष्ट है कि गोपिकाओं ने अपनी विरहावस्था मे प्रकृति को सर्वत्र विषादमय रूप मे ही नही देखा है । जहाँ उन्होंने प्रकृति का उल्लास-मय रूप देखा है वहाँ उस पर उन्होने या तो व्यग किया है या यह :—

> 'बिन गोपाल बैरिन भई कुजैं ।
> तब यह लता लगति अति शीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं ॥'

इस प्रकार गोपियाँ प्रकृति को कभी अपने ही समान दुखी देखकर संतोष लाभ करती हैं, कभी उसे हरा-भरा पाकर उस पर व्यंग करके अपने मन की खीझ मिटाती हैं और कभी उसे अपने बैरिन के रूप मे देखकर अनुतप्त हो उठती हैं ।

(५) **चरित्र-चित्रण**—चरित्र चित्रण की दृष्टि से सूर अपनी सीमा के भीतर बहुत सफल हुए हैं। उनके कृष्ण लीला-पुरुष हैं। 'सूर-सागर' की समस्त लीलाओ का सीधे उन्हीं से सम्बन्ध है। वह प्रत्येक लीला के केन्द्र हैं और उनकी प्रत्येक लीला अपने मे पूर्ण है। उनके कार्य-क्षेत्र तीन हैं : (१) ब्रज (२) मथुरा और (३) द्वारिका। ब्रज मे हमें उनके (यशोदा की दृष्टि से) शैशव एव बाल-रूप और (गोपिकाओं की दृष्टि से) तरुण-रूप के दर्शन होते है। इसके पश्चात् वह मथुरा चले जाते हैं। मथुरा मे हमे उनके राजनीतिक-रूप का और द्वारिका मे उनके सत्ताधारी रूप का दर्शन होता है। अपने इन समस्त रूपो मे कृष्ण लौकिक भी है और अलौकिक भी। सूर ने उनके इन दोनो रूपो का चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया है। कृष्ण अपनी बाल्यावस्था और यौवन-काल मे जितने चपल है उतने ही राजा होने पर शान्त हैं। उनमे अपार सौन्दर्य, अपार शक्ति है। वह अपने सहज सौन्दर्य से चर, अचर, देव, किन्नर सबको अपनी ओर आकृष्ट कर लेते है और अपनी शक्ति से सब को चमत्कृत कर देते है। सूर ने उनके राजत्वकाल का चित्रण नही किया है। उनके मथुरा चले जाने पर सूर की आत्मा ब्रज में ही निवास करती है। सूर अपनी आँखों से उनका जो वैभव ब्रज में देख चुके हैं उसके सामने उनका राज-वैभव तुच्छ है।

राधा पहले कन्या के रूप मे हमारे सामने आती हैं। वह अत्यन्त चपल और सुन्दर हैं। अपने रूप-सौंदर्य से वह पहले दिन ही कृष्ण को आकृष्ट कर लेती है। वह अपने प्रेम-निष्ठा मे भी बेजोड़ हैं। कृष्ण की लीलाओ के साथ-साथ उनके प्रेम का विकास होता है। धीरे-धीरे वह कृष्ण के रूप-सौन्दर्य की अनन्य पुजारिन बन जाती है और उनके प्रेम को व्यक्तिगत रूप से भोगना चाहती है। उनके प्रेम में ऐहिकता नहीं, आध्यात्मिकता है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उन्हे जो दुःख होता है उसे वही जानती है। वह अपने वियोग में मूक है, शान्त हैं। उनमे आह-कराह नही है। वह बडे संयम से वियोग-जन्य दुःख को सहन करती है। एक बार कुरुक्षेत्र मे कृष्ण से उनकी भेंट होती है, पर उस अवसर पर भी वह मौन है। होता केवल इतना है कि :—

'माधव राधा के संग रचि राधा के माधव रंग रई ।'

सूर ने गोपिकाओं का चित्र एक अत्यन्त विशाल चित्रपट पर अंकित किया है। गोपियाँ प्रत्येक अवस्था मे कृष्ण का साथ देती हैं। समस्त लीलाओ मे प्रधान भाग उन्हीं का है। ऐसा जान पडता है कि प्रत्येक लीला का आयोजन उन्हीं के बल पर किया गया है। बचपन से वे कृष्ण के साथ हैं और मथुरा-गमन तक उनके साथ रहती है। उनका चित्रण अत्यन्त सरल, अत्यन्त मधुर तथा परस्पर कपट विहीन नायिकाओ के रूप मे हुआ है। सूर ने उनका वर्गीकरण नही किया है और न उनके वस्त्र, रूपादि का ही परिचय दिया है। उनके मनोविज्ञान मे कोई विभिन्नता भी नही है। सब एक हैं। वे लौकिक दृष्टि से परकीया, पर आध्यात्मिक दृष्टि से स्वकीया हैं।

यशोदा के चरित्र में मातृत्व प्रधान है। वह कृष्ण की माता हैं, ग्रामाधिपति नन्द की पत्नी हैं, पर अपनी इन परिस्थितियो का उन्हे गर्व नहीं है। वह अत्यन्त सरल-हृदया हैं। उन्हे प्रौढ़ावस्था मे कृष्ण मिले हैं, इसलिए कृष्ण के प्रति उनका वात्सल्य उमड़ पड़ा है, उसमे उफान आ गया है। उनका प्रत्येक क्षण बालकृष्ण मे केन्द्रित रहता है। सूर ने नद के चरित्र की ओर इतना ध्यान नही दिया है जितना कि यशोदा की ओर। पर यशोदा के साथ-साथ उनका भी चरित्र-चित्रण हो जाता है। दोनो मे समान रूप से वात्सल्य का विकास हुआ है। नंद उतने भावुक नही हैं, जितनी यशोदा हैं।

गोप कृष्ण के सच्चे सखा के रूप मे चित्रित किए गए हैं। उनमें जो प्रौढ़ हैं वे वात्सल्य-भाव से श्री कृष्ण की लीला मे भाग लेते हैं और जो किशोर अथवा युवा हैं वे सखा के रूप मे। वे देवताओ के अवतार माने गए हैं। उद्धव भी श्रीकृष्ण के सखा हैं। वह भक्त नही, ज्ञानी है। उनका ज्ञान-गर्व तोड़ने के लिए कृष्ण मथुरा से उन्हे ब्रज मे गोपियो को निराकार उपासना की शिक्षा देने के लिए भेजते हैं। ज्ञानी पण्डित होने के कारण सांसारिक बातो से वह बहुत कम परिचित हैं; इसलिए गोपियाँ उन्हें बात-बात मे परास्त कर देती हैं। इस प्रकार सूर के उद्धव भागवत के उद्धव से

भिन्न हो जाते हैं। भागवत के उद्धव अपनी निर्गुण-उपासना के प्रचार मे विजयी होते हैं। सूर के उद्धव ज्ञानी हैं अवश्य, पर उनमे उतना पांडित्य नहीं है जितना कि भागवत के उद्धव मे। सूर को ऐसा करना अभीष्ट नही है; मुक्ति-प्राप्ति मे वह ज्ञान-मार्ग को अधिक उपयोगी नही समझते। भागवत में भक्ति के साथ ज्ञान की महिमा है और सूर-साहित्य मे भक्ति की महिमा ज्ञान की अपेक्षा अधिक है। इसीलिए सूर ने अपने उद्धव को गोपियो से परास्त करा दिया है।

(६) **गोचारण-काव्य**—गोचारण-काव्य 'सूर-सागर' की एक विशेषता है। हिन्दी-काव्य को यह उनकी अनुपम देन है। अपनी इस देन मे उन्होने भारतीय सभ्यता के एक प्रधान अंग का प्रतिनिधित्व किया है। कृत्रिम सभ्यता की सीमा से दूर, प्रकृति के सुरम्य प्रांगण मे स्वच्छन्द विचरण करने वाली आदिम भावना ही इस काव्य की एक मात्र जननी है। सूर के इष्ट देव कृष्ण भी इस भावना से ओत-प्रोत हैं। नन्द और यशोदा की गोद मे बैठकर उन्होने इस भावना को ग्रहण किया है और गोप-कुमारो के संसर्ग से कालिन्दजा के तट पर तथा करील के कुंजो एवं उपवनो मे गोचारण के बहाने उसका विकास किया है। यशोदा के बिना कहे ही कृष्ण गाएँ चराने के लिए आग्रह करते हैं। उनकी इस बाल-आग्रह मे विनोद का भाव तो है ही, गो-पालन का भाव भी है। उन्हे गाएँ इतनी प्रिय हैं जितने गोप-कुमार। गाएँ भी अपने पालक कृष्ण को खूब पहचानती हैं। वे कृष्ण के साथ उसी प्रकार उछलती-कूदती और उनकी मुरली की मधुर ध्वनि सुनकर आनन्द-विभोर होती हैं जिस प्रकार गोप-कुमार। कृष्ण के वियोग का भी उनपर पूरा प्रभाव है। पशु जगत का उनके प्रति यह अनुराग उनके अलौकिक रूप का साक्षी तो है ही, साथ ही उनकी अहिंसात्मक वृत्ति का भी द्योतक है।

सूर की रस-योजना

'सूर-सागर' है तो प्रेम-सागर, पर उसमे अन्य रस भी मिलते हैं। हम यहाँ संक्षेप में उसकी रस-योजना पर विचार करेंगे :—

(१) श्रृङ्गार रस—'सूर-सागर' मे शृंगार-रस को प्रथम स्थान मिला है। इसके दो पक्ष हैं : (१) संयोग और (२) वियोग। 'सूर-सागर' में इन दोनो पक्षो को स्थान दिया गया है। कृष्ण ने ब्रज मे जितनी लीलाएँ की हैं उनमे संयोग-शृंगार का वर्णन है। इन लीलाओ मे कृष्ण के दो रूप हैं : (१) गोपियो के सबंध से गोपीकृष्ण और (२) राधा के संबध से राधा-कृष्ण। कृष्ण और गोपिकाओ के बीच संयोग-शृ गार पोषित और परिपुष्ट होकर कृष्ण और राधा के बीच अपनी पराकाष्ठा को पहुँचता है। कहने का तात्पर्य यह कि आरभ मे कृष्ण का जो बहुवल्लभ रूप है वह धीरे-धीरे विकसित होकर राधा-कृष्ण का रूप धारण करता है। यही सूर के सयोग-शृ गार की विशेषता है। इस विशेषता के कारण ही सयोग-सुखो के अनेक आह्लदकारी प्रसंग-विधान उनकी रचना मे मिलते हैं। पनघट-लीला, चीर-हरण-लीला, मान-लीला, दान-लीला, रास-लीला, सब मे सयोग की उत्फुल्लता है और सब प्रेम से लबालब हैं। यहीं तक सूर अपने कृष्ण के साथ हैं। ब्रज से जब उनके कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तब वह उनके साथ वहाँ न जाकर ब्रज मे ही गोपिकाओं और राधा के साथ रहते है और उनकी वियोग-वेदना से द्रवीभूत हो उसका वर्णन करते है। इस प्रकार के वर्णन मे उनको विरहणिया के दो रूप हैं : (१) उद्धव के आने के पहले का रूप और (२) उद्धव के आने के बाद का रूप। उद्धव के ब्रज मे आने के पूर्व विरहणियो के जो वियोग-चित्र उतारे गए हैं उनमें उनकी एक दशा, वियोग-दशाओ का, चित्रण मिलता है, पर उद्धव के आने पर उनके प्रेम की अनन्य तन्मयता ही सर्वत्र दिखाई गई है। तात्पर्य यह कि कृष्ण के वियोग मे विरहणियो की वेदना ने जो उच्छृ खल रूप धारण कर लिया था वह अन्त मे सयमित और मर्यादित हो गया है। इस प्रकार सयोग-शृ गार की भाँति ही सूर का वियोग-शृ गार भी धीरे-धीरे विकसित होकर अपनी परीकाष्ठा पर पहुँचा है।

(२) वात्सल्य रस—वात्सल्य रस के वर्णन मे सूर बेजोड हैं। इसके अन्तर्गत माता के हृदय की प्रत्येक स्थिति के जैसे मनोवैज्ञानिक चित्र उन्होंने उतारे है वैसे विश्व के किसी साहित्य मे नहीं हैं। गोकुल मे, ब्रज

में, मधुपुरी में, द्वारिका में—कृष्ण जहाँ-कहीं भी रहते हैं, यशोदा का हृदय उनके साथ है। दुष्ट-दलन के लिए कृष्ण के मथुरा जाते समय यशोदा क्या चाहती हैं—यह समझने की बात है :—

'यशोदा बारबार यों भाखै।
है कोउ ब्रज में हितू हमारो, चलत गुपालहि राखै॥
कहा काज मेरे छगन-मगन कौ, नृप मधुपुरी बुलाए।
सुफलक-सुत मेरे प्राण हतन कौं, काल-रूप ह्वै आए॥
बरु ए गो-धन हरौ कंस सब, मोहिं बन्दि लै मेलौ।
इतने ही सुख कमल-नैन मेरी अँखियन आगे खेलौ॥'

माता के हृदय को सूर ने जितने सुन्दर शब्दों मे और जिस ढंग से खोला है, उतने सुन्दर शब्दो में और उस ढंग से उसे कोई नही खोल सका है। इसे और भी अधिक समझने के लिए यह पद पढ़िए और अनुभव कीजिए कि उन्होने यशोदा के हृदय को कितनी गहराई तक परखा है :—

'संदेसो देवकी सौं कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, करत मया ही रहियौ॥
जदपि टेव तुम जानत उनकी, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतैं माखन रोटी भावै॥'

कृष्ण मथुरा मे उतने बड़े ही नही हैं जितने बडे वह गोकुल में थे, फिर भी यशोदा उन्हें उसी रूपमे देखती हैं। उनके लिए तरुण कृष्ण बालकृष्ण ही हैं। यही सच्चा वात्सल्य भाव है और सूर इसके अमर चित्र-कार। उन्होने सौ-सौ तरह से इसके चित्र उतारे हैं।

(३) अद्भुत रस—सूर ने वात्सल्य के अन्तर्गत ही अद्भुत रस को स्थान दिया है। यह रस भी सूर को उतना ही प्रिय है जितना वात्सल्य। वात्सल्य के अन्तर्गत जहाँ उन्होंने कृष्ण की शिशु-लीलाओं एवं बाल-लीलाओ का चित्रण किया है वहाँ अद्भुत के अन्तर्गत उनकी अद्भुत लीलाओ का। इससे यह न समझना चाहिए कि अद्भुत लीला कोई स्वतंत्र लीला है। किसी भी लीला के बीच जो अद्भुत प्रसंग आ गया है वही अद्भुत-लीला है। इस लीला का एक मा· उद्देश्य है, कृष्ण के परम रूप का

बोध कराना। शिशु-कृष्ण की अद्‌भुत लीलाएँ इन पक्तियो मे देखिए :—

'हरि किलकत जसुमति की कनियाँ।
मुख मैं तीन लोक दिखराए, चकित भई नंद-रनियाँ ॥'

× × ×

'कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढे पालनै अकेले, हरिष-हरषि अपने रंग खेलत ॥
सिव सोचत, बिधि बुद्धि विचारत, बट-बाढ्यो सागर-जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिग दतीनि सकेलत ॥'

सूर ने वात्सल्य मे अद्‌भुत का मेल बड़े कौशल से किया है। पूतना, काग, कालादमन, गोवर्धन-धारण, यमलार्जुन आदि की अलौकिक कथाओ के सन्निवेश से उन्होने इस रस का जैसा सुन्दर परिपाक किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

(४) करुण रस—करुण रस का स्थायी भाव शोक है और यह गोपिकाओ की निराशा मे अपने परिपाक को पहुँचा है। राधा के इस चित्र मे करुण रस का परिपाक देखिए :—

'अति मलीन वृषभानुकमारी।
हरिश्रम तन अन्तर तनु भीजे, ता लालच न धुवावति सारी ॥
अधोमुख रहति, उरध नहिं चितवति, जो गत हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुर, बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ॥'

काली-दमन के अवसर पर जब कृष्ण 'दह' मे कूद पड़ते हैं तब करुण का चित्र उतारने मे सूर ने कमाल किया है :—

'त्राहि त्राहि करि नन्द तुरत दौरे जमुना-तट।
जसुमति सुनि यह बात, चली रोवति तोरति लट ॥'

(५) वीर रस—सूर ने वीर रस को भी 'सूर-सागर' मे स्थान दिया है और उसके चित्रण मे उन्हे सफलता भी मिली है। भीष्म की प्रतिज्ञा मे उनका वीर रस कितना सजीव है, देखिए :—

'आजु जौ हरिहिं न अस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौ गंगा जननी कौ, सांतनु-सुत न कहाऊँ ॥'

'सूर-सागर' मे वीर रस के चित्रण के लिए बहुत ही कम अवसर आए हैं, पर जहाँ आए हैं वहाँ उनमे इस का सफल परिपाक हुआ है।

(६) **शान्त रस**—सूर ने अपने विनय और भक्ति के पदो मे शान्त रस को स्थान दिया है। इस रस के परिपाक के लिए अधिक आडंबर की आवश्यकता नही पड़ती। अतः विनय और भक्ति के पदो में सूर ने जो कुछ कहा है वह काव्य-कला को दृष्टि से नही, वरन् अपनी आत्मा के स्पष्टीकरण के लिए कहा है। इस दृष्टि से उनके कृष्ण-संबधी विनय के पदो मे शान्त रस का परिपाक अत्यन्त सफल है।

(७) **हास्य रस**—सूर ने हास्य का विधान दो अवसरो पर किया है: (१) बाल-विनोद मे और (२) उद्धव के प्रति गोपियो के व्यंग मे। बाल-विनोद मे हास्य की छटा देखिए :—

'गोरे नन्द; यशोदा गोरी तुम कत श्याम शरीर।'

× × ×

'सुन मैया याके गुण मों सो, इन मोहिं लियो बुलाई।
दधि में परी सेत की चीटी मों पै सबै कढ़ाई॥'

कृष्ण की इस उक्ति पर कौन ऐसा है जिसकी बाछै न खिल जायंगी। सूर ने ऐसे अवसरों पर हास्य को हाथ से नही जाने दिया है। कही नन्द के बहाने, कही यशोदा के बहाने और कही गोपिकाओ के बहाने उन्होंने कृष्ण के बाल-चरित्र मे हास्य की जैसी स्वाभाविक सृष्टि की है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। 'भ्रमर-गीत' के अन्तर्गत गोपिकाओं का उद्धव के प्रति व्यंग उच्च-कोटि का हास्य है। वह सदैव शिष्ट और मर्यादित रहता है। उसे समझकर हम मुसकराते हैं, ठट्ठा मार कर हँसते नही। यही उसकी विशेषता है।

(८) **भयानक रस**—सूर ने भयानक रस की व्यंजना के लिए प्रकृति के उपद्रवो को चुना है। दावानल की उग्रता का एक चित्र लीजिए :—

'बरत बन बाँस, थहरत कुस काँस,
जरि उड़त है भास अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट, फूल-फल चट चटकि,
फटत लट लटकि द्रुम द्रुम नवायौ।'

कृष्ण की शैशव-चेष्टा में भयानक रस का परिपाक देखिए:—

'चरन गहे अँगुठा मुख मेलत।

उछलत सिन्धु, धराधर काँप्यो, कमठ पीठि अकुलाइ।

सेस सहस फल डोलन लागे हरि पीवत जब जाइ।'

उक्त रसों के अतिरिक्त सूर ने रौद्र एवं वीभत्स रसो की भं व्यजना की है। रौद्र रस को उन्होने उन्हीं वृत्तों मे चित्रित किया है जे कृष्ण के विनाश के हेतु हैं। वीभत्स के वर्णन की ओर सूर की रुचि नहं के बराबर है। इसका कारण यह है कि शत्रु की दुर्गति की ओर उनकं दृष्टि नहीं उठी है। इससे स्पष्ट है कि उन्होने मुख्यत: कोमल रसों के परिपाव मे ही अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया है। शृंगार, वात्सल्य, हास्य औ अद्भुत पर उनका पूरा अधिकार है और इन रसो के परिपाक मे उनक विशेष रुचि हैं। इन रसो के उद्घाटन मे उनका जन्म-भूमि-प्रेम भी रा के मुख से बोल उठा है :—

'हमारो जन्म-भूमि यह गाँव।

सुनहु सखा सुग्रीव-विभीषन, अवनि अजोध्या नाऊँ॥

ह्याँ के वासी अवलोकत हौं आनन्द उर न समाऊँ।

सूरदास जौ विधि न सँकोचै तौ बैकुण्ठ न जाऊँ॥'

कृष्ण कहते हैं :—

'रुक्मिणी चलहु जन्म-भूमि जाहीं।

यदपि तुम्हारो हतो द्वारका, मथुरा के सम नाहीं॥'

सूर के युग मे राम और कृष्ण के मुख से जन्म-भूमि-प्रेम की बा सुनकर जब हम अपनी राष्ट्रीय भावना के विकास पर विचार करते हैं तब ह ज्ञात होता है कि उसकी जडे अतीत के गर्भ मे बहुत दूर तक फैली हुई हैं

सूर की अलंकार-योजना

सूर की अलकार-योजना अत्यन्त स्वाभाविक और पुष्ट है। उन्हो अलंकारों का प्रयोग भावाभिव्यक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए किया है, अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं। शब्दालंकारो के अन्तग उन्होंने यमक, अनुप्रास और वीप्सा को विशेष रूप से अपनाया है। यम

का प्रयोग दृष्टिकूट-संबंधी पदों में अधिक हुआ है। इसके प्रयोग-द्वारा उन्होंने राधा और कृष्ण के सौंदर्य की रहस्यात्मक व्यंजना की है। अनुप्रास का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक है। इसके द्वारा काव्य में ध्वन्यात्मक सौंदर्य उत्पन्न किया गया है। वीप्सा का प्रयोग राधा-कृष्ण के अंग-वर्णन मे हुआ है। इसके द्वारा साधारण सौंदर्य को असाधारण रूप दिया गया है।

अर्थालंकारो का प्रयोग शब्दालंकारों की अपेक्षा अधिक हुआ है। सूर ने समतामूलक अलंकारो का प्रयोग विशेष रूप से किया है। ऐसे अलकारों में उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, प्रतीप आदि मुख्य हैं। विषमतामूलक अलंकारो मे विभावना और वक्रोक्ति आदि की गणना की जा सकती है। उपमा और रूपक सूर को अधिक प्रिय हैं। साग रूपक का प्रयोग करने मे वह अत्यन्त कुशल हैं। उनके रूपक छोटे, गंभीर और सश्लिष्ट होते है। उत्प्रेक्षा से तो सूर-साहित्य भरा पड़ा है। कहने का तात्पर्य यह कि सूर को दो ही अलंकार अधिक प्रिय है : (१) रूपक और (२) उत्प्रेक्षा। उनकी रूपक-योजना में रूपक के तीन रूप हैं : (१) राधा और कृष्णा के रूप के रूपक, (२) प्रकृति के रूपक और (३) शासन के रूपक। पहले प्रकार के रूपको का संबंध उनकी साधना से है और दूसरे तथा तीसरे प्रकार के रूपकों का संबंध उनकी काव्य-कला से। इस प्रकार सूर ने अपनी कविता को जो कला का रूप दिया है वह अत्यन्त रम्य, भव्य और सुन्दर है। अलंकारो का इतना सुन्दर प्रयोग करने पर भी वह अलकार-वादी नहीं, हिन्दी के उच्चकोटि के सर्वप्रथम रसवादी कलाकार है।

सूर की शैली

सूर का काव्य गीति-काव्य है। उन्होने जो कुछ लिखा है, सब राग में ही लिखा है, जैसे राग सारंग, राग असावरी, राग धनाश्री, राग गौरी, राग कल्यान, राग काफी, राग जैतश्री, राग बिलावल, राग कान्हरौ, राग विहागरौ, राग रामकली, राग नटनारायन आदि। इन रागों की योजना से यह न समझना चाहिए कि 'सूर-सागर' मे छन्दो की विविधता नहीं है। यदि पिंगल की दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि सूर ने अपने रागों के अन्तर्गत ही कवित्त, छप्पय, रोला, चौपाई आदि का विधान किया है। हिन्दी के

विभिन्न छन्दो को राग-रागिनियो की कसौटी पर कसकर उन्हे गेय बनाना यह सिद्ध करता है कि वह अच्छे गायक थे और भगवान् का यश-कीर्तन उनके जीवन का प्रधान कार्य था। कीर्तन से ही उन्होने अपने काव्य का आरभ किया और कीर्तन से ही उसका अन्त। इसलिए उन्होने अपने काव्य मे संगीत को ही प्रमुख स्थान दिया। उन्होने जितने पद गाए, उन सबमे साहित्य और सगीत का इतना सुन्दर संगम है कि उसमे अवगाहन कर आत्मा आनन्द-विभोर हो जाती है।

सूर के पद दो प्रकार के है : (१) मुक्तक अथवा गीतात्मक और (२) प्रबन्धात्मक। गीतात्मक पद प्रबन्धात्मक पदो की अपेक्षा छोटे, भाव पूर्ण, सरस और प्रवाहमय हैं। प्रबन्धात्मक पद इतिवृत्तात्मक होने के कारण बड़े हैं और उनमे भावो का वेग नहीं के बराबर है। वे भी गाए जा सकते हैं, पर उनके गाने मे इतना अधिक समय लगता है कि उन्हे सुनते-सुनते जी ऊब जाता है। वस्तुतः वे गाने के लिए लिखे भी नही गए हैं। उनका प्रयोग अवतार-वर्णन मे ही विशेष रूप से किया गया है। गीतात्मक पद मुख्यत: चार प्रकार के है : (१) विनय और भक्ति-सबंधी पद, (२) मुरली माधुरी-संबंधी पद, (३) लीला-संबंधी पद और (४) भ्रमर-गीत-सबंधी पद विनय और भक्ति-संबधी पदो पर संतो के वानियों की स्पष्ट छाप है, वैसी ही शब्द-योजना, वैसी ही भावधारा और वैसा ही वाक्य-विन्यास। पर इतना होते हुए भी सूर ने अपनी प्रतिभा के स्पर्श से उनमे जो तन्मयता और सरसता भर दी है वह सूर की अपनी चीज है। मुरली, लीला और भ्रमर-गीत सबधी पदों के लिए सूर किसी के ऋणी नहीं है। उनमे जो कुछ है वह उनका अपना है। जिसे भाव की एक-एक शृङ्खला सजाना है, जिसे भाव-धारा की एक-एक लहर का सजीव चित्र उतारना है, जिसे अपनी अनुभूति का एक-एक अग आकर्षक रूप मे प्रस्तुत करना है और जिसे भक्ति-भावना के एक-एक शब्द से संगीत का आयोजन करना है उसके लिए मुक्तक के अतिरिक्त कोई अन्य शैली उपयुक्त हो ही नही सकती। सूर ने यही किया है। उनके पदों में उनकी टेक एक ऐसी कुंजी है जो उनमे आए हुए भावों का रहस्य खोल देती है। अपने मुक्तको में उन्होने एक ही विषय को

विभिन्न दृष्टियों से परखा है, एक ही दृश्य को विभिन्न भावो से देखा है और फिर अपनी शैली को अनेकरूपता प्रदान की है। कहा जा सकता है कि उनके पदों में पुनरुक्ति है और वह वास्तव मे है भी, परन्तु इस दोष को उनके भावो की तीव्रता ने इतना अधिक दबा दिया है कि पाठक को उसका आभास नहीं होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर अपने पदो में कही कथाकार है; कहीं कवि और कही भक्ति। सूर के इन तीनो रूपो की तीन शैलियाँ हैं। कथाकार के रूप मे उनकी शैली वस्तु-प्रधान है, कवि के रूप मे उनकी शैली भाव-प्रधान है और भक्त के रूप में उनकी शैली अनुभूति-प्रधान है। उनकी पहली शैली शिथिल, पर शेष दोनों शैलियाँ प्रौढ़, प्रभावोत्पादक, प्रवाहपूर्ण और आत्माभिव्यंजक हैं। इन शैलियों के रूप-निर्माण मे वह समास के प्रेमी नहीं, व्यास के अवतार हैं। यही उनकी शैली की विशेषता है।

सूर की भाषा

सूर की भाषा ब्रजभाषा है। वह न तो ठेठ ब्रजभाषा है और न सर्वथा शुद्ध, वह साहित्य की ब्रजभाषा है और इस ब्रजभाषा के सूर प्रथम प्रणीता हैं। एक साथ कवि और गायक होने के कारण उन्होंने अपनी ब्रजभाषा को अपने पूर्ववर्ती कवियों की ब्रजभाषा की अपेक्षा अधिक परिमार्जित, सुव्यवस्थित, संयत, व्याकरणपरक और भावव्यजक बनाया है। ऐसा करने में उन्होंने ठेठ ब्रजभाषा के शब्दो को तो अपनाया ही है, साथ ही अवधी, पंजाबी, गुजराती, बुन्देलखण्डी, फारसी, अरबी तथा संस्कृत के शब्दों को भी ग्रहण किया है और उन्हे अपनी कला की खराद पर कसकर स्निग्ध, कोमल और मधुर बनाया है। इन विभिन्न भाषाओ से शब्दो का चयन करते समय उन्होने प्रसग के अनुकूल उनकी रचना पर ही नही, उनकी शक्ति और व्यजना पर भी ध्यान दिया है। यही कारण है कि उनकी भाषा भाव और विचार के साथ चलती हैं। भाषा पर उनका इतना अच्छा अधिकार है कि प्रसंग और पात्र के अनुकूल वह उसे सरल, सुबोध और सशक्त बनाते रहते हैं। फबती कसने मे, चुटकी लेने मे, हास्यविनोद का आयोजन करने मे, लीलाओं के शब्द-चित्र उतारने मे, गंभीर विषयो के

निरूपण में, सवादो की सृष्टि मे, संयोग और वियोग के चित्रण मे उनकी भाषा ऐसे स्वाभाविक मोड़ लेती हैं कि उसे देखकर आश्चर्य होता है।

सूर की शब्द-योजना में संस्कृत शब्दो के तत्सम और तद्भव, दोनों रूप हैं, पर फारसी और अरबी के शब्दो को उन्होने तद्भव रूप मे ही ग्रहण किया है। इसके साथ ही उसमें जहाँ 'छिनाल' और 'मेहरा' जैसे अश्लील शब्दों को स्थान मिला है वहाँ ग्रामीण और शिष्ट शब्दो को भी। शब्दो के कुछ ऐसे प्रयोग भी सामने आते है जो अत्यन्त देशी अथवा विकृत होने के कारण कठिन हो गए हैं। कहीं-कहीं तुकान्त के आग्रह अथवा छन्द की गति को नियमानुकूल बनाने की आवश्यकता के कारण शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी गया है। शब्द-रचना की दृष्टि से सूर ने यथाशक्ति सयुक्त वर्णों का बहिष्कार किया है। 'विश्वास' के लिए 'बिसास', 'जन्म' के लिए 'जनम' 'भक्ति' के लिए 'भगत' आदि प्रयोग उन्हे अधिक प्रिय हैं। इसी प्रकार उन्होंने पंचम वर्ण की जगह अनुस्वार का प्रयोग किया है और 'श' तथा 'ण' की जगह 'स' और 'न' को अपनाया है। उनके इस प्रकार के प्रयोग से उनकी भाषा कोमल हो गई हैं। इसके परिपाक मे उन्होंने अपनी भाषा पर विशेष रूप से ध्यान दिया है।

'सूर-सागर' मे सूर के तीन रूप हैं: (१) कथाकार सूर, (२) कवि सूर और (३) भक्त सूर। यही तीन रूप हम उनकी भाषा में भी पाते हैं। कथाकार सूर की भाषा मे न तो अधिक प्रवाह है, न व्यंजना और न शक्ति। उसमे भाव और विचार भी शिथिल हैं। उसमे प्रबन्धात्मकता अवश्य है। भक्त सूर की भाषा मे गभीरता, गहनता और भावो की तल्लीनता है। परन्तु कवि सूर की भाषा इतनी सजी हुई, प्रवाहमयी, भाव-व्यंजक, मधुर, प्रभावोत्पादक और सरस है कि वह पाठक को अपने मे तन्मय कर लेती है।

४. गोस्वामी तुलसीदास

जन्म सं०-१५८९ : मृत्यु सं०-१६८०

जीवन-परिचय

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म कब और कहाँ हुआ, यह निश्चय-पूर्वक नही कहा जा सकता। कुछ लोग 'घट-रामायण' के अनुसार उनकी जन्म-तिथि भाद्रपद, शुक्ला ११, मगलवार, स० १५८९ और कुछ लोग 'मूल गोसाईं चरित' के आधार पर उनकी जन्म-तिथि श्रावण शुक्ला ७, स० १५५४ मानते हैं। इसी प्रकार उनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध मे भी मत-भेद है। 'घट-रामायण' और 'मूल गोसाईं-चरित' के अनुसार उनका जन्म-स्थान राजापुर, जिला बाँदा सिद्ध होता है, पर सोरो जिला एटा की सामग्री के अनुसार उनका जन्म-स्थान सोरो ठहरता है। इन दोनो मतों मे परस्पर इतना विरोध है कि हम निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते। अतः जबतक हमे कोई दूसरा प्रमाण नहीं मिलता तब तक हम 'घट रामा-यण' को ही प्रमाणिक समझते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास एक ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न हुए थे। वह सरयू-पारी ब्राह्मण थे अथवा कान्य कुब्ज—इस सम्बन्ध में भी लोगों का मतभेद है। बहुतो ने उन्हे सरयूपारी ब्राह्मण ही माना है। उनका बचपन का नाम रामबोला, उनके पिता का नाम आत्माराम और उनकी माता का नाम हुलसी था। कहा जाता है कि उनके जन्म के बाद ही माता हुलसी का स्वर्गवास हो गया और फिर उनके पिता भी चल बसे। ऐसी दयनीय परिस्थति मे उन्हें अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। अन्त मे उन्होने साधु-सन्तों के सत्सग मे रहकर कुछ पढ़ा-लिखा। उनकी बुद्धि प्रखर थी। इसलिए थोड़े ही समय मे उन्होने संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। उन दिनों शूकर क्षेत्र, वर्तमान सोरो, मे नरहरिदास की अच्छी ख्याति थी। रामबोला घूमते-फिरते उनके पास गये। उन्होने, रामबोला की प्रतिभा

से प्रभावित होकर उनका संस्कार किया और उन्हे अपने सम्प्रदाय में दीक्षित कर उनका नाम 'तुलसी' रखा। तुलसी अपने गुरु नरहर्यानन्द के साथ रह कर राम-कथा सुनने लगे। कहते हैं, उनके गुरु जब शूकर क्षेत्र से काशी जाने लगे तब वह भी उनके साथ काशी आये और वहाँ पंचगंगा घाट पर रह कर शेषसनातन से वेद, वेदांग, दर्शन, इतिहास, पुराण और काव्य-कला का अध्ययन करने लगे। १५ वर्ष तक लगातार अध्ययन करने के पश्चात् वह राजापुर गये और वही दीनबन्धु पाठक की रूपवती कन्या रत्नावली के साथ उनका विवाह हुआ। तरुण तुलसी रत्ना के रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर अपना सब कुछ भूल गये और उसके प्रेम मे इतने तल्लीन हो गये कि एक बार उसके मायके चले जाने पर वह भी वहाँ पहुँच गये। रत्ना को यह व्यवहार अत्यन्त अनुचित जान पड़ा। उसने उनकी विद्वता पर व्यंग किया। तुलसी उसका व्यंग समझ कर तिलमिला उठे और फिर वह तुरन्त विरक्त होकर काशी चले गये।

काशी मे कुछ समय रहकर वह अयोध्या गये और वहाँ से उन्होंने जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम्, द्वारिका, बदरिकाश्रम, कैलाश, मानसरोवर, चित्र-कूट आदि तीर्थ-स्थानो की यात्रा की। स० १६३१ मे अयोध्या जाकर उन्होने 'रामचरितमानस' की रचना आरंभ की और उसे २ वर्ष ७ महीने मे समाप्त किया। इस महाकाव्य का कुछ अश अयोध्या मे और शेष काशी मे लिखा गया। उस समय काशी मे वह प्रहलाद घाट पर रहते थे। यहाँ उनसे मिलने भदैनी के भूमिहार जमींदार टोडर आया करते थे। टोडर उनके भक्त थे। वह मुगल-सम्राट अकबर (स० १५९६-१६६२) और जहाँ-गीर (स०१६६२-८४) के समकालीन थे। अकबर के शासन-काल के अन्तिम दिनो अर्थात् स० १६५६ मे काशी मे भयकर उत्पात आरभ हुआ और वह स०१६७६ तक बना रहा। तुलसी ने इस अशान्ति-काल को 'रुद्रबीसी' समझ कर शिव से प्रार्थना की। उत्पात शान्त होने पर काशी मे महामारी फैली। इसका प्रभाव तुलसी के स्वास्थ्य पर पड़ा। उनकी दाहिनी भुजा मे पीड़ा होने लगी जो धीरे-धीरे सारे शरीर मे फैल गई। साथ ही उनके शरीर मे फोड़े भी निकल आये। उन्हे शान्त करने के लिए उन्होने राम, शिव और

हनुमान से प्रार्थना की जिससे उन्हे कुछ शान्त मिली, पर वह अपने प्राण की रक्षा न कर सके। श्रावण, कृष्ण ३, शनिवार सं० १६८० को वह परलोक वासी हुए।

गोस्वामीजी की रचनाएँ

गोस्वामीजी ने कई काव्य-ग्रन्थो की रचना की जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

(१) **रामलला नहछू**—इसका रचना-काल सं०१६१२ है। इस खण्ड-काव्य मे केवल २० छन्द हैं जिनमे सोहर छन्द की अधिकता है। ऐसे छन्दो को स्त्रियाँ मंगलोत्सवो पर गाती हैं। इसमे राम के नख कटाने का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। जन-साधारण मे प्रचलित 'नहछू' प्रथा को राम-कथा से सम्बन्धित कर गोस्वामीजी ने इसमे शिष्ट शृंगार का पुट दे दिया है। इसकी भाषा पूर्वी अवधी है।

(२) **रामाज्ञा प्रश्न**—इसका रचना-काल सं०१६२१ है। इसमें राम-कथा का वर्णन दोहों मे किया गया है। दोहो का क्रम इस प्रकार रखा गया है कि प्रश्नकर्ता को दोहो-द्वारा ही शुभाशुभ परिणाम का पता चल जाता है। इसमे ४९ ४९ दोहो के सात अध्याय हैं। कहा जाता है कि यह ग्रंथ पं० गगाराम ज्योतिषी के लाभार्थ लिखा गया था। शकुन विचारने की यह सुन्दर काव्य-पुस्तक है। इसकी भाषा अवधी है।

(३) **वैराग्य संदीपिनी**—इसका रचना-काल स० १६२६ है। यह दोहा-चौपाई तथा सोरठा मे ६२ छन्दो का छोटा-सा काव्य-ग्रन्थ है। इसमें ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि का विशद निरूपण किया गया है, साथ ही सन्त-महात्माओ के लक्षण भी दिए गए हैं। इसकी शैली उपदेशात्मक है।

(४) **रामचरित मानस**—इस महाकाव्य का रचना-काल सं०१६३१ की रामनवमी से सं०१६३४ तक है। इसमे भगवान राम का सम्पूर्ण जीवन दोहा-चौपाइयो मे चित्रित किया गया है। इसकी भाषा पश्चिमी अवधी है।

(५) **पार्वती-मंगल**—इसका रचना-काल स०१६४४ है। इस खण्ड-काव्य में शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन अरुण और हरिगीतिका

छन्दों में किया गया है। इसकी भाषा पूर्वी अवधी है। इस रचना पर 'कुमार सम्भव' का प्रभाव है।

(६) जानकी-मंगल—इसका रचना-काल सं० १६४४ है। इस खण्ड-काव्य में राम और सीता के विवाह की कथा का वर्णन अरुण और हरि-गीतिका छन्दो मे किया गया है। इसकी भाषा अवधी है।

(७) गीतावली—इसका रचना-काल स० १६४६ है। इसमे राग-रागिनियो का सुन्दर समावेश ह। कथा-प्रसङ्ग कुछ भेद के साथ मानस से मिलता-जुलता है। कुल कथा सात काण्डो मे विभाजित है जिनमे गेय पद हैं। इन गेय पदो पर सूर के पदो की स्पष्ट छाप है। राम-कथा के सुन्दर अगो को लेकर ही इस ग्रन्थ की रचना हुई है, इसलिए कथा-वर्णन मे क्रम-बद्धता नहीं है। इसमें राम के सौन्दर्य-शृंगार का अधिक वर्णन है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है।

(८) कृष्ण-गीतावली—इसका रचना-काल सं०१६५० है। इस मे कृष्ण-कथा का वर्णन स्फुट पदों मे किया गया है। ऐसे कुल ६१ पद इसमें मिलते हैं। इन पदो मे शृंगार रस की प्रधानता है। भ्रमर-गीत प्रकरण भी इसमें सन्निहित है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है।

(९) बरवै-रामायण—इसका रचना-काल सं०१६६४ है। इसमे राम-कथा बरवै छन्द में कही गई है। इसमे सात काण्ड और ६६ छन्द हैं। यह रस और अलंकार योजना-प्रधान ग्रन्थ है। इसकी भाषा पूर्वी अवधी है।

(१०) विनय-पत्रिका—इसका रचना-काल सं० १६६६ है। कहा जाता है कि तुलसीदास ने इसकी रचना काशी के पण्डितों से तग आकर अपने भगवान राम की सेवा मे प्रार्थना के रूप मे की थी। इस ग्रंथ में उन्होने राग-रागनियो-द्वारा देवी-देवताओं के विनय-सम्बन्धी पद लिखे हैं जिनमे ज्ञान, वैराग्य, संसार की नश्वरता, मोह-माया आदि पर विचार प्रकट किए गए हैं। इसकी भाषा संस्कृत-गर्भित ब्रजभाषा है।

(११) कवितावली—इसका दूसरा नाम कवित्त-रामायण और इसका रचना-काल सं० १६८० है। इसमे राम-कथा कवित्त, सवैया, घनाक्षरी और षटपदी छन्दों मे कही गई है। इसमें राम के शौर्य का चित्रण बड़ी

सफलतापूर्वक किया गया है। इसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। इस ग्रंथ से तुलसीदास के जीवन के सम्बन्ध में भी बहुत-सी बातों का ज्ञान हो जाता है और तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों पर भी प्रकाश पड़ता है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है। इसमें हनुमान बाहुक (सं० १६८०) भी सम्मिलित है।

(१२) दोहावली—इसका रचना-काल स० १६८० है। यह ग्रंथ गोस्वामीजी के ५७३ दोहों का सग्रह है। इन दोहो में से कुछ तो नवीन हैं, और कुछ उनकी अन्य रचनाओ से लेकर संगृहीत किए गए हैं। अधिकांश दोहे उपदेशात्मक और भगवद्भक्ति से सम्बन्ध रखनेवाले हैं। इसकी भाषा अवधी है।

काव्य-शैली के अनुसार तुलसीदास की उक्त रचनाओ का वर्गीकरण इस प्रकार होगा :—

(१) महाकाव्य—रामचरित मानस।

(२) खण्ड-काव्य—रामलला नहछू, जानकी-मंगल और पार्वती-मंगल।

(३) मुक्तक—गीतावली, कृष्ण-गीतावली, दोहावली, वैराग्य-सदीपिनी, कवितावली, वरवै-रामायण, रामाज्ञा प्रश्न और विनय-पत्रिका।

भाषा के अनुसार तुलसीदास की उक्त रचनाओ का वर्गीकरण इस प्रकार होगा :—

(१) अवधी—रामचरित मानस, दोहावली, रामलला नहछू, वैराग्य संदीपिनी, वरवै-रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल और रामाज्ञा प्रश्न।

(२) ब्रजभाषा—विनय-पत्रिका, कवितावली, गीतावली और कृष्ण-गीतावली।

गोस्वामीजी का समय

तुलसीदास ने अपनी उक्त रचनाओ मे हमे क्या दिया, क्यो दिया और किस रूप में दिया, यह सब जानने के पहले हमे उनके युग की विभिन्न परिस्थितियो पर विचार कर लेना चाहिए:—

(१) राजनीतिक स्थिति—तुलसीदास ने जिस समय जन्म लिया उस समय दिल्ली के राज-सिंहासन पर द्वितीय मुग़ल-सम्राट हुमायूं

(स० १५८७-१६१३) आसीन था। हुमायूँ के शासन-काल के प्रारभिक दिनो मे जो राजकीय परिवर्तन हुए उनसे तुलसीदास भले ही परिचित न रहे हो, पर उनसे उत्पन्न होनेवाले प्रभावो से वह अनभिज्ञ नही थे। जिस समय अकबर ने उत्तर भारत के शासन की बागडोर अपने हाथ मे ली उस समय तक (स० १६१३) उनकी रेख भिन आई होगी और उन्होने शेरशाह के शासन-काल (सं० १५६७-१६०२) की सुव्यवस्था का परिचय प्राप्त करने के साथ-साथ उसके उत्तर कालीन वशजो के ह्रास की कथा भी सुनी होगी और सुना होगा पानीपत के द्वितीय युद्ध (स० १६१३) का रक्तपातपूर्ण रोमांचकारी विवरण। यही नहीं, अकबर के शासनारूढ़ होने के समय (स० १६१३) से 'रामचरित मानस' की रचना आरंभ करते समय (सं० १६३१) तक उन्होने राजपूतो का पतन देखा होगा, अधिकार-लिप्सा का ताण्डव-नृत्य देखा होगा, शासको की निरंकुशता के हृदय हिला देनेवाले दृश्य देखे होगे, क्षणिक स्वार्थ के लिए पुत्र को पिता का और भाई को भाई का गला काटते देखा होगा और सुना होगा अपने चारों ओर युद्ध के नगाड़ो का भीषण घोष। ऐसे राजनीतिक वातावरण में न तो राज्य की कोई मर्यादा रह सकती थी, न उसका कोई आदर्श रह सकता था और न उसका कोई नियम। प्रजा शासको के भरण-पोषण और उनकी महत्त्वाकाङ्क्षाओं की पूर्ति के लिए थी; शासको का प्रजा के प्रति कोई नियमित कर्तव्य नहीं था।

(२)**सामाजिक स्थिति**—देश की उक्त राजनीतिक स्थिति मे सामाजिक स्थिति का पतन स्वाभाविक ही था। उस समय, वास्तविक अर्थ मे, न तो मुसलमान मुसलमान रह गया था और न हिन्दू हिन्दू। सब को अपनी-अपनी पडी थी। कल क्या होगा? दिल्ली के सिहासन पर किसका राज्याभिषेक होगा?, कहाँ युद्ध के नगाड़े बजेगी?, कौन-सा गाँव लूटा जायगा?, किसे मौत के घाट उतरना पड़ेगा?, किसे अपने धर्म से हाथ धोना होगा?, किसकी पुत्री अथवा पत्नी पर हाथ साफ किया जायगा?, किसकी धन-धरती का अपहरण होगा?— कोई कुछ नही कह सकता था। ऐसे अनिश्चित और अविश्वासपूर्ण वातावरण मे यदि हिन्दू हिन्दू का, मुसलमान मुसलमान का और हिन्दू मुसलमान का शत्रु बन बैठा था तो

कोई आश्चर्य की बात नही थी। ऐसे सामाजिक वातावरण मे यदि कोई जाति गई-गुजरी थी तो वह थी हिन्दू-जाति। मुसलमान शासक थे और उन्हे अपने शासक होने का गर्व था। वे आपस मे लड़ते-झगडते थे, पर हिन्दुओं के मुकाबिले मे एक थे। हिन्दू-जाति मे इस भावना का सर्वथा अभाव था। इस भावना के अभाव के कारण ही उसे जो चाहता था, पीट लेता था। उसकी इस भावना को वर्ण-व्यवस्था के विकृत रूप ने और भी उत्तेजित कर दिया था। ब्राह्मण-अब्राह्मण का भेद-भाव इतना अधिक बढा हुआ था कि हिन्दू-समाज के बीच शक्तिशाली सगठन की कोई योजना बन ही नही सकती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सब अपने कर्तव्यो के प्रति उदासीन थे। संतो और योगियो के प्रभाव से विशेषतः शूद्रो मे मुक्ति-प्राप्ति की इतनी प्रबल लालसा जाग्रत हो गई थी कि जिसे देखो, वह मूड़ मुड़ाकर चट सन्यासी हो जाता था। इस प्रकार न तो वर्ण-व्यवस्था की कोई मर्यादा थी और न आश्रम-व्यवस्था की। परिवार के बन्धन भी शिथिल हो गए थे। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह, सती-प्रथा, आदि के दुष्परिणामो से पारिवारिक शक्ति का ह्रास हो रहा था। धनी इने-गिने थे, पर जो भी थे वे थे प्रायः विलासी और शोषक। शासक-समुदाय की स्वार्थपूर्ण लिप्सा और शक्ति के दुरुपयोग के कारण साधारण जनता का जीवन अत्यन्त कष्टमय था। किसानो की दशा तो और भी खराब थी। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान—सब शोषित और दरिद्र थे। शासक-वर्ग का ध्यान न तो कृषि की उन्नति की ओर था, न उद्योग-धधो की ओर और न शिक्षा की ओर। मुसलमानो के हाथ मे तो कुछ उद्योग-धधे भी थे और उनके बालकों की शिक्षा के लिए मसजिदो मे कुछ प्रबध भी था, पर हिन्दुओं के हाथ मे न तो कोई कला-कौशल रह गया था और न उन्हें शिक्षा से ही कोई प्रेम था।

(३) **धार्मिक स्थिति**—हिन्दुओं की धार्मिक स्थिति उनकी सामाजिक स्थिति की भाँति ही शोचनीय थी। सारा हिन्दू-समाज साधु-संन्यासियों से भरा था। उनमे कोई वैरागी था, कोई सिद्ध, कोई योगी, कोई तान्त्रिक, कोई कबीर-पथी, कोई नानक-पथी, कोई गोरख-पंथी और कोई दादू-पंथी।

बहुत से तो यो ही मूड़ मूड़ाकार जनता को मुक्ति का उपदेश देते और उसे ठगते फिरते थे। सूरदास ने मधुर भक्ति-द्वारा ऐसे अनेक दूषित प्रभावो से जनता को यथाशक्ति बचाने की चेष्टा की थी और अपनी उस चेष्टा मे वह सफल भी हुए थे, किन्तु वह हिन्दू-समाज के निम्न स्तर को अपनी भक्ति भावना की ओर भरपूर आकृष्ट न कर सके। राधा-कृष्ण का शृगार और गोपी-कृष्ण की लीलाएँ मन्दिरो तक ही सीमित रही जिनमें शूद्रो का प्रवेश निषिद्ध था। ऐसी दशा मे शूद्र योगियो और वैरागियों के चगुल से न बच सके। उच्च वर्ग के सभी लोग कृष्ण-भक्त हो गए हो—ऐसी बात भी नहीं थी। उनमे कोई कृष्ण-भक्त था तो कोई शैव और कोई शाक्त। उनके अपने-अपने अखाडे थे जहाँ दिन-रात खडन होता रहता था। वैष्णव भक्तों की भी अलग-अलग कोटियाँ थीं। उनमे कोई श्री-सप्रदाय का समर्थक था तो कोई सनक-सप्रदाय का और कोई ब्रह्म-संप्रदाय में दीक्षित था तो कोई पुष्टि-मार्ग मे। इन विभिन्न संप्रदायो और मत-मतांतरो में पाखण्ड का इतना बोलबाला था कि उपासना और साधना का वास्तविक रूप ही लुप्त हो गया था। वेद, उपनिषद, दर्शन, गीता, पुराण—सब धार्मिक गुरुओं की जबान पर थे, पर उनके मत्रो का अर्थ करने मे इतनी तोड़-मरोड़ होती थी कि अर्थ का अनर्थ हो जाता था। उन्हे स्वयं पढकर, स्वय समझ-बूझ कर अपना मार्ग निश्चित करने की सामर्थ्य साधारण जनता में नही थी। शताब्दियों से हर प्रकार के कष्ट सहते-सहते वह अपने जीवन से ऊबकर इतनी अंधविश्वासी और परावलंबी हो गई थी कि वह सहज ही मुक्ति के ठेकेदारों की लपेट मे आ जाती थी।

(४) **साहित्यिक स्थिति**—देश की उक्त-ह्रासोन्मुखी परिस्थितियो में जब हम अपने हिन्दी-साहित्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तब हमे किंचित सतोष होता है और यह इसलिए कि जिस समय गोस्वामी तुलसीदास ने कुछ लिखने के लिए लेखनी उठाई उस समय तक उसका रूप बहुत कुछ निखर आया था। उसमें बुद्धि-तत्व, भाव-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और कला-तत्त्व का समावेश हो चुका था और चदबरदायी (सं० १२२५-४६), अमीर खुसरो (स० १३१०-८२), विद्यापति ठाकुर (सं० १४१७-१५०५), कबीर

(स० १४२५-१५०५), गुरु नानक (सं० १५२६-६६), मलिक मुहम्मद जायसी (सं० १५२०-६६), नन्ददास (स० १५६०-१६३६), मीराँ बाई (सं० १५५५-१६०३) आदि अपनी-अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय दे चुके थे। इन कवियो की विभिन्न काव्य-शैलियाँ भी प्रत्यक्ष थीं। महाकाव्य, खण्ड-काव्य, मुक्तक आदि सब लिखे जा चुके थे। पर इन सब के बावजूद भी साहित्य में जिस प्राण फूँकनेवाली सामाजिक चेतना की प्रतिष्ठा होनी चाहिए थी उसका सर्वथा अभाव था। इस अभाव की पूर्ति की ओर चन्दबरदाई से मीराँबाई तक किसी का ध्यान नहीं गया। यही कारण था कि हिन्दी-साहित्य समृद्ध होकर भी जन-जीवन के बीच न तो अध्ययन का विषय बन सका और न अपनी प्रतिष्ठा ही स्थापित कर सका। सारांश यह कि तत्कालीन हिन्दू-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे कोई-न-कोई अभाव था और सामूहिक रूप स उन सभी अभावो की पूर्ति के लिए आवश्यकता थी एक कुशल लोक-धर्म व्यवस्थापक की। गोस्वामी तुलसीदास ने इस आवश्यकता की पूर्ति की।

तुलसीदास का महत्त्व

तुलसीदास अपने समय के महापुरुष थे। एक साधारण परिवार में जन्म लेकर जीवन की अनेक कठिनाइयाँ झेलते हुए अपना अलौकिक प्रतिभा से उन्होने हिन्दू-जाति, हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति और हिन्दी-साहित्य की जो निःस्वार्थ सेवा की वह अपने मे महान और विश्व के इतिहास में बेजोड़ है। वस्तुतः बुद्धदेव के पश्चात् भारत में सबसे बडे लोक-नायक वही थे। किसी को लोक-नायक उसके युग की परिस्थितियाँ बनाती है तो किसी को उसकी प्रतिभा। तुलसीदास को लोक-नायक तुलसीदास बनाने मे उनके युग की परिस्थितियो ने उन्हे ठोस और क्रियात्मक योग नहीं दिया। योग देना तो दूर, जो सुविधाएँ सामान्यतः उन्हें मिल सकती थीं उन्हे भी उनके युग ने उन्हे नहीं दीं। विषम परिस्थितियो में उन्होने जो कुछ किया, अपने पुरुषार्थ से किया और अपनी प्रतिभा के बल पर किया। उनकी परिस्थितियों ने उनके साथ यदि कुछ सलूक किया तो केवल इतना ही कि उन्होने उनकी प्रतिभा को जाग्रत कर दिया और उस पर शान चढा दी। मतलब यह कि तुलसी का जो भी महत्त्व है वह परिस्थिति-प्रदत्त नहीं; प्रतिभा-प्रदत्त है और

इसलिए वह तुलसी का अपना निजी है। उनके व्यक्तित्व की इस विशेषता को समझ लेन से उनके व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता का रहस्य आसानी से खुल जाता है। इस दूसरी विशेषता का सम्बन्ध उनके कवि-जीवन से है जिसका आभास उनकी रचनाओं से हमे मिलता है।

तुलसीदास की रचनाओ मे तुलसीदास के दो रूप हैं : (१) युग-प्रतिनिधि का रूप और (२) युग-निर्माता का रूप। युग-प्रतिनिधि के रूप में उन्होने अपने युग की समस्याओ का चित्रण किया है और युग-निर्माता के रूप मे उन्होने उनका समाधान। ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि पहले रूप की अपेक्षा उनका दूसरा रूप ही उनकी रचनाओ मे महान है। यही उनकी विशेषता है और यही उनके महत्व का केन्द्र-विन्दु ! जीवन की विविध समस्याओ के चित्रण की भित्ति पर उन्होने देश के भावी निर्माण की जो योजना प्रस्तुत की है वही उनके महत्त्व का कारण है। चन्दवरदाई ने अपनी रचनाओ मे केवल अपने युग की एकागी समस्याओ का चित्रण किया है, कबीर ने अपनी रचनाओं मे अपनी व्यक्तिगत साधना का मार्ग प्रशस्त किया है, जायसी ने अपनी रचनाओं मे सूफी प्रेम-साधना की दुहाई दी है और सूर ने अपनी रचनाओ मे कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का कीर्तन किया है, परन्तु तुलसी ने अपनी रचनाओ में हमें जीवन का पाठ पढ़ाया है। उन्हाने हमे यही नही बताया है कि हमारा जीवन कैसा है, वरन् हमें यह भी बताया है कि हमारा जीवन कैसा होना चाहिए। शताब्दियो से देश को यही मांग थी और इस मांग की पूर्ति तुलसी ने बड़ी-बड़ी मुसीबतें झेलकर की।

युग-निर्माता के रूप मे तुलसीदास लोक-नायक थे। एक लोक-नायक मे जिन-जिन गुणो का होना वांछनीय है उन सब का समावेश उनके व्यक्तित्व मे हुआ था। नाना पुराण निगमागम का उन्होने गम्भीर अध्ययन किया था। अपने देश और समाज की गति विधियो से भी वह भली भाँति परिचित थे। अपने युग की धार्मिक प्रवृत्तियों का भी उन्हे ज्ञान था। राजा और प्रजा के बीच होनेवाले नित्यप्रति के व्यवहारों से भी वह परिचित थे। मतलब यह कि तत्कालीन जीवन की ऐसी कोई भी पारिवारिक, सामाजिक,

राजनीतिक, नैतिक, आर्थिक अथवा धार्मिक समस्या नही थी जो उनकी पैनी दृष्टि से ओझल रही हो और जिस पर उन्होने गम्भीर दृष्टि से विचार न किया हो। ऐसी थी उनकी तैयारी! परन्तु तैयारी ही सब कुछ नही है। उसका महत्त्व तो तब है जब वह किसी आदर्श को अपनाकर अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त करे और जनता को उस मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहन दे। तुलसीदास यहाँ भी नहीं चूके। उन्होने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के लोक-रक्षक रूप को अपनी उपासना और साधना का आदर्श बनाया और उसके बल पर उन्होने मानव-जीवन की अत्यन्त व्यापक व्याख्या की। ऐसा करने मे उन्होने प्राथमिकता दी अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण को और यह इसलिए कि समन्वय-स्थापन की सामर्थ्य से शून्य जीवन कभी उठ नहीं सकता। जीवन की विविध समस्याओ के चित्रण में उनका यह दृष्टिकोण उनके महत्त्व मे चार चॉद लगा देता है। उनका 'रामचरित मानस' उठाइए और देखिए--उसमे आपको लोक और शास्त्र का समन्वय, सन्त और असन्त का समन्वय, भक्त और भोगी का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैरागी का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, पण्डित और मूर्ख का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, सती और कामिनी का समन्वय, मित्र और शत्रु का समन्वय—तात्पर्य यह कि जीवन की प्रत्येक दो विरोधी समस्याओ एवं परिस्थितियो के बीच आपको समन्वय की गूँज सुनाई देगी।

समन्वयवाद की ओर कबीर और सूर भी झुके थे, पर कबीर के समन्वयवाद मे केवल आत्मा-परमात्मा का समन्वय था और सूर के समन्वयवाद मे केवल सयोग और वियोग का। जीवन की विविध परिस्थितियों के बीच तुलसीदास ने जिस समन्वयवाद की प्रतिष्ठा की उसका कबीर और सूर, दोनो में अभाव था। तुलसीदास में एक विशेषता और थी और वह यह कि तुलासीदास समन्वयवादी होने के साथ-साथ मर्यादावादी भी थे। समन्वयवाद जबतक मर्यादित नही होता तब तक वह जीवन मे नैतिकता की प्रतिष्ठा नही कर सकता। तुलसीदास जीवन की कुछ चुनी हुई समस्याओं में समन्वय स्थापित करके चुप बैठनेवाले नही थे, वह जीवन

की संपूर्ण समस्याओं मे समन्वय स्थापित कर उसे आर्य-सभ्यता और संस्कृति के अनुकूल बनाना चाहते थे। वह समर्थक थे वर्ण-व्यवस्था के, वह पोषक थे आश्रम-धर्म के। श्रद्धा, भक्ति, दया, क्षमा आदि सात्विक वृत्तियों के नियमित अनुष्ठान और अभ्यास के लिए वह समाज मे छोटी-बड़ी श्रेणियों का विधान अनिवार्य समझते थे। राजा-प्रजा, ऊँच-नीच, धनी-दरिद्र, सबल-निर्बल, शासक-शासित, पडित-मूर्ख, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक के बीच जो अनेक रूपात्मक संबंध भारतीय संस्कृत-द्वारा प्रतिष्ठित है उसके सफल निर्वाह की व्यवस्था करना ही उनका लक्ष्य था। उन्होंने कहा :—

'वरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहि सुख, नहिं भय, सोक,न रोग।।'

अपने उक्त दृष्टिकोण के कारण तुलसीदास ने मर्यादा का कहीं भी उल्लघन नहीं किया। उन्होंने अपने 'मानस' में ऊँच और नीच, दोनों श्रेणियों के पात्रो की व्यवस्था की और उन दोनो को अपनी-अपनी लोक मर्यादित सीमा के भीतर ही अपने व्यक्तित्व का विकास करने का अवसर दिया। उन्होंने ज्ञान-प्राप्ति का श्वपच को भी अधिकार दिया, पर उसके बल पर वर्ण और आश्रम-धर्म की व्यवस्था तोड़ने का उसे अधिकार नहीं दिया। उसे इस प्रकार का अधिकार न देकर जहाँ उन्होने वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा की वहाँ उन्होंने इसके प्रति उच्च वर्ग के लोगो को कर्तव्य-पालन की गुरुता और गंभीरता का पाठ भी पढ़ाया। सती सीता के निर्मल चरित्र पर दोष लगानेवाले धोबी का राम ने सिर नही काटा, उन्होंने उस दोष के परिहार का प्रयत्न किया। 'बड़े जबतक अपने छोटो के प्रति उदारतापूर्ण व्यवहार करेंगे तबतक छोटों को उनके विरुद्ध जाने का अवसर नहीं मिलेगा।' अपने इसी विचार से प्रेरित होकर तुलसी ने सब के लिए कर्तव्य की व्यस्वथा की और 'राम-राज्य' का आदर्श प्रस्तुत किया। उनका 'राम-राज्य' अधिकार-लिप्सा का अखाड़ा नहीं, कर्तव्य-पालन का सुरम्य उपवन है जहाँ प्रत्येक नागरिक व्यक्तिगत रूप से अपनी और सामूहिक रूप से सब की उन्नति का ध्यान रखता है।

ठीक है, परन्तु इतने से ही तुलसीदास को सन्तोष नही होता। शताब्दियों से ठोकरें खानेवाली जनता तो कर्तव्य-पालन का ही फल भोग रही थी। अपने धर्म, अपनी मर्यादा, अपने माँ-बहनो की लाज की रक्षा और सब से बढ़कर अपने राज्य को विदेशी आक्रमणों से बचाने के लिए उसने क्या कुछ उठा रखा था! फिर भी वह गुलाम थी और दरिद्रता में अपने दिन काट रही थी। उसमे साहस नहीं था उठने का, उसमे आशा नहीं थी अपने सफलता की। तुलसीदास ने ऐसी जनता को राम के लोक-रक्षक रूप का दर्शन कराया और उसमें आशा एवं आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा की। साथ ही उन्होने कर्म के फलाफल की ओर भी उसका ध्यान आकृष्ट किया। गुरु वशिष्ट से उन्होने कहलाया :—

'सुनहु भरत! भावी प्रबल बिहँसि कह्यौ मुनिनाथ।
हानि-लाभ, जीवन-मरन यह नहि अपने हाथ॥'

इस प्रकार तुलसीदास ने जहाँ अपने समय के समाज को आशा और आत्म-विश्वास के आधार पर पुरुषार्थ की ओर अग्रसर किया वहाँ उसे फल-प्राप्ति की आकांक्षा से विरक्त कर ईश्वर की अनुकम्पा पर आश्रित रहने की शिक्षा दी। तात्पर्य यह कि उन्होने अपने समन्वयवाद-द्वारा जीवन की विविध परस्पर विरोधी परिस्थितियों मे एक रूपता स्थापित की, अपने मर्यादावाद-द्वारा उन्होने जीवन मे नैतिकतापूर्ण आचरण की प्रतिष्ठ की, अपने आशावाद-द्वारा उन्होने जीवन को सन्मार्ग की ओर अग्रसर किया, अपने भाग्यवाद-द्वारा उन्होने जीवन मे निष्काम कर्म का महत्त्व स्थापित किया और अपने भक्तिवाद-द्वारा जीवन मे राम के लोक-रक्षक रूप पर आस्था रखने की प्रेरणा दी। लोक-नायक के रूप मे तुलसीदास का यह महत्त्व हिन्दू-जाति कभी भूल नही सकती।

राम-भक्ति का विकास

गोस्वामी तुलसीदास राम के भक्त थे। **'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत'** से ज्ञात होता है कि वह राम-कथा से पहले भी परिचित थे, पर जब उन्होंने अपने गुरु नरहरिदास से शूकर क्षेत्र में पुनः वह कथा सुनी तब उनके हृदय में उसके प्रति विशेष अनुराग उत्पन्न हुआ

और उन्होंने 'रामचरित मानस' की रचना की। 'रामचरित मानस' में दाशरथि राम का जो भव्य रूप अंकित हुआ है उसका संपूर्ण श्रेय तुलसीदास को प्राप्त नहीं है। तुलसीदास से बहुत पहले ही दाशरथि राम विष्णु के दस अवतारों में स्थान पा चुके थे। भक्ति-भावना के विकास और उसके इतिहास के सम्बन्ध में अबतक जो खोजे हुई हैं उनसे ज्ञात होता है कि वैदिक काल मे ही 'राम' ने जन-जीवन के बीच महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। वेदो के परवर्ती साहित्य में भी कोशल जनपद की स्थिति, अयोध्या के सूर्यवशीय राजाओ की पुराणों में प्राप्त प्रशस्तियो तथा उसके यशस्वी शासको की वंश-परम्परा मे राम के उत्पत्ति-विषयक अनेक सुदृढ प्रमाण मिलते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से राम का सर्व प्रथम दर्शन वाल्मीकि-रामायण में होता है। इसके पश्चात् महाभारत, अष्टाध्यायी, बौद्ध-धर्म की जातक-कथाओं, जैन-धर्म-ग्रन्थो और पुराणों आदि मे जो राम-कथाएँ मिलती हैं उनसे भी रामचरित की बढती हुई प्रतिष्ठा का पता चलता है। पौराणिक साहित्य मे, विशेषतः हरिवंश, विष्णु, वायु और भागवत पुराणों में राम विष्णु के अवतार माने गए हैं। भारतीय धर्म-भावना मे अवतारवाद की प्रतिष्ठा कब हुई, यह बताना अत्यन्त कठिन है। अनुमानतः भारतीय महा-पुरुषों के उदात्त चरित से प्रभावित लोक-भावना ने धीरे-धीरे विकसित होकर जो अन्तिम रूप धारण किया उसकी परिणति अवतारवाद में ही हुई होगी और जिस समय भी यह प्रक्रिया हुई होगी उस समय उसने ही राम को राजपुत्र से पुरुषोत्तम, पुरुषोत्तम से विष्णु और विष्णु से परमपुरुष के पद पर आसीन कर दिया होगा। जो भी हो, यह निर्विवाद है कि गुप्त-काल (सं० ३७०-६००) मे अवतारवाद की पूर्ण रूपेण प्रतिष्ठा होने पर जब विष्णु के दशावतारो की कल्पना की गई तब उसके अन्तर्गत दाशरथि राम को सातवाँ स्थान मिला और उनके सामने उनके पूर्ववर्ती अवतार हेय समझे जाने लगे। किन्तु इतने पर भी वह उस प्रकार उपास्य नहीं बन सके जिस प्रकार वासुदेव कृष्ण अवतार बनने के पूर्व से ही रह चुके थे। दश अवतारों में वासुदेव कृष्ण का आठवाँ स्थान था। ऐतिहासिक दृष्टि से वह तत्कालीन जनता की स्मृति में राम की अपेक्षा अधिक निकट थे। इसके

अतिरिक्त वह गीताकार के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुके थे और विष्णु के अन्य अवतारो की भाँति उन्होने मानवों तथा देवताओ के कल्याण के लिए अनेक कार्य भी किए थे। राधा और गोपियों के साथ उन्होने जो भावती-लीलाएँ की थीं वे भी उस समय की लोक-रुचि के अत्यन्त अनुकूल थीं। दाशरथि राम मे इस प्रकार की कोई विशेषता नही थी। उनकी महत्ता विशेषकर उनके त्याग तथा मर्यादा-रक्षा एवं वीरता पर निर्भर थी। उन्होने कभी किन्हीं उच्च सिद्धान्तों का उपदेश भी नहीं दिया था। प्राचीन कथा के अनुसार उनका रावण आदि का वध भी उनके स्वार्थवश किए गए कार्यों की कोटि मे समझा जाता था। इन कतिपय कारणो से कृष्णोपासना की तुलना में उनकी उपासना को न तो विशेष प्रोत्साहन ही मिल सका और न उसे सांप्रदायिक रूप ही प्राप्त हो सका।

ऐतिहासिक दृष्टि से राम-भक्ति को नवी शताब्दी मे साम्प्रदायिक रूप प्राप्त हुआ। इसके प्रथम आचार्य थे दक्षिण भारत के शठ कोप आलवार। कहा जाता है कि वह राम की पादुका के अवतार थे। आलवार-संतों में उनका पाँचवा स्थान था। उनकी परम्परा मे अन्य सात सतों ने भी राम-भक्ति को अपनाया। आलवारो के उत्तराधिकारी श्री-सप्रदाय के प्रथम आचार्य नाथमुनि (स० ८८१-६८१) तथा उनके पुत्र यामुनाचार्य (सं० ६७३-१०६७) ने भी राम-भक्ति के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। यामुनाचार्य के प्रशिष्य रामानुजाचार्य (सं० १०७३-११७४) थे। उन्होने अपनी जीवन-यात्रा का अधिकांश श्री-सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक ग्रंथो की रचना और प्रचार में ही बिताया। वाल्मीकि-रामायण मे उनकी अत्यधिक निष्ठा थी। उनके शिष्यो ने भी राम-भक्ति का अच्छा प्रचार किया। ब्रह्म-संप्रदाय के प्रवर्तक श्री मध्वाचार्य (स० १२५६-१३६०) भी राम-भक्त थे और वह हनुमान के अवतार माने जाते थे। उनका ध्यान रामोपासना की ओर झुका अवश्य, पर उनके सम्प्रदाय मे उसका विशेष सत्कार न हो सका। स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा मे राघवानन्द का अविर्भाव हुआ। उनके गुरु हर्यानन्द रामोपासक थे। गुरु हर्यानन्द के कहने से राघवानन्द राम-भक्ति का प्रचार करने के लिए उत्तर भारत आए। अयोध्या से वह काशी गए और काशी में कुछ

समय व्यतीत करने के पश्चात् वह फिर दक्षिण लौट गए। उस समय तक उनके गुरु की मृत्यु हो चुकी थी। आचार-व्यवहार मे वह वैष्णव-मात्र मे भेद नहीं रखते थे। उनका यह सिद्धान्त वैष्णवो की उस गद्दी को मान्य नहीं हुआ। इसलिए वह पुनः काशी आकर रहने लगे। प्रसिद्ध है कि काशी मे उन्होने शङ्कराचार्य के मतानुयायी प्रयाग-निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण राम दत्त अथवा रामभारती को राम-मंत्र की दीक्षा दी। वही आगे चल कर स्वामी रामानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए।

स्वामी रामानन्द (सं० १२६६-१४१०) ने श्री-संप्रदाय के विशिष्टाद्वैत-दर्शन और प्रपत्ति-सिद्धान्त का आधार लेकर रामावत संप्रदाय की स्थापना की। अपने इस सप्रदाय मे उन्होने श्री-सप्रदाय के उपास्य-देव के स्थान पर राम और सीता को स्वीकार किया; वाह्य सदाचार की अपेक्षा साधना मे आंतरिक भाव की शुद्धता पर बल दिया; जाति-पांति, छुआ-छूत ऊँच-नीच का भाव मिटाकर वैष्णव मात्र मे समता का समर्थन किया; नवधा से परा और प्रेमा भक्ति को श्रेयस्कर बताया तथा सांप्रदायिक सिद्धान्तो के प्रचार मे परंपरा-पोषित सस्कृत भाषा की अपेक्षा हिन्दी अथवा जन-भाषा को प्रधानता दी। शैव तथा शक्ति-पंथियों के प्रभाव से समाज में तंत्र, मंत्र आदि के प्रति लोगों का आकर्षण देखकर उन्होने रामोपासना में भी उसकी व्यवस्था की। ऐसा उन्होने रामोपासना को युग के अनुकूल बनाने के विचार से ही किया। तंत्र-मत्र आदि मे उनकी आस्था नही थी। उनके द्वारा वह रामोपासना का दिव्य सदेश घर-घर तक पहुँचाना चाहते थे। उनमें अद्भुत सगठन-शक्ति थी। उन्होंने बलपूर्वक मुसलमान बनाए गए हिन्दुओ को रामतारक मंत्र देकर जहाँ उनका उद्धार किया वहाँ उन्होने मुसलमानी शासन के आतंक से त्रस्त उत्तर भारत के तीर्थों मे अपने केन्द्र स्थापित कर उनकी रक्षा की और वैरागियो को जन्म देकर उनके द्वारा अपने संप्रदाय का प्रचार कराया। उनकी इन अमूल्य सेवाओ का तत्कालीन-नाथ पंथियों, संतों तथा वैष्णव-भक्तों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इसी रामानन्दीय वैष्णव परंपरा में गोस्वामी तुलसीदास का आविर्भाव हुआ। गोस्वामीजी ने अपने राम को जिस रूप में अपनाया वह ऐश्वर्य-

प्रधान अथवा शुक्लजी के शब्दो मे 'शील-शक्ति-सौंदर्य' समन्वित है। उनके राम लोक-मर्यादा के रक्षक, लोक-विरोधी तत्वो के उन्मूलक और लोक-धर्म के संस्थापक है। राम के इस नवीन रूप की प्रतिष्ठा उनकी अपनी देन है और इस देन के कारण ही वह हमारे धार्मिक एवं सामाजिक नेता हैं।

राम-काव्य का विकास

इस प्रकार भारतीय साहित्य मे राम कथा की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। आधुनिक खोजो के आधार पर यह कहा जाता है कि बाल्मीकि रामायण के पश्चात् छठी शताब्दी ईसवी मे राम के ब्रह्म के अवतार के रूप मे प्रतिष्ठित होने पर राम-कथा के विकास का प्रारंभ हो चला था। भागवत पुराण, योगवासिष्ठ, आनंदरामायण, अद्भुत-रामायण, अध्यात्म-रामायण आदि धार्मिक ग्रन्थों मे उनकी शक्ति और ऐश्वर्य का जो वर्णन मिलता है उससे उक्त मत की भलीभांति पुष्टि हो जाती है। इसके अतिरिक्त राम के चरित्र और कथानक ने अनेक संस्कृत-काव्यो को भी प्रेरणा दी है। इनमे कालिदास-कृत 'रघुवश', प्रवरसेन-कृत 'रावण-वध', कुमारदास-कृत 'जानकी-हरण' और क्षेमेन्द्र-कृत 'रामायण-मजरी' प्रमुख है। राम-कथा के आधार पर संस्कृत में कई नाटक भी लिखे गए है जिनमे भवभूति-कृत 'उत्तर रामचरित', राजशेखर-कृत 'बाल रामायण', मुरारी-कृत 'अनर्घ्य राघव', जयदेव-कृत 'प्रसन्न राघव', हनुमान-कृत 'हनुमन्नाटक' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सस्कृत मे ही नहीं, भारत की अन्य भाषाओ मे भी 'तमिल रामायण', तेलगु मे 'द्विपाद रामायण', मलयालम मे 'इरामचरित', कन्नड़ मे 'तोरावे रामायण, बंगला में 'कृत्तिवासीय रामायण', उड़िया मे 'विचित्र रामायण', मराठी मे 'भावार्थ रामायण', गुजराती में 'राम विवाह', आसामी में 'राम विजय' आदि राम-कथा सम्बन्धी काव्य-ग्रथ मिलते हे जिनसे यह स्पष्ट होता है कि गोस्वामी तुलसीदास के आविर्भाव के पूर्व राम का लोक-पावन रूप सपूर्ण भारतीय साहित्य का विषय बन चुका था। हिन्दी मे भी गोस्वामीजी से पहले भूपति कवि 'रामचरित रामायण' (स० १३४२) की रचना कर चुके थे। तात्पर्य यह कि जिस समय गोस्वामीजी ने अपने 'रामचरित मानस' की रचना आरभ की उस समय उनके सामने विभिन्न

दृष्टिकोणों से लिखे गए अनेक प्रकार की राम-कथाएँ थी। इनमें से यदि सब नहीं, तो कुछ के अध्ययन से उन्हे अवश्य प्रेरणा मिली और फिर उन्होने उनमे प्राप्त राम-कथा के विभिन्न अंगो तथा रूपों को चुन-चुनकर अपने 'रामचरित मानस' मे सजाया और संवारा। अतः उन के 'रामचरित मानस' की विशेषता उसकी पूर्णता, प्रामाणिकता तथा सुन्दरता मे हैं जो किसी एक ग्रन्थ मे एक साथ देखने को नहीं मिलती।

तुलसीदास के दार्शनिक विचार

गोस्वामी तुलसीदास राम के अनन्य भक्त थे। भक्ति-भावना के विकास मे वह दार्शनिक वादो को बाधक समझते थे। **'जो परिहरे तीन भ्रम सो आपन पहिचानै।'**—कहकर उन्होने आत्मसाक्षात्कार मे जगत सबधी तीनो प्रश्नो : (१) जगत सत्य है, (२) जगत असत्य है तथा (३) जगत सत्य भी है और असत्य भी—को भ्रमात्मक ठहराया था। फिर भी उन्होने दार्शनिक विचारों की सर्वथा उपेक्षा नही की। वह ऐसा कर भी नहीं सकते थे। दाशरथि राम को जन-जीवन के बीच वह जिस रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे उसके लिए किसी-न-किसी दार्शनिक आधार की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त उनके युग मे ऐसे अनेक दार्शनिक वाद उठ खड़े हुए थे जिनके प्रभाव से बचना असम्भव था। उनके अनेक वादों मे शकराचार्य-द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद, यामुनाचार्य-द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य-द्वारा प्रपादित द्वैतवाद, निम्बाकाचार्य-द्वारा प्रतिपादित द्वैताद्वैतवाद और बल्लभाचार्य-द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैतवाद प्रमुख थे। गोस्वामीजी विशिष्टाद्वैतवाद मे दीक्षित थे, पर इसके साथ ही वह अद्वैतवाद से भी प्रभावित थे। यही कारण है कि किसी ने उन्हे विशिष्टाद्वैतवादी माना है तो किसी ने उन्हे अद्वैतवादी। वस्तुतः वह न केवल विशिष्टाद्वैतवादी हैं और न केवल अद्वैतवादी। उनकी विचार-पद्धति मे विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद, दोनो का सुन्दर समन्वय मिलता है। अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है। ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नही। वह अद्वितीय और निर्गुण है। उसमे न तो सजातीय भेद है—जैसे मनुष्य-मनुष्य का, न विजातीय भेद है—जैसे मनुष्य

और गौ का और न स्वगत-भेद है—जैसे हाथ, सिर और पैर का। जीव और ब्रह्म मे भी कोई भेद नही है। उनके बीच जो भेद दिखाई पड़ता है वह वास्तविक नही, अविद्या-कृत है। ईश्वर भी जीव की भाँति ब्रह्म का सगुण रूप है। ईश्वर के सम्बन्ध में जो माया है वही जीव के सम्बन्ध में अविधा है। व्यवहार मे जगत सत्य है, पर परमार्थ मे असत्य। परमार्थ मे केवल ब्रह्म ही सत्य है। इसके विरुद्ध विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत की अद्वैतता को विशिष्टतायुक्त मानते हैं। इस वाद के अनुयायियो का कहना है कि चित् अर्थात् जीव और अचित् अर्थात् जड़-जगत दोनो विशेषण-रूप से ब्रह्म के साथ लगे हुए हैं तथा चित्, अचित् और ईश्वर तीनो की अन्विति हरि में होती है। जीव ईश्वर का अंश है। ईश्वर प्रकारी है और जीव तथा प्रकृति उसके प्रकार—जैसे जल के प्रकार हैं: कुहरा, भाप तथा बर्फ। इस प्रकार अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद में पर्याप्त अन्तर है।

गोस्वामीजी ने अपनी रचनाओं मे मुख्यतः विशिष्टाद्वैतवाद का ही समर्थन किया है। उनका यह कहना :—

'ईश्वर-अंश जीव अविनासी। चेतन, अमल, सहज सुखरासी ॥
सो माया-बस भयउ गुसाईं। बँधेउ कीर मर्कट की नाईं ॥
जड चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा, छूटत कठिनई ॥'

विशिष्टाद्वैतवाद के ही अधिक निकट हैं। इस कथन की पहली अर्द्धाली पर विशिष्टाद्वैतवाद का और दूसरी अर्द्धाली पर अद्वैतवाद का प्रभाव है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि जीव ईश्वर का अश है। ईश्वर का अश होने के कारण वह अविनाशी, चेतन, अमल और सहज सुखरासी भी है, परन्तु माया के प्रभाव से वह अपने वास्तविक रूप को भूला हुआ है। यद्यपि यह प्रभाव मिथ्या है तथापि इससे जीव का छुटकारा आसानी से नहीं होता। इससे उसका छुटकारा तभी होता है जब हरि की उस पर कृपा-दृष्टि होती है। हरि-मायापति हैं। वह जब जीव पर कृपा करते हैं तब माया को अपने भीतर समेट लेते हैं। इस प्रकार गोस्वामीजी ईश्वर और जीव मे भेद स्थापित कर भक्ति-भावना की आवश्यकता सिद्ध

कर देते है। उनके लिए भक्ति साध्य है, साधन नही। वह भक्ति से आगे नहीं बढ़ते :—

'असि विचार हरि भगत सयाने ।
मुक्ति निरादर, भगति लुभाने ॥'

यही शकराचार्य के अद्वैतवाद से उनका बिलगाव स्पष्ट हो जाता है। शंकराचार्य ने भक्त को साधन माना है, साध्य नहीं। इसके अतिरिक्त उनका व्यवहार और परमार्थ सम्बन्धी भेद भी गोस्वामीजी को स्वीकार नहीं है। उनके राम निर्गुण-सगुण सब कुछ है। वह 'चन्द्र' हैं तो जीव उनका 'चकोर'। 'चन्द्र' और 'चकोर' के बीच जो भेद और प्रेम-भाव है उसी को आधार मानकर गोस्वामीजी ने अपनी भक्ति-भावना का प्रसार किया है। उनके दार्शनिक विचार संक्षेप मे इस प्रकार हैं :—

(१) **निर्गुण-सगुण सम्बन्धी विचार**—गोस्वामीजी ने ईश्वर और ब्रह्म मे अन्तर नहीं किया है। उन्होने ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, अजन्मा, निर्विकार, सर्वान्तर्यामी, अनादि, सत्, चित् और आनन्दमय माना है, पर इसके साथ ही उन्होने उसे सगुण रूप मे भी प्रतिष्ठापित किया है। उनके मत से जो सर्व-शक्तिमान निर्गुण ब्रह्म है वह भक्तो के प्रेमवश सगुण रूप धारण करता है :—

'अनगुहिं-सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं बुध, पुराण, मुनि, वेदा ॥
अगुन, अरूप, अलख, अज जोई। भगत प्रेमवस सगुन सो होई ॥'

इस सम्बन्ध मे उठनेवाली शका का निवारण करते हुए वह आगे कहते हैं :—

'जो गुनरहित सगुन सोइ कैसे। जल, हिम, उपल बिलग नहिं जैसे ॥'

उनके कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वायु के भीतर अदृश्य वाष्य बादलों का, फिर जल का और फिर ठोस उपल का रूप धारण करती है उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म भी सगुण रूप ग्रहण करता है। अतः ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी। राम के रूप मे ब्रह्म के सगुण रूप धारण करने का यही रहस्य है।

(२) **ज्ञान और भक्ति सम्बन्धी विचार**—उपासना के क्षेत्र में ज्ञान-

भक्ति की ओर भक्ति ज्ञान की अपेक्षा रखता है। इसलिए गोस्वामीजी ने ज्ञान और भक्ति दोनो का महत्त्व स्वीकार किया है :—

'ज्ञानहिं भक्तिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥'

पर इसके साथ ही उन्होने यह भी कहा है :—

'राम भगति चिन्तामणि सुन्दर। बसइ गरुण जाके उर अन्तर ॥
परम प्रकाश रूप दिन-राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती ॥'

स्पष्ट है कि गोस्वामीजी ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को विशेष महत्त्व देते हैं। उनके मत से यदि ज्ञान दीपक है तो भक्ति चिन्तामणि। दीपक का प्रकाश वाह्य साधनों पर आधारित रहता है, पर चिन्तामणि स्वतः प्रकाशित है। दीपक का प्रकाश विघ्न-वाधा-समान्वित है, पर चिन्तामणि विघ्न-बाधाओ से मुक्त। तात्पर्य यह कि ज्ञान की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है। निर्गुण ब्रह्म का न तो कोई नाम ही हो सकता है और न उसका कोई रूप ही। इस प्रकार जब वह नाम और रूप से परे है तब वह किस प्रकार समझ मे आ सकता है। अपने इस तर्क के आधार पर गोस्वामीजी कहते हैं कि जो मनुष्य सगुण का सहारा लिए बिना निर्गुण की चर्चा करता है हम उसके दास बनने के लिए तैयार हैं। वास्तव में ऐसी चर्चा संभव ही नहीं है। इसलिए 'अलख के लखनेवालो को उन्होने करारी फटकार बताई है।

(३) माया-सम्बन्धी विचार—गोस्वामीजी ने जीव को ब्रह्म का अंश स्वीकार करते हुए भी उसे माया के वश मे माना है। तात्पर्य यह कि जीव तो माया-ग्रस्त है, पर ईश्वर मायापति है। मायापति होने से ईश्वर नाम-रूपात्मक जगत की सृष्टि करता है और जीव को उसकी ओर प्रेरित करता है। वह अपनी जिस माया-द्वारा नाम-रूपात्मक जगत की सृष्टि करता है उसे **विद्या माया** और जिस माया-द्वारा जीव को जगत की ओर प्रेरित करता है उसे **अविधा माया** कहते हैं। विद्या माया के कारण जीव का शरीरी होना अनिवार्य है। शरीरी होने पर जब जीव अपने को ब्रह्म से पृथक समझने लगता है तब अविद्या माया का आविर्भाव होता है। यही अविद्या माया **'सकल व्याधिन कर मूला'** है। इससे बचने के तीन उपाय है : (१) ज्ञान, (२) वैराग्य और (३) भक्ति। योग से ज्ञान की, धर्म से वैराग्य की

और सत्संग से भक्ति की उत्पत्ति होती है। ज्ञान का फल है मुक्ति, वैराग्य का फल है भगवान के चरणो में अनुराग और भक्ति का फल है भगवत् प्राप्ति। भक्ति, ज्ञान अथवा वैराग्य की अपेक्षा अधिक फलदायक है अतः माया का बन्धन तोड़ने के लिए यही श्रेष्ठतम है। गोस्वामीजी ने मोह दूर करने के लिए 'वैराग्य', भ्रम दूर करने के लिए 'ज्ञान' और भव-सागर पार करने के लिए 'भक्ति' की आवश्यकता पर बल दिया है। भक्ति पर अविद्या-माया अपना प्रभाव नही डालती। भक्ति एक प्रकार की ऐसी भावात्मिका वृत्ति है जो अन्य भावात्मिका वृत्तियो का नियत्रण एव परिशोधन करती रहती है। शवरी, गीध, अजामिल, निषाद-राज गुह, हनुमान—सभी भक्त हैं और सब अविद्या-माया से मुक्त है। उन पर विद्या माया का प्रभाव अवश्य है। इस प्रभाव के कारण उनके अहभाव का नाश हो गया है। उनकी तुलना मे रावण आदि अविद्या-माया से प्रभावित हैं। सती, भुसुण्डि आदि पर विद्या-माया का प्रभाव है। इससे उनका अहभाव तो नष्ट हो गया है, पर उनमे भ्रम बना हुआ है। उनका भ्रम दूर करने के लिए गोस्वामीजी ने सत्संग की व्यवस्था की है। विद्या-माया से प्रभावित ज्ञानी, भक्त की कोटि मे तबतक नही आता जबतक उसे सत्संग प्राप्त नहीं होता। सत्सग से ईश्वर की कृपा प्राप्त होती है और ईश्वर की कृपा प्राप्त होने पर जीव माया से छुटकारा पा जाता है। संक्षेप मे यही गोस्वामीजी के दार्शनिक विचारो का सार है।

तुलसीदास के सामाजिक विचार

गोस्वामीजी ने अपने सामाजिक विचारों का चित्रण मुख्यतः दो प्रसंगो मे किया है : (१) कलियुग-वर्णन के प्रसग मे और (२) राम-राज्य-वर्णन के प्रसग में। कलियुग-वर्णन के प्रसग मे गोस्वामीजी ने भारतीय संस्कृति के पतन का चित्र उतारा है और राम-राज्य-वर्णन के प्रसंग मे उसके आदर्श का। उनका विश्वास है कि भारतीय समाज, विशेषतः हिन्दू-समाज के पतन का मूल कारण है वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्था का लोप। कलि युग मे वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्था के प्रति लोगो की आस्था देखकर उन्होंने कहा है :—

'बरन-धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति-विरोध-रत सब नर-नारी ॥
द्विज श्रुति वंचक, भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम-अनुसासन॥'

× × ×

'असुभ वेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी, तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलिजुग माहिं॥'

× × ×

'मारग सोइ जा कहँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा ॥
मिथ्यारंभ दंभ-रत जोई। ताकहुँ संत कहँइ सब कोई ॥
सोइ सयान जो पर-धन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी ॥
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुनवंत बखाना ॥'

× × ×

'बादहिं शूद्र द्विजन सन, हम तुम तें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो बिप्रवर, आँखि देखावहिं डाँटि॥'

हिन्दू-समाज मे गोस्वामीजी उक्त प्रकार की स्वेच्छा-चारिता के विरोधी और निगमागम की पद्धति के समर्थक थे। वह चाहते थे :—

'सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥
नहिं दरिद्र कोउ,दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध, न लच्छन-हीना ॥
सब निर्दंभ, धरम-रत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥
सब गुनग्य पंडित सब ज्ञानी। सब कृतग्य, नहिं कपट सयानी ॥
सब उदार, सब पर-उपकारी। विप्र-चरन सेवक नर-नारी ॥'

यह है गोस्वामीजी का सामाजिक आदर्श जिसके अन्तर्गत सब समान हैं, सब एक-दूसरे से प्रेम करते है, सब अपने-अपने वर्ण के अनुसार अपने-अपने कर्त्तव्यो का पालन करते हैं, सब परोपकारी एवं उदार हैं, सब ज्ञानी हैं, सब दम्भ-रहित हैं, सब कर्मण्य है, सब धर्म-रत है और सब ब्राह्मणो की सेवा करते है। गोस्वामीजी ने अपने सामाजिक आदर्श के सस्थापन मे वर्ण-व्यवस्था का जन्म और कर्म, दोनो दृष्टियो से समर्थन किया है। वर्ण-व्यवस्था मे कर्म को महत्त्व देकर जन्म का तिरस्कार करना उन्हे अभीष्ट नहीं था। सामाजिक संगठन मे वह किसी भी प्रकार की मर्यादा

का उल्लघन अहितकर समझते थे। उनकी दृष्टि मे कर्त्तव्य का महत्त्व था, अधिकार का नही। ज्ञान और भक्ति का अधिकारी वह सब को समझते थे, पर इस कारण किसी शूद्र की ब्राह्मण बनने की स्पर्द्धा को वह अनुचित और असगत ठहराते थे। उनका मत था कि जो जिस वर्ण मे है उसे उसी वर्ण मे रहकर सपूर्ण हिन्दू-समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यो का पालन करना चाहिए। ब्राह्मणो के प्रति बार-बार श्रद्धा का भाव उन्होने ने इस लिए प्रकट नहीं किया कि वह स्वयं ब्राह्मण थे, बल्कि इसलिए कि संतों, योगियो और नाथपथियों की शिक्षा के प्रभाव से ब्राह्मणेतर वर्णों में ब्राह्मणो के प्रति अश्रद्धा की भावना जाग उठी थी और वे उनका खुल्लम खुल्ला विरोध कर रहे थे। गोस्वामीजी जिस आदर्श की हिन्दू-समाज में स्थापना करना चाहते थे उसमे इस प्रकार की स्वेच्छाचारिता के लिए स्थान नही था। इसलिए उन्होने स्वय तो कहा ही, राम के मुख से भी कहलाया :—

'पुण्य एक जग में नहिं दूजा। मन, क्रम, वचन विप्र-पद पूजा॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपट करइ द्विज-सेवा॥'

और शूद्रो को यह कहकर उठाया :—

'स्वपच सबर, खस, जगन, जड, पाँवर, कोल, किरात।
राम कहत पावन परम, होत भवन विख्यात॥'

गोस्वामीजी ने प्रत्येक वर्ण के दोषो का चित्रण किया और उन दोषो के निवारण का मार्ग भी बताया। इतना ही नहीं, वर्ण-व्यवस्था के अनुसार कर्त्तव्य-पालन करने से समाज का जो रूप होगा उसे भी उन्होने राम-राज्य के अन्तर्गत झलका दिया। इस प्रकार उन्होने अपने सामाजिक आदर्श के सस्थापन मे त्याग, कर्त्तव्य, श्रम, प्रेम और सेवा-द्वारा आंतरिक साम्य की व्यवस्था करने के साथ-साथ राजनीति, समाज-नीति, धर्म-नीति, सपत्ति-वैभव सब को महत्त्व दिया और इन सबकी ओर हिन्दू-जनता का ध्यान आकृष्ट किया। उनके इस सामाजिक आदर्श मे अधिकार-लिप्सा की भावना नहीं, अपितु कर्त्तव्य की कठोरता है और यह उनके युग तक ही सीमित न रहकर आज भी हमारे लिए उपयुक्त और अनुकरणीय है।

गोस्वामीजी का लोक-धर्म

गोस्वामी तुलसीदास अपने इष्टदेव 'राम' के लोक-संग्रही रूप के उपासक थे। राम के लोक-संग्रही रूप की तीन विशेषताएँ थीं : (१) राम की अद्भुत शक्ति, (२) राम का अनिर्वचनीय शील और (३) राम का अलौकिक सौंदर्य। अपनी अद्भुत शक्ति से राम ने आततताइयो का संहार किया, अपने अनिर्वचनीय शील से राम ने पतितो को गले लगाया और अपने अलौकिक सौंदर्य से राम ने सब का मन मोह लिया। बाल-वृद्ध, श्वपच-ब्राह्मण, छोटे-बड़े, भोगी-योगी, भिक्षुक-दानी सब एक साथ राम के व्यक्तित्व से प्रभावित हो उठे। जिसकी जैसी भावना थी तुलसी के राम ने उसको उसी भावना के अनुसार दर्शन दिया। लोक-धर्म की स्थापना मे तुलसी को अपने इस आदर्श-द्वारा जो सफलता मिली वह कबीर, नानक, दादू आदि पहुँचे हुए संतो को नसीब न हो सकी। कबीर, नानक, दादू आदि की साधना व्यक्तिगत साधना थी। इस प्रकार की साधना से केवल वैयक्तिक जीवन ही ऊँचा उठ सकता था। तत्कालीन पतनोन्मुखी समाज को उठाने के लिए जिस प्रकार के आदर्श की आवश्यकता थी और उस आदर्श के अनुकूल जिस प्रकार के लोक-धर्म की व्यवस्था करना अपेक्षित था उसका अनुभव सबसे पहले यदि किसी संत, भक्त, कवि अथवा नेता ने किया तो वह गोस्वामी तुलसीदास थे।

गोस्वामी तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे। स्मार्त वैष्णव होने के नाते वेद-स्मृति विहित लोक-रीतियो, संस्कारों और आचार-विचारों से उनका विरोध नहीं था। देवी-देवताओ के प्रति भी उनकी दृष्टि अत्यन्त उदार थी। उनके उपास्य थे 'राम' जिन्हें लोक-मर्यादा का उल्लंघन किसी दशा में स्वीकार नहीं था। ऐसे आदर्श को अपनाकर गोस्वामीजी उसके विरुद्ध नहीं जा सकते थे। इसलिए उन्होंने सबसे पहले गणेश की वन्दना की और अवसर मिलने पर 'राम' के मुख से यह कहलाया :—

'शिव-द्रोही मम दास कहावै। सो नर मोहिं सपनेहुँ नहिं भावै।।'

लोक-धर्म की स्थापना में गोस्वामीजी ने अपनी इस सर्वप्रथम योजना-द्वारा उन समस्त भेद-भावों को ही नहीं मिटा दिया जिनके कारण

शैव, वैष्णव, शाक्त तथा इसी प्रकार के अन्य मतावलंबी आपस मे लड़-झगड़ रहे थे, अपितु उन सबका अपने राम के प्रति आकर्षण भी प्राप्त कर लिया।

लोक-रीति के अनुसार गोस्वामीजी ने अपने लोक-धर्म मे गार्हस्थ्य-धर्म की भी प्रतिष्ठा की। गार्हस्थ्य-धर्म सामाजिक जीवन की एक इकाई है। इस इकाई को सबल और पुष्ट किए बिना सामाजिक जीवन का भव्य प्रसाद नही खड़ा किया जा सकता। गोस्वामीजी इस बात को अच्छी तरह समझते थे। इसलिए उन्होने अपनी राम-कथा मे पारिवारिक जीवन की ही जटिल और गभीर परिस्थितियो को विशेष रूप से स्थान दिया। उन्होंने हमे बताया कि जबतक परिवार मे बड़ो का छोटो के प्रति स्नेह और छोटो का बड़ो के प्रति आदर-भाव बना रहेगा, जबतक परिवार मे पितृ-भक्ति, भ्रातृभाव, गुरुभक्ति, मित्रो के प्रति सहानुभूति, दास-दासियो के प्रति स्नेह तथा शासक के प्रति सम्मान का भाव जागरूक रहेगा, जबतक पत्नी यह जानती रहेगी कि :—

'बृद्ध, रोगबस, जड, धन-हीना। अंध, बधिर, क्रोधी, अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥'

और जबतक परिवार का प्रत्येक सदस्य श्रम तथा सेवा के महत्व को स्वीकार करता रहेगा तबतक उसका पतन नहीं होगा। परिवार का पतन ही वास्तव मे समाज का पतन है। पतित परिवार से समन्वित समाज कभी उठ नही सकता। इसलिए गोस्वामीजी ने माता के रूप मे कौशल्या, पिता के रूप मे दशरथ, सपत्नी के रूप मे कैकेयी, पुत्र के रूप मे राम, भाई के रूप में लक्ष्मण तथा भरत, गुरु के रूप में वशिष्ट, सबको परिवार मे स्थान दिया और उन सब के द्वारा अनेक प्रकार की समस्याएँ उठाकर उन समस्याओ का लोक-मर्यादा के अनुकूल समाधान किया। ऐसा करने में उन्होने किसी एकांगी आदर्श से काम नहीं लिया। उन्होंने अपने परिवार के सदस्यो को सत्-असत् के बीच रखकर उनका चित्रण किया और उस चित्रण-द्वारा अपने लोक-धर्म की स्थापना की।

गोस्वामीजी ने अपने लोक-धर्म में जिस पारिवारिक आदर्श की

प्रतिष्ठा की, उससे ही वह संतुष्ट नहीं हो गए। वह परिवार-सुधारक ही नहीं, समाज-सुधारक भी थे। समाज के उन्नयन एवं विकास में लोक-मर्यादा का उल्लंघन, वर्णाश्रम-धर्म का तिरस्कार, विद्वानो का अनादर, वेद-शास्त्रो की निन्दा, अत्याचार का दमन करनेवाले शूरवीरों के प्रति अश्रद्धा का भाव, कलाकार की उपेक्षा, वेद-विहित कर्म का उपहास आदि को वह बाधक और अकल्याणकर समझते थे। इसलिए उन्होने इन सभी लोक-विरोधी भावनाओ के विरुद्ध अपना स्वर ऊँचा किया, स्वर ही ऊँचा नहीं किया अपितु अपने इष्टदेव राम-द्वारा इनके उन्मूलन की भी व्यवस्था की। उनकी इस प्रकार की व्यवस्था से हिन्दू-समाज एक बार फिर जाग उठा, उसमें नई शक्ति का संचार हुआ और उसने शताब्दियों के पश्चात् अपने गौरवपूर्ण इतिहास का स्मरण किया।

गोस्वामीजी ने अपने लोक-धर्म में परिवार और समाज के साथ-साथ राष्ट्र को भी स्थान दिया। भारत के वह पहले सुधारक थे जिन्होने राष्ट्र-धर्म को पहचाना और उसे राम-राज्य के रूप मे प्रतिष्ठापित किया। राम-राज्य के अन्तर्गत उन्होंने राजतंत्र, जनतंत्र, समाजवाद आदि राज-नीतिक वादो के साथ-साथ शासको, कुलीनो, विद्वानों, शूरवीरो, और आचार्यो के कर्तव्यों की समीक्षा की और श्रमिकों, व्यापारियो, पूँजीपतियो, सत्ताधारियो आदि को श्रम और सेवा का महत्त्व समझाया। साथ ही उन्होने अत्याचारियो, अधिकार-लोलुपों, पाखण्डियों, व्यभिचारियो, अकर्मण्यों तथा इसी प्रकार के अन्य लोक-विरोधी व्यक्तियो के सहार एवं दमन की भी व्यवस्था की। इससे समाज मे राज-भक्ति और देश-भक्ति की भावना की प्रतिष्ठा हुई और लोक-धर्म का रूप निखर आया।

गोस्वामीजी का लोक-धर्म जीवन के सभी अंगों को स्पर्श करने वाला लोक-धर्म था। उन्होंने 'जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालकर अपने लोक-धर्म की व्यवस्था की थी, उसमे यदि एक ओर कर्म-ज्ञान और उपासना का समन्वय हुआ था तो दूसरी ओर सत्-असत्, राग-द्वेष, सुख-दुःख, प्रवृत्ति-निवृत्ति, आशा-निराशा, विद्या-अविद्या, रामत्व-रावणत्त्व का अद्भुत सामंजस्य! 'संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से, एक-एक

कोने को स्पर्श करता हुआ जो धर्म निकलेगा' वही उनका लोक-धर्म था उनके लोक-धर्म के आदर्श थे राम जो व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र—सब को एक साथ एक सूत्र में पिरोकर व्यवहार से परमार्थ की ओर उन्मुख करने में समर्थ थे।

गोस्वामीजी की भक्ति का स्वरूप

गोस्वामी तुलसीदास ने जिस आदर्श के आधार पर अपने लोक धर्म की व्यवस्था की वह सौंदर्य, शक्ति और शील समन्वित आदर्श था यही तीनो उनकी सगुणोपासना के तीन सोपान थे जिनकी प्रतिष्ठा उन्होंने अपने आलबन राम के व्यक्तित्व मे की थी। उनके राम अनन्त सौंदर्य, अनन्त शक्ति और अनत शील के भाण्डार होने से ब्रह्म के पूर्ण अवतार थे। इसलिए उन्होने सब को राम के अलौकिक सौंदर्य का दर्शन कराया ग्रामीण, नागरिक, कोल-किरात, पशु-पक्षी, सब राम को देखकर पाप-मुक्त हो गए, सब की इन्द्रियाँ वासना-रहित हो गईं। जिसने एक बार उन्हें देखा, वह आजीवन उन्हे नहीं भूला, उसका ध्यान उन्हीं पर टिक गया। इस प्रकार हृदय मे भक्ति-भावना को जन्म देकर गोस्वामीजी ने राम की अलौकिक शक्ति का भी परिचय दिया। इससे भक्ति-भावना पुष्ट हो गई। परन्तु गोस्वामीजी को इतने से ही सन्तोष नही हुआ। भक्ति-भावना के विकास के लिए उन्होने राम मे 'शील' की प्रतिष्ठा की। आचार्य शुक्लजी के शब्दो मे 'शील' हृदय की वह स्थायी स्थिति हैं जो सदाचार की प्रेरणा आप-से-आप करती है। इस परिभाषा के अनुसार 'शील' और 'भक्ति' का नित्य-सबंध है। बिना 'शील' के 'भक्ति' का कोई महत्त्व नही और बिना भक्ति के शील-साधना असभव है। शील-साधना में ही भक्ति का चरम विकास है। कहने का तात्पर्य यह कि गोस्वामीजी ने भक्ति का जो आदर्श हमारे सामने रखा है वह शील-साधना-समन्वित है। गोस्वामीजी कहते हैं :—

> **'कै तोहिं लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभु-प्रिय होहि।**
> **दुई मँह रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहि॥'**

आप को राम प्रिय लगें, इसके लिए सुगम उपाय यह है कि आप

राम के सौदर्य, शक्ति और शील का निरन्तर ध्यान करें। इसमें शील-साधना के प्रति आप मे स्वाभाविक रुचि उत्पन्न होगी। और यदि आप यह चाहते हों कि आप राम के प्रिय बनें अर्थात् राम स्वयं आपसे प्रेम करने लगें तो आप शील-साधना मे जुट जायें। गोस्वामीजी की इस शील-साधना-समन्वित-भक्ति में निवृत्त मार्ग अथवा वैराग्य का आप-से-आप मेल हो जाता हैं, पर यह वैराग्य वह वैराग्य नहीं है जो कबीर, नानक, दादू, अथवा नाथ-पंथियो का वैराग्य है। गोस्वामीजी अपनी भक्ति-भावना में जिस वैराग्य की प्रतिष्ठा करते है वह लोक-कर्तव्यो एवं परहित-चिन्तन से समन्वित वैराग्य है। कबीर का वैराग्य सबके बस की बात नही है, पर भक्ति परक वैराग्य सब के लिए सुगम और सुलभ है। शुक्लजी के शब्दों मे 'ससार मे रहकर इन्द्रियो का निषेध असभव है, अतः मनुष्य को वह मार्ग ढूँढ़ना चाहिए जिसमे इन्द्रियाथ अनर्थकारी नही। यह भक्ति मार्ग है, जिसमे इन्द्रियार्थ भी मगलप्रद हो जाते हैं।'

गोस्वामीजी की भक्ति-भावना का आधार और उसके लक्ष्य का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् विचारणीय यह है कि राम की भक्ति हो कैसे? इसके लिए दो उपायों का विधान है: (१) वैधी भक्ति और (२) रागात्मक भक्ति। कर्तव्य-बुद्धि से जो नियम स्थिर किए जाते हैं और उन नियमो के अनुसार जो उपासना की जाती है उसे वैधी भक्ति कहते हैं। इसके पॉच अंग हैं: (१) उपासक, (२) उपास्य, (३) पूजा द्रव्य, (४) पूजा-विधि और (५) मंत्र-जप। मंद श्रद्धावालो के लिए इस प्रकार की भक्ति उपयुक्त होती है। स्वाभाविक रूप से जब भगवान के प्रति भक्ति का उद्रेक होता है तब उसे रागात्मक भक्ति कहते हैं। यही भक्ति वैधी भक्ति का चरम लक्ष्य है। इसका उदय क्रमानुसार (१) श्रद्धा, (२) सत्सग, (३) भजन, (४) अनर्थ-निवृत्ति, (५) निष्ठा, (६) रुचि, (७) आसक्ति, (८) भाव और (९) प्रेम-द्वारा होता है। प्रेमोदय होने पर भक्तो मे पाँच प्रकार के स्वभाव हो जाते है: (१) वात्सल्य, (२) सख्य, (३) मधुर, (४) दास्य, और (५) शान्त। भक्ति की इस व्याख्या के अनुसार गोस्वामीजी की भक्ति रागात्मक है और उन्होंने सेवक-सेव्य भाव से अपने इष्ट देव 'राम' की भक्ति

की है। 'उत्तर काण्ड' में भगवान 'राम' स्वयं कहते हैं :—

'पुनि-पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहिं सेवक-सम कोउ प्रिय नाहीं॥'

दास्यभाव की भक्ति की एक विशेषता है और वह यह कि उसमें उपास्य के प्रति ऐश्वर्य-बोध बराबर बना रहता है। इस दृष्टि से उपासक को अपने उपास्य के तीन रूपों का ध्यान करना पड़ता है : (१) उपास्य का क्षमावान् रूप, (२) उपास्य का शरणागत-वत्सल्य रूप और (३) उपास्य का करुणायतन रूप। इन तीनो रूपों का समन्वय उपास्य के 'शील' मे होता है। गोस्वामीजी ने अपनी दास्य-भाव की भक्ति के अन्तर्गत भगवान राम के उक्त तीनो रूपो का बार-बार उल्लेख किया है। उन्होने अपने उपास्य के 'अनन्त' शील को उनके अनन्त सौदर्य और उनकी अनन्त शक्ति के योग मे बार-बार देखा है और बार-बार उसकी सराहना कर यह कामना की है :—

'कब हुँक हौ यह रहनि रहौंगो।
श्री राघुनाथ कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो॥'

गोस्वामीजी की इस कामना में उनकी भक्ति का स्वरूप निखरा है और उन्होने इस प्रकार की भक्ति को प्रचार करने के लिए अपने उपास्य मे अनन्त सौदर्य, अनन्त शक्ति और अनन्त शील की प्रतिष्ठा की है। भक्ति का अधिकारी होने के लिए इन तीनों सोपानों से किसी एक की भी उपेक्षा नही की जा सकती।

गोस्वामीजी की काव्य-साधना

गोस्वामी तुलसीदास उच्च कोटि के दार्शनिक, समाज-सुधारक और भक्त थे। उनके इन तीनो रूपों का समन्वय उनके कवि-रूप मे हुआ था। वह कवि ही नहीं, महाकवि थे और जीवन के महाकवि थे। जीवन के मार्मिक स्थलो को पहचानने की जैसी क्षमता उनमें थी वैसी न तो उनके पूर्ववर्ती कवियों मे थी और न उनके परवर्ती कवियों में ही पाई जाती है। इसलिए उनके संबंध में यह कहा जाता है कि उन्होने कविता कर अपना ही गौरव नहीं बढ़ाया, अपितु विश्व-काव्य को गौरवान्वित किया है।

जिस कवि की ऐसी महिमा हैं उसकी कवित्व-शक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जाय थोड़ा है।

(१) काव्य-विषय और उद्देश्य—गोस्वामीजी की कविता आदि से अन्त तक भक्तिपरक है और उसका विषय है दाशरथि राम का जीवन। उनके जिन काव्य-ग्रन्थो की चर्चा अन्यत्र की गई है उनमें से 'पार्वती-मंगल' और 'कृष्ण-गीतावली' को छोड़कर प्रायः सबमे राम के जीवन की ही झाँकियाँ उतारी गई हैं। राम का सपूर्ण जीवन केवल 'रामचरित मानस' में झलकाया गया है। यह हिन्दी का सर्व श्रेष्ठ चरित्र प्रधान महा-काव्य हैं। 'पार्वती-मगल' का विषय शिव-पार्वती-पाणिय की कथा है। यह 'मानस' मे वर्णित शिव-कथा से भिन्न है। 'मानस' की शिव-कथा का आधार 'शिव-पुराण' है और 'पार्वती-मगल' की कथा का आधार 'कुमार सभव' है। 'कृष्ण-गीतावली' में कृष्ण की बाल्य-कालीन और यौवन कालीन लीलाओ के मर्यादित चित्र उतारे गए हैं। इस प्रकार गोस्वामीजी ने मुख्यतः राम और गौणतः कृष्ण तथा शिव के जीवन को ही अपना काव्य-विषय बनाया है। कविता के उद्देश्य के सबंध में उन्होने कहा है :—

'कीरति भनित भूति भल सोई। सुरसरि-सम सब कहँ हित होई॥'

गोस्वामीजी की दृष्टि से कविता वही है जो गंगा के समान सब का, समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति का, कल्याण करनेवाली हो। कविता का यह उद्देश्य मान लेने पर उसके विषय की उपयुक्तता स्वयं सिद्ध है।

(२) प्रबंध-पटुता—'रामचरित मानस' गोस्वामीजी का महाकाव्य है। प्रबन्ध-सौष्ठव की दृष्टि से गोस्वामीजी की रचनाओं में 'रामचरित मानस' का स्थान सर्वोच्च है। इसमें दो प्रकार की कथाओ का सन्निवेश हुआ है : (१) आधिकारिक और (२) प्रासगिक। आधिकारिक कथा के अन्तर्गत राम के संपूर्ण जीवन की घटनाओ का चित्रण किया गया है और उनकी उत्कर्षता के लिए विविध पुराणो से प्रासंगिक कथाएँ लेकर उनका मेल आधिकारिक कथा के साथ इस ढंग से किया गया है कि आदि से अन्त तक राम-कथा का ही उत्कर्ष दीख पड़ता है। किस प्रसंग

को कब और कहॉ लाना चाहिए, कथा में कहाँ और किस प्रकार का विस्तार करना चाहिए, कहॉ वर्णनात्मक क्रम रखना चाहिए और कहाँ नई घटनाओ की योजना करनी चाहिए—इन सब बातों पर गोस्वामीजी ने विशेष रूप से ध्यान दिया है। उत्तरगामी प्रसंगो की पूर्ववर्ती प्रसंगो से स्वाभाविक निःसृति उनके कथा-वर्णन की विशेषता है। इस विशेषता के कारण उनके 'मानस' के कथा-प्रवाह मे कही भी शिथिलता नहीं आने पाई है। अद्‌भुत तत्त्व के सन्निवेश-द्वारा उन्होने अपनी कथा मे चमत्कार उत्पन्न कर उसे और भी अधिक रोचक एवं आकर्षक बना दिया है। इतना ही नही; अपनी राम-कथा के भीतर जिस ढंग से उन्होने जीवन के मार्मिक स्थानों का सन्निवेश किया है वह अभूतपूर्व है। 'मानस' के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाओ मे राम-कथा के स्फुट प्रसग हैं, पर उनके आयोजन मे भी जीवन के मार्मिक स्थानो पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। इसके साथ ही मार्मिक स्थानो के अनुकूल ही भावो का समावेश हुआ है। जीवन के विभिन्न संबन्धों तथा उनकी पृथक्-पृथक् मर्यादाओं का पूरा-पूरा निर्वाह हुआ है। पारिवारिक जीवन से सम्बंधित जितनी भाव-संपत्ति हमें गोस्वामीजी की रचनाओ मे मिलती है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी समस्त रचनाएँ यथार्थ और आदर्श के संघर्ष से ओत-प्रोत हैं। इस प्रकार के संघर्ष मे ही राम-कथा का विकास हुआ है और अन्त में आदर्श की विजय घोषित की गई है।

(३) सवाद-सौष्ठव—गोस्वामीजी की प्रबन्ध-पटुता की अन्य विशेषताएँ उनकी सवाद-योजना मे मिलती हैं। संवाद-योजना भी कथा-वस्तु का एक विशिष्ट अग है। इसका उद्देश्य कथा मे प्रवाह, गति, सजीवता कुतूहल एवं औत्सुक्य उत्पन्न करना है। इसके लिए सवादो मे चुस्ती, विदग्धता, स्पष्टता, स्वाभाविकता, शिष्टता, नाटकीय छटा आदि गुण अपेक्षित है। गोस्वामीजी ने अपने संवादों मे इन समस्त गुणो का विधान बड़े कौशल से किया है। देश, काल और पात्र के अनुसार वह वार्तालाप कराने में दक्ष हैं। परशुराम-लक्ष्मण-संवाद, मन्थरा-कैकेई-सवाद, कैकेई-दशरथ-संवाद, रावण-अंगद-संवाद आदि उनके आदर्श सवाद हैं जिनमे

मानव-प्रवृत्तियो के चित्रण के साथ-साथ नाटकीय छटा का भी समावेश किया गया है।

(४) **चरित्र-चित्रण**—गोस्वामीजी की पात्र-योजना अत्यन्त विषद है। उसमे सात्विक, राजस और तामस—इन तीन प्रकृतियों के अनुसार चरित्र-विभाग करने से हमे दो प्रकार के पात्र मिलते हैं: (१) आदर्श और (२) सामान्य। आदर्श पात्रो मे सात्विक एव तामस को स्थान दिया गया है और सामान्य पात्रों मे राजस को। इस दृष्टि से सीता, राम, भरत, हनुमान, कौशल्या, शबरी, मन्थरा, रावण आदि आदर्श पात्र हैं और दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, कैकेयी, सुग्रीव आदि सामान्य पात्र हैं। इनके अतिरिक्त वशिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज, अगस्त्य आदि ऋषि-मुनि; शिव, इन्द्र, सती, कामदेव, रति, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवता और जटायु, बानर, गरुड़, भुसुण्ड आदि पशु-पक्षी भी उनकी पात्र-योजना मे सम्मिलित हैं। इन सभी प्रकार के पात्रों के चरित्र-चित्रण मे गोस्वामीजी ने अपनी मनोवैज्ञानिक पहुँच का परिचय दिया है। पात्रो की मनःस्थिति के सम्यक एवं यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करने मे वह अत्यन्त कुशल हैं। साधु-असाधु, सज्जन-दुर्जन, देव-दानव के अन्तःकरण में प्रवेश कर उन्होने जो मानस-चित्र उतारे हैं उनमें विश्व के हृदय का इतिहास सजग हो उठा है। उन्होने दुष्टो का वैसा ही सूक्ष्म चित्रण किया है जैसा सज्जनो का। दुष्ट पात्रो के सहारे ही सज्जन पात्रों का उत्कर्ष बढ़ता है। इस तथ्य को पहचानकर ही गोस्वामीजी राम के लोक-नायकत्त्व को चरितार्थ करने मे सफल हुए हैं। राम के मुकाबले में रावण को खडा कर उन्होने साधुता और असाधुता की जो परिभाषा गढ़ी है उससे अधिक स्पष्ट परिभाषा कहीं मिल नही सकती। उनके राम जितने धीर, गभीर, कोमल, उदार लोक-रक्षक और सुशील हैं, उनका रावण उतना ही ओछा, क्रूर, हठी, कृतघ्न, दंभी और लोक-विरोधी है। इसलिए राम जितने शीघ्र हमारा आकर्षण प्राप्त कर लेते हैं उतने ही शीघ्र रावण हमारी घृणा का पात्र बन जाता है। गोस्वामीजी के चरित्र-चित्रण की यह विशेषता राम-रावण तक ही सीमित नहीं है। भाई के रूप मे भरत और लक्ष्मण तथा रावण और विभीषण, माता के रूप मे कौशल्या और

कैकेयी, पत्नी के रूप में सीता और मन्दोदरी, राजा के रूप में दशरथ और राम, सेवक के रूप में हनुमान और अंगद तथा भक्तो में सुग्रीव, विभीषण और शबरी आदि के जो चित्र उन्होने उतारे है उनमें उनकी यह विशेषता बराबर बनी रहती है। अपनी इस विशेषता-द्वारा वह यह दिखाने में समर्थ और सफल हुए हैं कि मानव-चरित्र कैसा है और उसे कैसे होना चाहिए। उनके चरित्र-चित्रण का उद्देश्य है, परिवार के व्यक्तियो को सुशील और सदाचारी बनाना। जिस परिवार मे कौशल्या-जैसी माता, राम-जैसा पुत्र, भरत-जैसा भाई, सीता-जैसी पत्नी, हनुमान-जैसा सेवक और वशिष्ठ-जैसा गुरु होगा वह परिवार ही सादर्श समाज की स्थापना कर सकेगा। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गोस्वामीजी ने व्यक्तियो का ही नहीं, समुदाय-विशेष की प्रकृति का भी चित्रण किया है। बालको, ग्रामीणों, नागरिकों, देवताओ, राक्षसो, बानरो तथा राज-समाजो के मनोभावो, उनकी मुद्राओं और उनके कार्य-व्यापारो के चित्र उनके पात्रों के चित्रो के समान ही आकर्षक एव सजीव हैं। उनमें आत्म-पक्ष और लोक-पक्ष, आदर्श और यथार्थ, व्यवहार और परमार्थ, शील और नियम, धर्म और अधर्म-सबका सफल समन्वय हुआ है।

(५) वाह्य दृश्य-चित्रण—गोस्वामीजी ने मानव-प्रकृति के चित्रण के साथ-साथ अपनी रचनाओं मे वाह्य दृश्य चित्रण भी प्रस्तुत किए हैं। उनके वाह्य-दृश्य-चित्रण दो प्रकार के है: (१) मानव-संबंधी और (२) प्रकृति-संबंधी। मानव-संबधी वाह्य दृश्य-चित्रण में अंगो की शोभा, चेष्टाओं एवं मुद्राओं की छटा और कार्य-व्यापार की तत्परता आदि का सजीव वर्णन किया गया है! गोस्वामीजी अपने इस कार्य में भी बे जोड़ हैं। राम की बाल-छबि का चित्र लीजिए :—

'सुन्दर श्रवण, सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला॥
चिक्कन कच, कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥'

भोजन करते समय राम के बाल-चापल्य का शब्द-चित्र देखिए :—

'भोजन करत चपल चित, इत-उत अवसर पाइ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि-ओदन लपटाइ॥'

आखेट के समय मृग को लक्ष्य कर बाण खींचते हुए उनकी मुद्रा का चित्र देखिए :—

'सुभग सरासन सायक जोरे ।
खेलत राम फिरत मृगया बन बसति सो मृदु मूरति मन मोरे ।
जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौहें तकत सुभौंह सकोरे ॥'

इस प्रकार की मुद्राओं के शब्द-चित्रों से गोस्वामीजी की रचनाएँ भरी पड़ी हैं। मुद्राओं के चित्रण मे उनकी निरीक्षण-शक्ति का चमत्कार देखने योग्य हैं। उन्होने जिस मुद्रा का चित्रण किया है उसका सजीव चित्र सामने खीच दिया है। काव्य में उन्ही बाह्य दृश्यो का वर्णन प्रयोजनीय होता है जिनका काव्य विषय से संबध हो और वह भी प्रसंग के संकोच अथवा विस्तार के अनुकूल। गोस्वामी जी ने अपने बाह्य दृश्य-चित्रण के विधान में इस सिद्धान्त का बड़ी सतर्कता से पालन किया है।

गोस्वामी जी का दूसरे प्रकार का बाह्य दृश्य-चित्रण प्रकृति-संबंधी है। प्रकृति-चित्रण मे उनके दो मुख्य उद्देश्य हैं : (१) प्रकृति के नीरव स्पन्दन को पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करना और (२) प्रकृति के प्रागढ़ बैराग्य की मानव की लालसा और ललक से तुलना करना। पहले प्रकार के उद्देश्य की पूर्ति उन्होने परिगणन-शैली के अनुसार की है। इस शैली के अन्तर्गत उन्होंने प्रकृति का सहज उत्फुल्ल रूप प्रस्तुत किया है। एक चित्र लीजिए :—

'झरना झरहि सुधा सम बारी। त्रिबिध तार हर त्रिविध बयारी ॥
विटप बेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भांती ॥
सुन्दर सिला, सुखद तरु छाही। जाइ बरनि बन-छबि केहि पाही ॥'

अपने ऐसे प्रकृति-चित्रो की योजना मे गोस्वामीजी ने पिछले कवियों की शैली का अनुकरण करते हुए अपनी निरीक्षण शक्ति से अधिक काम लिया है। इनसे अधिक उत्कृष्ट उनके वे प्रकृति-चित्र हैं जिनमे उन्होने संस्कृत-कवियो की शैली के अनुसार सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर दृश्य की संश्लिष्ट योजना की है। उनके चित्रकूट-चित्रण से इस प्रकार का एक उदाहरण लीजिए :—

'सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रंगमंगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि भृंगनि॥
सिखर-परस घन घटहिं मिलति बग-पांति सो छ्बि कवि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥'

प्रकृति के ऐसे संश्लिष्ट चित्रण बहुत कम हैं। इनकी अपेक्षा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि की सहायता से चित्रित प्रकृति के अलकरण रूप गोस्वामीजी की रचनाओं मे अधिक मिलते है। किष्किधा काण्ड में वर्षा और शरद ऋतुओं के जो चित्र उतारे गए है उनमे दृष्टान्तों की योजना के कारण वर्ण्य वस्तुओ का वर्णन दब गया है, पर यह बात उनके स्थल-वर्णन मे नही पाई जाती। अपने स्थल-वर्णन मे उन्होने वस्तुओ और व्यापारो का प्रचुर उल्लेख किया है। इस दृष्टि से उनके यात्रा, युद्ध, नगर हाट आदि वर्णन अत्यन्त सजीव हैं। उनकी रचनाओ मे ऐसे अवसर कम आए हैं जब प्रकृति मनुष्य के हर्ष में हर्ष और शोक मे शोक मनाती है। उन्होने प्रायः प्रकृति के प्रगाढ़ वैराग्य के ही चित्र प्रस्तुत किए हैं। इसका कारण प्रकृति के प्रति उनका मर्यादित दृष्टिकोण है। उन्होंने विशेष अवसरो पर ही प्रकृति को मानव के राग-विराग, हर्ष-शोक आदि से प्रभावित देखा है। इसलिए उनका प्रकृति-वर्णन अधिकांश वस्तुनिष्ठ ही है।

(६) भाव-पक्ष—गोस्वामीजी का काव्य वस्तुनिष्ठ होने के साथ-साथ बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व तथा भाव-तत्व से भी समान्वित है। निर्गुण और सगुण, जीव और माया, ज्ञान और भक्ति आदि के विवेचन मे जहाँ बुद्धि तत्त्व की प्रधानता मिलती है वहाँ प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण, परिस्थितियो के निर्माण तथा पात्रो के चरित्र-विकास मे उनकी कल्पना का चमत्कार दीख पड़ता है। भाव-तत्व की दृष्टि से तो उनकी सभी रचनाएँ भाव सागर हैं। विनय, दैन्य, त्याग, समर्पण, शील, आत्म-ग्लानि, क्रोध, उत्साह, घृणा, प्रेम, लज्जा, दभ, भ्रम, करुणा, भय, शंका, शोक, हर्ष, उन्माद आदि मानव-हृदय से संबध रखनेवाले जितने भी भाव संभव हो सकते हैं उन सबको उन्होंने अपने काव्य में स्थान दिया है और जीवन की मार्मिक परिस्थितियों के बीच उनका प्रभावशाली चित्रण किया है। वस्तुतः वह

भावलोक के सम्राट हैं। हमारे भावो पर उनका इतना सफल नियंत्रण है कि वह अपनी रुचि और अवसर के अनुसार हमे कभी हँसाते हैं, कभी रुलाते हैं, कभी पुलकाते है, कभी आश्चर्य-चकित करते हैं, कभी भय-ग्रस्त करते है, कभी प्रेम से सराबोर करते हैं और कभी उत्साह से भर देते है। आप उनकी कोई रचना उठा लीजिए, उसमे आपको भाव ही भाव भरे मिलेंगे। कुछ उदाहरण लीजिए। राम वन जा रहे हैं। माता कौशल्या कहती हैं :—

'जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड माता॥
जौं पितु-मातु कह्यौ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥'

'तौ जनि जाहु जानि बड़ माता' मे वात्सल्य और अधिकार की तथा 'जौं पितु मातु कह्यो बन जाना' मे कर्तव्य की जैसी सुन्दर व्यंजना की गई है वैसी विश्व के किसी काव्य मे मिलना दुर्लभ है। माता सुमित्रा भी कर्तव्य की भावना से प्रेरित हो लक्ष्मण से कहती हैं :—

'तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥'

कितनी सुन्दर युक्ति हैं माता सुमित्रा की! लक्ष्मण को सीता और राम की सेवा का एक मात्र अधिकार और कर्तव्य-पालन का सुअवसर! राम के वन जाने से दुखी न होकर वह प्रसन्न हैं और यह समझकर प्रसन्न हैं कि उनके पुत्र को सीता और राम की सेवा करने का जो सुअवसर मिलेगा वह अयोध्या में रहकर असभव हैं। इसलिए वह प्रत्यक्ष रूप से लक्ष्मण के भाग्य की, पर अप्रत्यक्ष रूप से अपने ही भाग्य की सराहना कर लक्ष्मण को सीता और राम के साथ वन जाने की सहर्ष आज्ञा प्रदान करती हैं। वात्सल्य के साथ अधिकार और कर्तव्य का जब इतना सुन्दर समन्वय होगा तब ही हमारे बालकों का जीवन स्तर ऊँचा उठेगा। गोस्वामीजी ने अपनी रचनाओं में जीवन को उठानेवाली ऐसी ही भाव-भूमियाँ का चित्रण किया है। उन्होंने जिस भाव को उठाया है उसे जीवन की मार्मिक परिस्थितियों के बीच झलका कर यथार्थ से आदर्श की ओर उन्मुख किया है। राम का अयोध्या-त्याग, संन्यासी के वेष मे उनकी वन-यात्रा, चित्रकूट मे राम और भरत-मिलन, शवरी का आतिथ्य, सीता-हरण, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर

राम का विलाप, भरत की प्रतीक्षा आदि राम के जीवन से संबंधित ऐसे अनेक स्थल हैं जिनमें उन्होने कर्तव्य और अधिकार, प्रेम और घृणा, हर्ष और शोक, त्याग और स्वार्थ, करुणा और क्रूरता, शान्ति और क्रोध आदि परस्पर विरोधी भावो-द्वारा सघर्ष की सृष्टि की है और भारतीय आदर्श के अनुकूल उस संघर्ष का लक्ष्य स्थापित किया है। यही उनके भाव-चित्रण की विशेषता है और इसी विशेषता के कारण हिन्दी काव्य मे उनका अनन्य स्थान है।

गोस्वामीजी की रस-योजना

गोस्वामीजी ने अपनी रचनाओ में सभी रसो का विधान और उनका परिपाक अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है। वह रस-सिद्ध कवीश्वर थे। उनकी सपूर्ण रचनाएँ एक ऐसे रस से भरी हुई हैं जिसके विषय मे वह स्वयं कहते हैं:—

'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष तिन्ह जाना नाही॥'

आध्यात्मिक दृष्टि से रामचरित में जो रस है वह तो है भक्तो के लिए, कवियों और साहित्यकारो के लिए गोस्वामीजी ने अपनी रचनाओं मे जिन रसो का विधान किया है उनमे उन्होने शृगार, हास्य, अद्भुत, वीर तथा शांत को विशेषरूप से स्थान दिया है। शृङ्गार के प्रति उनका विशेष झुकाव नही है। राम-कथा तथा अन्य पौराणिक कथाओ के प्रसङ्ग में जहॉ इस रस को खुलकर स्थान देने का अवसर आया है वहॉ भी उन्होने थोड़े शब्दों-द्वारा इसका परिपाक कर सतोष कर लिया है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह काव्य मे शृङ्गार का महत्त्व स्वीकार नही करते थे, बल्कि यह कि वह अपनी राम-कथा द्वारा जिस आदर्श की स्थापना करना चाहते थे उसमें शृङ्गार-वर्णन के लिए अधिक गुजाइश नहीं थी। ऐसी दशा मे उन्होंने इस रस को उन्हीं कथा-प्रसङ्गों में स्थान दिया जहाँ वह इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। उदाहरण के लिए राम-कथा से दो प्रसङ्ग लीजिए: (१) फुलवारी लीला और (२) सीता-हरण। फुलवारी-लीला मे सीता जी के सौंदर्य के सम्बन्ध मे 'करत प्रकासु फिरइ फुलवाई' कहकर गोस्वामीजी ने संयोग शृङ्गार के परिपाक मे अपनी अद्भुत काव्य-शक्ति का ही परिचय नहीं दिया,

बल्कि उन्होने हमारी भावनाओं का संस्कार कर वर्ण्य रस के प्रति अपना मर्यादित दृष्टिकोण भी व्यक्त कर दिया। इसी प्रकार सीता-हरण के पश्चात् वियोग शृंगार के वर्णन मे भी उन्होने बड़े संयम से काम लिया है। नारद-मोह, शिव-विवाह, सूर्पणखा-प्रस्ताव आदि के प्रसङ्गों मे भी उन्होंने शृगार को स्थान दिया है, पर इन प्रसङ्गो मे भी उन्होने मर्यादावादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। तात्पर्य यह कि उनकी रचनाओं में उनके मर्यादावादी दृष्टिकोण के कारण शृङ्गार को वह स्थान न मिल सका जो उसे उनके पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओ में मिल चुका था।

गोस्वामीजी ने शृङ्गार-वर्णन मे अपने जिस मर्यादावादी दृष्टिकोण का परिचय दिया उसी मर्यादावादी दृष्टिकोण से उन्होंने अन्य रसों का भी वर्णन किया है। राम की शिशु-चेष्टाओ तथा बाल-क्रीड़ाओ के चित्रण मे वात्सल्य, राम-वन-गमन तथा लक्ष्मण को शक्ति लगने के अवसर पर करुण, राम के ब्रह्मत्व तथा विष्णुत्व के आलेखन मे अद्भुत, नारद-मोह के प्रसङ्ग मे हास्य, राम-रावण-युद्ध के वर्णन में वीर, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स रसो का जैसा शिष्ट और सयत परिपाक उन्होने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। शान्त रस की अनुपम माधुरी से तो उनकी सम्पूर्ण रचनाएँ भरी पड़ी है। यही एक ऐसा रस है जिसे उन्होने विशेष रूप से अपनी सभी रचनाओ मे अपनाया है। 'विनय-पत्रिका' मे तो शान्त रस के अतिरिक्त अन्य किसी रस को स्थान ही नहीं मिला है। इन रसो के परिपाक मे गोस्वामीजी ने स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि की अत्यन्त सुन्दर योजना की है। हास्य कहीं शृङ्गार का सहायक है तो कहीं वीर का। वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स राम की शक्ति के आदर्श हैं और करुण रस उनके शील पर आश्रित है। शान्त रस के अन्तर्गत संचारी-रूप से अद्भुत, वीर, रौद्र और वीभत्स के भी उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार गोस्वामीजी की रस-योजना अत्यन्त संयत है और उसमें सभी रसों को उचित स्थान मिला है।

गोस्वामीजी की अलंकार-योजना

गोस्वामीजी रसवादी कवि होने के कारण भाव के उपासक थे।

फिर भी उन्होने अपनी रचनाओ मे अनेक प्रकार के अलङ्कारों का स्वाभाविक विधान किया है। अलंकारों के प्रयोग में उनका अपना दृष्टिकोण था। भावो का उत्कर्ष दिखाने तथा वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने के लिए ही वह अलकारो का औचित्य स्वीकार करते थे। इसलिए उन्होने अपनी रचनाओ में विभिन्न अलंकारो-द्वारा चमत्कार उत्पन्न नहीं किया, बल्कि उनके द्वारा उन्होने भावों को रमणीयता और भावानुभव को तीव्रता प्रदान की। ऐसा करने मे उन्होने प्रायः समतामूलक अलङ्कारो का ही प्रयोग किया। अनुप्रास के वह बड़े प्रेमी थे, पर अपने इस प्रेम के कारण उन्होने अपने वर्ण्य विषय मे भद्दापन और अर्थ-न्यूनता नहीं आने दी। श्लेष यमक और मुद्रा अलंकारों के फेर मे वह अधिक नहीं पड़े। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक के वह धनी थे। उत्प्रेक्षा का एक सुन्दर उदाहरण लीजिए :—

'लता-भवन तें प्रकट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु, जलद-पटल बिलगाइ ॥'

कविता करते समय गोस्वामीजी अलकार के निर्वाह का पूरा ध्यान रखते थे और प्रकरण-प्राप्त वस्तुओ के भीतर से ही उसकी सामग्री चुनते थे। इधर रङ्ग-भूमि में राम का आगमन होता है और उधर पूर्व दिशा में सूर्योदय। उस समय गोस्वामीजी को यह उपह्नुति सूझती है :—

'रवि निज उदय-व्याज रघुराया। प्रभु-प्रताप सब नृपन दिखाया ॥"

उत्प्रेक्षा और सन्देह का एक साथ प्रयोग इन पंक्तियो मे देखिए:—

'बालधि बिसाल बिकराल ज्वाल- जाल मानौ,
लंक लीलिबे को काल-रसना पसारी है।
कैधौं व्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर रस बीर तरवारि-सी उघारी है॥
तुलसी सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी-कलाप,
कैधौ चली मेरु तें कृसानु सरि भारी है।'

अब गोस्वामीजी के सांग-रूपक का एक नमूना लीजिए और देखिए

क इस अलकार की सहायता से उन्होंने क्रोध से भरी कैकेयी का कितना सफल चित्र उतारा है :—

'अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी॥
पाप-पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध-जल जाइ न जोई॥
दोउ बर कूल, कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी-बचन प्रचारा॥
ढाहत भूप-रूप तरु-मूला। चली विपति-बारिधि अनुकूला॥'

इस प्रकार गोस्वामीजी की रचनाओ मे मालापमा, परिसख्या, प्रदीप, उन्मीलित, सन्देह, भ्रम, दृष्टान्त, उदाहरण, उल्लेख, स्मरण, व्यतिरेक, तुल्ययोगिता, ललितोपमा, अप्रस्तुत प्रशसा, व्याजनिन्दा, परिकराकुर, अतिशयोक्ति, निदर्शना, रूपकातिशयोक्ति, विभावना आदि की अत्यन्त सुन्दर योजना हुई है।

गोस्वामीजी की छन्द-योजना

गोस्वामीजी की छन्द-योजना उनकी रस-योजना एव अलंकार-योजना के समान ही अत्यन्त समृद्ध है। अपनी इस योजना मे उन्होंने अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन कवियो की सभी प्रकार की काव्य-शैलियों को अपनाकर अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। वीर-काव्य की छप्पय-शैली, संत-काव्य की साखी-शैली, प्रेमाख्यानक प्रबध-काव्य की दोहा-चौपाई-शैली, कृष्ण-काव्य की पद-शैली, भाटो की कवित्त-सवैयो की ललित-शैली, लोक-साहित्य की सोहर तथा बरवै-शैली, आदि जितने प्रकार क काव्य-शैलियाँ उन्होने अपनाई उन सब पर उन्होने अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दी। ऐसा करने मे उनका एक मात्र उद्देश्य था, राम के शील का आदर्श समाज के प्रत्येक वर्ग तक पहुँचाना। अपने इस उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होंने महिलावर्ग के लिए 'रामलला नहछू', 'पार्वती-मगल' 'जानकी-मगल' और 'गीतावली' की रचना की, काव्य प्रेमियो के लिए 'कवितावली' बनाई, भक्तो तथा सन्यासियो के लिए 'विनय-पत्रिका' और 'वैराग्य-सदीपनी' का प्रणयन किया, लोक-नीति से प्रेम रखनेवालो के लिए 'दोहावली' लिखी और गंभीर साहित्यिक एव दार्शनिक रुचिवाले लोगो के लिए 'रामचरित मानस' की रचना की। 'रामचरित मानस' मे

उन्होंने दोहा-चौपाई की शैली अपनाई, 'कवितावली' मे कवित्त-सवैयो को स्थान दिया, 'विनय-पत्रिका' मे पदो की रचना की, 'दोहावली' मे दोहो का सकलन किया, 'गीतावली' मे गीतो का प्रणयन किया और 'रामलला नहछू' मे सोहर की रचना की। तात्पर्य यह कि उन्होने राम के शील-प्रधान जीवन को लोक-प्रिय बनाने के लिए प्रत्येक शैली का सफलतापूर्वक अनुसरण किया। उनका कोई छद शिथिल नही है। विषय और भाव के अनुकूल छदो का विधान करने मे वह बेजोड़ है। उन्होने समाज की आवश्यकता और अभिरुचि का ध्यान रखकर ही अपने छदो का विधान किया है।

गोस्वामीजी की भाषा

गोस्वामीजी की भाषा मुख्यतः अवधी है। अवधी के दो रूप है: (१) पूर्वी अवधी और (२) पश्चिमी अवधी। गोस्वामीजी ने पूर्वी अवधी मे 'पार्वती-मंगल', 'जानकी-मगल' तथा 'बरवै-रामायण' की और पश्चिमी अवधी मे 'रामचरित मानस' की रचना की है। उनकी इन रचनाओ मे अवधी के दोनो रूप परिमार्जित एव साहित्यिक हैं। जायसी ने भी अपनी रचनाओ मे पूर्वी अवधी का प्रयोग किया है, पर वह तद्भव-प्रधान एवं ठेठ होने के कारण उतनी चोखी और प्रवाहपूर्ण नही है जितनी गोस्वामीजी की पूर्वी अवधी। गोस्वामीजी की अवधी तत्समो और अर्द्ध-तत्समों से भरी पडी है। अवधी पर उनका पूरा अधिकार है और उस पर उन्होंने अपने व्यक्तित्व की छाप लगा कर उसे काव्य-गुणों से संपन्न कर दिया है।

अवधी की भाँति गोस्वामीजी ने ब्रजभाषा का भी प्रयोग किया है। 'कवितावली', 'विनय-पत्रिका' और 'गीतावली' तीनों की भाषा ब्रजभाषा है। 'कवितावली' की भाषा ब्रज की चलती भाषा का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमे शब्दो की तोड़-मरोड़ और खीचा-तानी नही है। इसमे सन्देह नहीं कि सूर की ब्रजभाषा की सजीवता उनकी भाषा में नही है, पर यह सर्वमान्य है कि उन्होने उसे भी अधिक साहित्यिक बनाने की चेष्टा की है। 'विनय-पत्रिका' की भाषा, विशेष कर प्रारंभिक भाग में, बहुत सस्कृत-गर्भित हो गई है। उनकी ब्रजभाषा का यह रूप देवताओं के गौरव के सर्वथा अनुकूल है। आत्म-निवेदन मे उनकी ब्रजभाषा अत्यन्त सरल है।

उन्होने विषय और पात्र के अनुकूल ही अपनी भाषा को कहीं क्लिष्ट और कहीं सरल रूप मे प्रस्तुत किया है। अपनी इस विशेषता के कारण वह अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन कवियो मे सबसे आगे हैं।

गोस्वामीजी की भाषा मे उनका शब्द-चयन अत्यन्त संयत और विषयानुकूल है। शब्दाडबर तो वह जानते ही नही। शब्दो की ध्वनि, उनके अर्थ और उनके प्रयोग के अवसर से वह इतने अधिक परिचित हैं कि अपनी रचना मे कही भी ऐसे शब्दो को स्थान नही देते जो न तो अर्थ के स्पष्टीकरण में सहायक होते हैं और न भाषा की सौदर्य-वृद्धि में योग देते हैं। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि वह जिस शब्द का जिस अर्थ मे एक बार ग्रहण कर लेते हैं उसका बराबर निर्वाह करते है। शब्दो के प्रयोग मे इस प्रकार की निर्वाह-क्षमता बहुत कम कवियो मे देखने को मिलती है। यही कारण है कि उनकी रचना मे उनका प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर नगीने की भाँति चमकता है और अर्थ-गौरव की वृद्धि मे सहायक है। विषय के अनुसार शब्द, शब्द के अनुसार अर्थ और अर्थ के अनुसार ही भाव-सौदर्य उनके शब्द-चयन की परम विशेषता है। उन्होंने वीर गाथा-काल की राजस्थानी के शब्द, भोजपुरी के शब्द, प्राकृत के शब्द, बुन्देलखण्डी के शब्द और फारसी तथा अरबी के शब्द निःसकोच अपनाए हैं, पर उन शब्दो को उन्होने अपने साँचे मे ढाल लिया है और उन पर साहित्यिकता तथा अपने व्यक्तित्व की छाप लगा कर उन्हे उनके कोश से अलग कर दिया है। उनकी रचना मे कोमल, कठोर, ध्वनि-सपन्न सब तरह के शब्द आए हैं और वे भावो के स्पष्टीकरण मे सहायक हैं।

गोस्वामीजी की भाषा का सर्व-प्रथम गुण है उसकी साहित्यिकता। उसमे रीति, गुण, अलकार, लक्षण, व्यंजना सभी काव्याग बिना प्रयास के ही यथास्थान आकर काव्य-सौष्ठव की वृद्धि करते है। रूप-सौदर्य तथा शृङ्गार-वर्णन मे उनकी भाषा का सहज माधुर्य देखने योग्य होता है। इसी प्रकार रौद्र और वीर के परिपाक मे उनकी ओजपूर्ण भाषा पाठक के हृदय को उमग और उत्साह से भर देती है। प्रसाद-गुण तो उनकी भाषा मे सर्वाधिक है। यही कारण है उनकी अधिकांश रचनाएँ अपनी सहज

अभिव्यक्ति के कारण चित्त में एक साथ प्रसन्नता और प्रकाश उत्पन्न कर देती हैं। उपमाओ और उत्प्रेक्षाओं की सजीवता के कारण उनकी भाषा का यह गुण और भी निखर उठता है।

गोस्वामीजी ने अपनी भाषा को भावानुरूपिणी बनाने के लिए उसमें मुहावरों और लोकोक्तियो को भी स्थान दिया है। 'भइ गति साँप छछूँदर केरी', 'अजन कहा आँख जेहि फूटै', 'देखिअ रवि दीप कर लीन्हे' आदि लोकोक्तियो के प्रयोग से उन्होने अपनी भाषा मे जैसी सजीवता और प्रभावोत्पादकता उत्पन्न की है वैसी न तो उनके पूर्ववर्त्ती कवियों की भाषा मे मिलती है और न उनके समकालीन कवियो की भाषा मे। उन्होने राम के शील के अनुरूप ही अपनी भाषा को सर्वगुण-सम्पन्न बनाया है।

गोस्वामीजी की शैली

विषय के अनुसार गोस्वामीजी की शैली वर्णनात्मक है, परन्तु उसमे वस्तु-वर्णन को ही प्राथमिकता नही दी गई है। घटनाओ तथा वस्तुओ के वर्णन मे गोस्वामीजी ने भावों, कल्पनाओं तथा विचारों का इतना सुन्दर समन्वय किया है कि उसमे सागर की-सी गभीरता आ गई है। संक्षेप में कहने की उनकी कला भी अद्वितीय है। कहीं-कहीं तो उन्होने अपनी शैली मे उपयुक्त शब्दो के सकेत-द्वारा ही घटना को सक्षेप रूप दे दिया हैं। इससे उनके कथा-वर्णन मे विस्तार की अपेक्षा सकोच आ गया है और उन्होने एक साथ कई कथाओं का समावेश करने मे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। इसीलिए विषय प्रतिपादन की दृष्टि से हम उनकी शैली को समास-शैली कह सकते हैं।

गोस्वामीजी की शैली मे शब्दों के गुण और उनकी शक्तियो का सन्निवेश अत्यन्त उचित सीमा के भीतर हुआ हैं। शैली मे कहाँ प्रसाद, कहाँ माधुर्य और कहाँ ओज की प्रतिष्ठा करनी चाहिए—इस पर उन्होने विशेष रूप से ध्यान दिया है। इसके साथ ही अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के प्रयोग में उन्होने पात्र और अवसर का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। केशवदास की भाँति उन्होने किसी विशिष्ट शब्द-गुण अथवा शब्द-शक्ति को अपनाकर उसके द्वारा अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं किया हैं। यही कारण है कि

उनकी शैली आरंभ से अन्त तक सरस, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण, प्रभावोत्पादक, संयत और भाव-व्यजक है।

भाषा की दृष्टि से गोस्वामीजी की शैली दो प्रकार की है : (१) सरल और (२) क्लिष्ट। कथा-वर्णन, वस्तु-वर्णन तथा संवाद मे उनकी भाषा-शैली अत्यन्त सरल है। उसमे अवधी के सरलतम शब्द हैं तथा समस्त पदों का प्रयोग भी न्यूनतम है। सरल भाव, सरल विचार, सरल अलंकारो का विधान, सरल वाक्य-विन्यास—उसकी कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। परन्तु इसके विरुद्ध गोस्वामीजी ने अपनी क्लिष्ट शैली का उदाहरण उस समय प्रस्तुत किया है जहाँ उन्होने जीवन के दार्शनिक पक्ष का विवेचन किया है। उस समय उनकी भाषा-शैली संस्कृत-गर्भित हो गई है और उसमे समस्त पदो का प्रयोग भो अपेक्षाकृत अधिक है। भाव, विचार, कल्पना और उन्हे उद्दीप्त करनेवाले अलकार सब उनके पाण्डित्य के प्रमाण हैं, पर उनसे उनके पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा नहीं प्रकट होती। यही उनकी इस शैली की विशेषता है जो उन्हे केशवदास से अलग कर देती है। उन्होने अलकृत शैली का प्रयोग पाण्डित्य-प्रदर्शन की दृष्टि से नही, अपितु अपने काव्य मे सौंदर्य-वृद्धि के विचार से किया है। उनके काव्य की आत्मा जितनी सुन्दर और स्वस्थ है उतन ही उसका शरीर। आत्मा अर्थात् रस और शरीर अर्थात् भाषा, छन्द तथा अलकार का जैसा सुन्दर समन्वय कर उन्होने अपनी शैली की रूप-प्रतिष्ठा की है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

गोस्वामीजी और संत-कवि : तुलनात्मक अध्ययन

गोस्वामीजी की रचनाओ के सम्बन्ध मे इतना जान लेने के पश्चात् सक्षेप मे यह भी देख लेना चाहिए कि उनका सत-कवियो से कहाँ मतभेद है। यह तो बताया ही जा चुका है कि हमारे साहित्य मे ब्रह्म की प्रतिष्ठा दो रूपो मे हुई है : (१) निर्गुण और (२) सगुण। ब्रह्म का निर्गुण रूप तर्क की कसौटी पर कसा हुआ है, ज्ञानमय रूप है, दार्शनिक रूप है। पर हम स्वभावतः तार्किक नही, विश्वासी हैं। हम सत्य को कुरेद-कुरेद कर नही देखना चाहते। कुरेद-कुरेद कर देखने से सत्य का रूप क्षत-विक्षत हो

जाता है। हम अपने सत्य-स्वरूप को अपने-ही जैसे रूप-रंगो मे प्रत्यक्ष कर, अपनी अगणित चेतनाओ को उसमे पुञ्जीभूत कर देखना चाहते हैं। ब्रह्म अथवा 'चिर सत्य' का यही रूप सगुण रूप होता है। इस रूप मे हमारा विश्वास जमता है। इस प्रकार जो ईश्वर-दर्शन होता है वह जीवन को कल्याणमय बनाता है, किन्तु जो लकीर पीटने के लिए ही ईश्वरवादी होते हैं और अलख-अलख की आवाज लगाते है उनसे समाज मे पापाचार ही फैलता है। तुलसीदास ने निर्गुणवाद की इस दुर्बलता को पहचाना। इसलिए उन्होने पार्थिव और अपार्थिव के बीच, नश्वर और अनश्वर के बीच 'राम' के लोक-पावन स्वरूप की प्रतिष्ठा की। जनता के लिए भगवान का यह रूप अधिक फलदायक हुआ। उसके लिए कबीर के 'राम' जो कार्य न कर सके वह तुलसी के 'राम' ने कर दिया। कबीर प्रभृति सन्तो के 'राम' ने गृहस्थ-जीवन के सशोधन का नही, अपितु उसके मूलोच्छेदन का उपाय किया। इस के विरुद्ध तुलसी के 'राम' ने गृहस्थ-जीवन का संशोधन किया। सन्त-कवि वेदान्ती थे, तुलसी मनोवैज्ञानिक। तुलसी और सन्त-कवियो का लक्ष्य एक था, पर उनकी साधना मे अन्तर था। सन्त-कवि व्यक्तिगत साधना के पक्षपाती थे, तुलसी लोकधर्म के प्रवर्तक थे। सन्तो का लक्ष्य ज्ञानमय था और तुलसी का भक्तिमय। तुलसी के हृदय मे उन ज्ञानयोगियो के लिए सम्मान था जिन्होने बिना लौकिक माया मे फँसे ही परमतत्व पा लिया था। इसीलिए उन्होने अपने राम से कहलाया :—

'ज्ञानी मोहि विशेष पियारा।'

किन्तु वह उस परम तत्व को ज्ञानियो तक ही सीमित न रखकर ससारी व्यक्तियो तक पहुँचाना चाहते थे। वह महाकवि थे। उनकी कला-रुचि ने जीवन को केवल एक जीवित-श्मशान के रूप मे देखना नहीं पसन्द किया। महाश्मशान जीवन की पुस्तक का अन्तिम परिच्छेद है। तुलसी ने जीवन के प्रारभिक परिच्छेदों को भी ललक कर देखा। सन्त-कवियो की निगाह जीवन-पुस्तक के केवल अन्तिम परिच्छेद पर थी, तुलसी की समस्त जीवन-पुस्तक पर। वह ज्ञानी और कर्मयोगी दोनो एक साथ थे। उन्होने विश्वासपूर्वक, तर्क-रहित होकर कर्तव्य-पालन करने और फल की चिन्ता

न करने की शिक्षा दी। जनता ने उनकी इस शिक्षा को अपनाया और उनके स्वर मे अपना स्वर मिला कर राम के जीवन को अपनी साधना का लक्ष्य बना लिया।

गोस्वामीजी और जायसी : तुलनात्मक अध्ययन

गोस्वामीजी का सूफी-कवि जायसी से भी मत भेद था। जायसी बाशरा सूफी मुसलमान और 'प्रेम की पीर' के कवि थे। उनके काव्य का उद्देश्य था—सूफी-साधना के अनुसार प्रत्यक्ष जीवन की एकरूपता का निरूपण करना और मानव को पार्थिव प्रतिबन्धो से मुक्तकर आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर उन्मुख करना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने किसी आदर्श पात्र को न चुनकर संयोग और वियोग के उस आध्यात्मिक स्वरूप का चित्रण किया जो इस विश्व के नाना रूपो मे अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान है। संक्षेप मे वह एकांतिक प्रेम के गायक थे। यह सच है कि उनके उस एकांतिक प्रेम के साथ कुछ गार्हस्थ्य-जीवन की और कुछ लोक-जीवन की झलक मिल जाती हैं, पर वह झलक ऐसी है जिससे न तो हमारे पारिवारिक जीवन का संस्कार हो सकता है और न हमारे सामाजिक जीवन का। उन्होने सामाजिक जीवन को आध्यात्मिक जीवन के मुकाबले मे दबाया है। यही कारण है कि वह हमारे सामने किसी सामाजिक आदर्श की स्थापना नही कर सके। वह अपने उद्देश्य और दृष्टिकोण से इतने बँधे हुए थे कि उससे परे वह देख ही नहीं सकते थे। लोक-रुचि का परिष्कार करना तो दूर, वह अपने काव्य-द्वारा उस समाज का भी कोई कल्याण, न कर सके जिसके वह सदस्य थे। उन्होने हमारे वेदान्त को अपनाया, हमारे हठ-योग को स्वीकार किया, हमारी पौराणिक कथाओं तथा हमारे इतिहास की घटनाओ का आश्रय लिया, हमारी संस्कृति एवं सभ्यता का उल्लेख किया, हमारी भाषा ली, हमारे अलकारो का चमत्कार दिखाया, हमारे रसो का निरूपण किया, हमारे छन्दो को ग्रहण किया, पर इस प्रकार हमारा सब कुछ लेकर भी उन्होंने हमे जो कुछ दिया उसे हम अपने हृदय और मस्तिष्क की स्थायी सम्पत्ति न बना सके। हमने उनके कवित्व-शक्ति पर रीझ कर 'वाह-वाह' अवश्य की, पर हम उनकी रचनाओ से अपना

जीवन उठाने के लिए कुछ न पा सके। गोस्वामीजी की रचनाओं के सम्बन्ध मे हम यह बात नहीं कह सकते।

गोस्वामीजा भक्त, समाज-सुधारक, लोक-धर्म-सस्थापाक, कवि और दार्शानक—सब एक साथ थे। जायसी के दृष्टिकोण की अपेक्षा उनका दृष्टिकोण अत्यधिक महान और व्यापक था। इसमे शक नही कि उन्होंने अपनी रचनाओं में आदि से अन्त तक हिन्दू-धर्म-भावना, हिन्दू-सस्कृति, हिन्दू-सभ्यता, हिन्दू-आदर्श, हिन्दू-परिवार और हिन्दू-समाज को ही स्थान दिया, पर इसके साथ ही यह भी निर्विवाद है कि उन्होने उन सब के भीतर से जो जीवन-तथ्य निकाले और उन जीवन-तथ्यो के आधार पर उन्होने जिस लोक-धर्म की व्यवस्था की वह हिन्दू-धर्म ही नही, मानव-धर्म भी बना। राम और रावण हमारे समाज मे ही नही पाए जाते, वे सपूर्ण मानव-समाज मे पाए जाते हैं। इसलिए राम और रावण के चरित्र-चित्रण मे गोस्वामीजी ने सपूर्ण मानव-समाज की प्रवृत्तियो को स्थान दे दिया। यह क्षमता न तो जायसी मे थी और न उनकी परंपरा के अन्य किसी कवि मे। जायसी का अध्ययन किया जा सकता है, पर गोस्वामीजी का अनुकरण। जायसी अपनी साधना-द्वारा जिसका केवल साक्षात्कार कराते है, गोस्वामीजी लोक जीवन मे उसकी प्रतिष्ठा कर उसका उत्कर्ष दिखाते चलते हैं। जायसी जहाँ साधना के प्रति सावधान रहने का आदेश देते हैं, वहाँ गोस्वामीजी अपने साधना की सरलता और सफलता का उद्घोष करते सुनाई पड़ते हैं। जायसी साधक की रुचि का सस्कार करनेवाले हैं, गोस्वामीजी लोक-रुचि का। जायसी जीवन में केवल प्रेम को महत्त्व देते है, गोस्वामी जी प्रेम के साथ साथ कर्त्तव्य की भी प्रतिष्ठा करते हैं। जायसी के रत्नसेन चित्तौड-नरेश होकर भी प्रजा के प्रति उदासीन है, गोस्वामीजी के राम अवध-नरेश होकर एक ऐसे राज्य की स्थापना करते है जिसमे प्रजा सुख पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करती है। तात्पर्य यह कि गोस्वामीजी ने व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र की छोटी-बड़ी सभी समस्याओ पर जितने व्यापक दृष्टिकोण से विचार किया है उस तक जायसी की पहुँच नहीं है।

कवित्त्व-शक्ति और काव्य-कला की दृष्टि से भी गोस्वामीजी

जायसी की अपेक्षा बहुत आगे हैं। 'गोस्वामीजी का 'रामचरित मानस' चरित्र-प्रधान प्रबन्ध-काव्य है और जायसी का 'पद्मावत' घटना-प्रधान। 'रामचरित मानस' का कार्य है रावण का वध और 'पद्मावत' का कार्य है पद्मावती की प्राप्ति। इन्हीं कार्यों के अनुसार दोनों महाकवियों ने अपने-अपने महाकाव्यों मे घटनाओं का सन्निवेश किया है। दोनों के 'कार्य' महान है, पर अपने प्रबन्ध-सौष्ठव मे तुलसी को जो सफलता मिली है वह जायसी को नसीब नही हुई है। 'पद्मावत' के कथानक के बीच मे उन्होने अनावश्यक विरामों की इतनी अधिक भर्ती की है कि उनसे कथा-प्रवाह मे बाधाएँ उपस्थित हो गई है। ऐसा उन्होंने केवल अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लोभ से किया है। गोस्वामीजी मे यह मनोवृत्ति नही है। एक घटना के अवसान पर उन्होंने राम के अलौकिक रूप की याद दिलाकर तुरन्त दूसरी घटना का आरम्भ कर दिया है। इसके अतिरिक्त जायसी के प्रबन्ध-काव्य मे वह अन्तर्दृष्टि नही है जो मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियो के बीच संघटित होनेवाली अनेक मानसिक अवस्थाओं का विश्लेषण करती है। जायसी की भावव्यजना रति, शोक और युद्धोत्साह तक ही सीमित है। इन भावो का उत्कर्ष उनकी रचनाओं मे बहुत सुन्दर हुआ है। उनका विप्रलम्भ शृङ्गार-वर्णन हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति है। उनकी 'नागमती' मे हिन्दू-सतिया की विरह-वेदना साकार हो उठी है। वह कराहती हैं, रोती-पीटती है और कभी-कभी मर्यादा की सीमा भी लाँघ जाती है। पर गोस्वामीजी की 'सीता' की मनोदिशा इस प्रकार की नही है। वह अपनी वियोगावस्था मे भी अत्यन्त सौम्य, गभीर और शान्त है। उनका रुदन मूक रुदन है। वह अपनी आग मे चुपचाप जलती है और अपने विरह मे भी सन्तोषी है। उनके विरह का कारण दैवी है। वह समझती हैं कि उनके राम दूसरे के नहीं होगे और शीघ्र ही उनके विरह का अन्त होगा। उन्हे अपने राम के प्रेम और उनकी शक्ति पर पूर्ण विश्वास है। 'नागमती' मे इस प्रकार के विश्वास का अभाव है। उनकी विरह-वेदना उनके पति की देन है। उन्हे यह तो विश्वास है कि उनके पतिदेव आएँगे, पर उन्हे यह विश्वास नहीं है कि उन्हे उनका पहले

का-सा प्रेम प्राप्त हो सकेगा। इसलिए वह छटपटाती हैं।

जायसी ने वात्सल्य का भी चित्रण किया है, पर उसमे तुलसी क गभीरता और गहराई नही है। राम के वन जाते समय माता कौशल्या के हृदय मे अपने पुत्र के लिए जो सहज स्नेह उमडता हुआ दिखाई देता है वह रत्नसेन के जोगी होकर घर से निकलने के अवसर पर उनकी माँ से प्राप्त नही होता। बाल-स्वभाव का अध्ययन तो जायसी मे है ही नहीं हास्य का भी उनमे अभाव है।

जायसी की अपेक्षा तुलसी का ज्ञान-क्षेत्र अधिक विस्तृत और पुष्ट है। धार्मिक क्षेत्र मे जायसी अपने इस्लाम-धर्म से अधिक प्रभावित हैं और उसका उन्हे अच्छा ज्ञान भी है। इसके साथ ही उन्होने साधु-सन्तो के समागम से हिन्दू-धर्म की विभिन्न धाराओ का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया है और दोना का सफल समन्वय भी किया है। तुलसी हिन्दू-धर्म की विभिन्न धाराओ का ही समन्वय कर सके हैं। इस्लाम-धर्म की ओर उनकी दृष्टि नही गई है। सामाजिक क्षेत्र मे तुलसी एक नवीन समाज के सृष्टा हैं। उन्हे समाज की सभी बातो का ज्ञान है।

इस प्रकार साहित्यिक भावनाओ के चित्रण मे गोस्वामीजी जायसी से आगे है। जायसी छन्द-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता नही हैं। तुलसी ने दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, छप्पय, बरवै आदि छन्दो को अपना कर अपने पिंगल-ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। अलकार की योजना दोनो मे स्वभाविक है। जायसी का पौराणिक ज्ञान जनश्रुति के आधार पर है, पर तुलसी ने अपने धार्मिक वृत्तो का गम्भीर अध्ययन किया है। जायसी की भाषा ठेठ अवधी है, गोस्वामीजी की भाषा साहित्यिक अवधी। गोस्वामीजी का ब्रज-भाषा पर भी अधिकार है, जायसी ब्रजभाषा नही जानते। इस प्रकार जायसी और गोस्वामी जी दोनो कहीं भी एक नही हैं। दोनो के बीच जीवन, साधना और काव्य के प्रति इतना गहरा मत-भेद है कि अनेक दृष्टियो से हम गोस्वामीजी को आगे पाते हुए भी यह नही कह सकते कि उनके मुक़ाबले मे जायसी पीछे हैं। जायसी यदि अपनी सूफ़ी-साधना के कारण महान हैं तो गोस्वामीजी अपने लोक-धर्म की स्थापना के कारण। हिन्दी-काव्य मे

दोनो की कृतियो का अलग-अलग महत्त्व है ।

गोस्वामीजी और सूरदास : तुलनात्मक अध्ययन

अब तुलसीदास और सूरदास पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार कीजिए। सूरदास ने वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत लोक-जीवन मे सगुण-उपासना की उस समय प्रतिष्ठा की जब नाना प्रकार के योगियो, यतियो और अलख जगानेवालो की निर्गुण-उपासना के कारण हिन्दू-धर्म-भावना अत्यन्त विकृत हो गई थी और हिन्दू-सामाजिक सङ्गठन अत्यन्त शिथिल हो गया था। सगुण उपासना के लिए उन्होने भागवत के कृष्ण को अपना आलंबन बनाया और उद्धव के मुकाबले मे गोपियो को खड़ाकर उन्होने निर्गुण-पन्थियो और योगियों को मुँह तोड़ उत्तर दिया। भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र मे उनकी यह सूक्त इतनी सफल सिद्ध हुई कि उसने जनता का मन योगियो की ओर से फेर दिया। जनता कृष्ण की लीलाओ मे भाग लेने लगी और कृष्ण के महत्व और विष्णुत्व मे उसका विश्वास जम गया। सूर ने इतना ही किया, इसके आगे वह न बढ सके। वह बल्लभ-सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। बल्लभ-सम्प्रदाय मे कृष्ण के बाल-रूप की प्रतिष्ठा थी। सूर ने इससे कुछ आगे बढकर कृष्ण को तरुण प्रेमी, अनन्य मित्र, लोक-रक्षक और कुशल राजनीतिज्ञ के रूप मे भी चित्रित किया। परन्तु उनके इन रूपो को वह लोक-प्रियता प्राप्त न हो सकी जो उनकी प्रेम लीलाओ को प्राप्त हुई। जनता ने उनकी प्रेम-लीलाओ के आध्यात्मिक रहस्य को उतना नही पहचाना जितना उनके लौकिक रूप को। फलतः समय के प्रभाव और जनता की दूषित मनोवृत्ति के कारण उन प्रेम-लीलाओ ने लौकिक रूप धारण कर लिया। गोस्वामीजी ने कृष्ण-भक्ति की इस कमजोरी को पहचाना और उसे दूर करने की व्यवस्था की। उन्होने जनता के सामने राम का आदर्श प्रस्तुत किया और उनके सौंदर्य और शक्ति के योग मे 'प्रेम' की प्रतिष्ठा करने के बजाय 'शील' की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार उनका राम-काव्य कृष्ण-काव्य की प्रतिक्रिया के रूप मे हमारे सामने आया। कृष्ण की सुन्दर मूर्ति देखकर उन्होने कहा :—

'कहा कहौं छबि आज की खूब बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष-बान लेहु हाथ॥'

इसका यह अर्थ नहीं कि गोस्वामीजी कृष्ण के विरोधी थे अथवा उन्हें कृष्ण के ब्रह्मत्व और विष्णुत्व मे आस्था नहीं थी, बल्कि यह कि वह कृष्ण को रास-लीलाओ के क्षेत्र से निकालकर लोक-धर्म-संस्थापक के रूप मे देखना चाहते थे। यही उस युग की माग थी और इस मांग की पूर्ति के लिए ही उन्होने राम के 'शील' को अपनी उपासना का लक्ष्य बनाया था। इस प्रकार सूर तुलसी के और तुलसी सूर के पूरक थे। सूर ने भारतीय धर्म-साधना मे सगुणवाद की प्रतिष्ठा कर तुलसी के लिए क्षेत्र तैयार कर दिया और तुलसी ने उस क्षेत्र मे राम के जीवन की प्रतिष्ठा कर लोक-धर्म की स्थापना की।

सूर न तुलसी से बड़े थे और न तुलसी सूर से। सूर 'सूर' नही थे, तुलसी 'ससी' नहीं थे। दोनो में से किसी को छोटा और किसी को बड़ा कहना दोनों के प्रति अन्याय करना होगा। यदि दोना की भक्ति-भावना का आदर्श एक होता, यदि दोनो की विचार-धारा पर एक ही इष्ट देव का प्रभाव होता और यदि दोनो के काव्य-क्षेत्र समान होते तो दोनों की प्रतिभा और विकास का पता लगता, पर दोनो की अन्तर्दृष्टि मे विभिन्नता होने के कारण इस प्रकार के निर्णय का कोई महत्त्व नहीं है। तुलसी यदि सूर की स्थिति मे होते तो वह तुलसी न होकर सूर या उनसे घट-बढ कर होते। ठीक यही दशा तुलसी के क्षेत्र मे जाकर सूर की होती। कवि जिस क्षेत्र को अपनाता है उस क्षेत्र के आदर्श के अनुसार ही उसकी भक्ति-भावना और उसकी काव्य-प्रतिभा का विकास होता है। सूर की भक्ति-भावना और उनकी काव्य-साधना का क्षेत्र कृष्ण का सपूर्ण जीवन नही था। वह बाल कृष्ण के सौंदर्य और शक्ति पर ही रीझे हुए थे। इसलिए उन्होने उस जीवन से सम्बन्धित लीलाओ का ही वर्णन किया। लीलाओ के वर्णन मे उनकी भक्ति सखा-भाव की और कृष्ण के ब्रह्मत्व एव विष्णुत्व के वर्णन में उनकी भक्ति दास्य-भाव की थी। अपने इस दृष्टिकोण से बधे होने के कारण वह प्रबन्ध-काव्य के रूप मे कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन का चित्र न उतार सके। वास्तव मे वह भजनानन्दी थे। पुष्टि-मार्ग मे दीक्षित होने के कारण उनकी साधना का मुख्य लक्ष्य था, कृष्ण की कृपा प्राप्त करना। समाज का संस्कार करने और उसे उठाने का बीड़ा उन्होने नहीं लिया था। यह

उद्देश्य तो तुलसी का था। तुलसी का उद्देश्य सूर के उद्देश्य की अपेक्षा अधिक व्यापक, लोक-सग्रही और उदार था। तुलसी की भक्ति शील प्रधान थी, सूर की 'माधुर्य-भाव प्रधान'। माधुर्य-भाव-प्रधान भक्ति-भावना के अन्तर्गत चरित्र के उठाने के लिए वैसा स्थान नहीं था जैसा शील प्रधान भक्ति-भावना के अन्तर्गत सभव हो सका। तुलसी ने राम के सम्पूर्ण जीवन मे 'शील' की प्रतिष्ठा कर उसे अपने प्रबन्ध-काव्य का विषय बनाया और उसके आदर्श के अनुकूल लोक-धर्म की व्यवस्था की। सूर की भांति वह केवल अपने लिए ही अपने इष्ट देव की कृपा के इच्छुक नही थे, बल्कि वह छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, साधु-असाधु सबके लिए उस कृपा के अभिलाषी थे। वह अपने साथ सब का कल्याण चाहते थे। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने, परिवार, समाज और राष्ट्र की सभी छोटी-बड़ी समस्यायो पर ध्यान दिया और राम के शील के उदाहरण-द्वारा सबका समाधान किया। इस प्रकार उन्होंने राम को जीवन की प्रत्येक समस्या के साथ सम्बद्ध कर हमारे सामने जिस आदर्श की स्थापना की वह वैयक्तिक और सामूहिक दोनो दृष्टियो से कल्याणकर सिद्ध हुआ।

अब सूर और तुलसी की काव्य-कला पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार कीजिए। सूर का काव्य गीत-काव्य है। गीत-काव्य मे रस-निरूपण की पर्याप्त स्वतन्त्रता रहती है। सूर ने अपने गीत-काव्य मे प्रायः सभी रसो को स्थान दिया है, पर वात्सल्य, शृ गार, अद्भुत और शान्त रसो के परिपाक के प्रति उनका विशेष मोह है। गीत-काव्य मे इन्ही रसों का विशेष महत्व भी है। इन रसो मे भी वात्सल्य और शृंगार के चित्रण मे वह बेजोड़ हैं। शृगार के अन्तर्गत उनके सयोग और वियोग के चित्र अत्यन्त प्रभावशाली हैं, पर इनसे भी बढ़कर उनके वात्सल्य के चित्र है। तुलसी ने भी अपनी रचनाओं मे प्रायः सभी रसो को स्थान दिया है, पर उनकी योजना विषय और अवसर के अनुकूल है। अपने रस-निरूपण मे उन्होने मर्यादा का पूरा ध्यान रखा है। सूर ने राधा के रूप-सौदर्य का चित्रण जिस ढग से किया है वह ढग गोस्वामीजी को पसन्द नहीं है। गोस्वामीजी की भक्ति-भावना दास्य-भाव की है, इसलिए उन्होंने सीता के रूप की उतनी प्रशसा नही

जितनी उन्होंने उनके गुणों की प्रशसा की है। कृष्ण के लीला-वर्णन मे सूर का मुख्य रस है, शृंगार और राम के चरित्र-वर्णन मे गोस्वामीजी का मुख्य रस है, शान्त। उनका शान्त रस सब रसो पर हावी है।

अलकार-योजना मे सूर और तुलसी दोनों समान है। दोनो ने प्रायः समतामूलक अलकारो का प्रयोग किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा और साग रूपक के प्रयोग मे दोनो महाकवियो ने जैसी क्षमता दिखाई है वैसी अन्य कवियो मे नही मिलती। फिर भी यह देखा जाता है सूर की अपेक्षा तुलसी की अलकार-योजना अधिक विस्तृत है। यही बात उनके चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। विषय के सकोच के कारण सूर अपने काव्य मे न तो अधिक पात्रो को स्थान दे सके है और न उन पात्रो का ही चरित्र विकास कर सके है जो उनकी रचनाओ मे मिलते है। तुलसी की रचनाओ मे विषय का इतना अधिक विस्तार है कि उसमे विश्व के सभी प्रकार के पात्रो को स्थान मिल गया है और उनका चरित्र-चित्रण विषय तथा अवसर के अनुकूल हुआ है। इस दृष्टि से सूर की अपेक्षा तुलसी को मान-जीवन का अनुभव अधिक है।

काव्य-शैली के क्षेत्र मे सूर, तुलसी से, बहुत पीछे हैं। सूर ने अधिकारपूर्वक केवल पद ही लिखे हैं, पर तुलसी ने अपने युग की प्रायः सभो काव्य-शैलियो का समानाधिकार से प्रयोग किया है। सूर की भाषा केवल ब्रजभाषा है। तुलसी ने ब्रजभाषा, अवधी और संस्कृत—तीनो भाषाओ मे सुन्दर रचनाएँ की है। तुलसी मे जा पाण्डित्य है, वह सूर मे नहीं है, न तो अध्ययन की दृष्टि से और न दार्शनिकता तथा जीवन मे पैठ की दृष्टि से। सारांश यह कि सूर और तुलसी की भक्ति-भावना का लक्ष्य एक होते हुए भी उनकी साधना-पद्धति, काव्य-प्रतिभा और विषय-निर्वाचन मे इतना अधिक अन्तर है कि दोनो मे से किसी को भी घट-बढ़कर नही पाते। क्या भक्ति-भावना, क्या काव्य, क्या शैली और भापा, दोनो ने अपने-अपने क्षेत्र मे अद्भुत सफलता प्राप्त की है। आलोचनात्मक दृष्टि से हम जो चाहें कह लें, पर दोना ने हमे जो दो आदर्श दिए उनके सफल समन्वय मे ही हम अपना जीवन पूर्ण और सफल बना सकते है।

५. आचार्य केशवदास

जन्म संवत्-१६१२ : मृत्यु-संवत्-१६७४

जीवन-परिचय

केशवदास का जन्म ओड़छा नगर में स० १६१२ मे हुआ था। उनके पिता प० काशीनाथ मनाढ्य ब्राह्मण थे। उनका वश पडितो का वश था और उसका ओड़छा-राजवश मे अत्यधिक मान था। केशवदास के पितामह कृष्णदत्त मिश्र राजा रुद्रप्रताप के दरबार मे पुराण-वृत्ति पर नियुक्त थे और पिता राजा रुद्रप्रताप के उत्तराधिकारी राजा मधुकरशाह के दरबार के एक रत्न थे। मधुकरशाह की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र रामशाह गद्दी पर बैठे, परन्तु उनमे अधिक कार्य-कुशलता नही थी। इसलिए उन्होने अपने भाई इन्द्रजीत को सारा राज-काज सौप दिया था। इन्द्रजीत ने आचार्य केशवदास को अपना गुरु माना और भेट मे उन्हे २१ गॉव दिए। राजा रामशाह भी उन्हे अपना मित्र मानते थे। इस प्रकार केशवदास पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनो समान रूप से प्रसन्न थीं।

केशवदास पर उनके वंश का पूरा प्रभाव था। उनके किसी पूर्वज ने प्रसिद्ध आयुर्वेद ग्रन्थ 'भाव-प्रकाश' की रचना की थी। उनके पितामह 'प्रबोध चन्द्रोदय' के, उनके पिता प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रन्थ 'शीघ्रबोध' के और उनके बड़े भाई बलभद्र 'नख-सिख' के रचयिता थे। अपनी इस कुल-गाथा के अनुसार केशवदास भी सस्कृत-साहित्य के अद्वितीय विद्वान थे, पर उनका युग संस्कृत-साहित्य के मान का युग नही था। वह था हिन्दी-साहित्य का मध्य-काल। इसलिए उन्होने समय की रुचि पहचानकर अपने कुल की परम्परा के विरुद्ध हिन्दी को अपनाया। इस सम्बन्ध मे वह स्वय कहते हैः—

'उपज्यो तेहि कुल मंद मति, सठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, भाषा करी प्रकास॥'

केशवदास स्वाभिमानी और निस्पृह ब्राह्मण थे। सुसम्पन्न पडित

कुल मे जन्म लेने के कारण उनमे धन-लोलुपता तो थी ही नही। इन्द्रजीत को उन पर श्रद्धा थी और बीरबल (स० १५८५-१६४६) उन्हे बहुत मानते थे। वह चाहते तो इन दोनो व्यक्तियो से बहुत-कुछ ऐंठ सकते थे, परन्तु उन्होंने उनके सामने कभी हाथ नहीं फैलाया। उनकी इस मनस्विता का उनके काव्य पर भी प्रभाव पड़ा। वह दरबारी-कवि थे, पर दरबारीपन उनमे नही था। झूठ-मूठ किसी की हाँ-मे-हाँ मिलाना उनके स्वभाव मे नहीं था। राजनीतिक सङ्कट उपस्थित होने पर वह इन्द्रजीत तथा राजा रामशाह को अपनी अमूल्य मन्त्रणा भी प्रदान किया करते थे। एक बार उन्होने इन्द्रजीत को तत्कालीन मुगल-सम्राट अकबर (स० १५९९-१६६२) के कर से चिन्ता-मुक्त कराया था। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इन्द्रजीत के पास राय प्रवीन नाम की एक अत्यन्त सुन्दर वेश्या थी। केशवदास ने स्वयं उसको काव्य-शास्त्र की शिक्षा दी थी। अकबर ने उसकी संगीत की प्रशसा सुनकर उसको अपने दरबार मे बुलाया, परन्तु वह तो इन्द्रजीत को पति रूप मे स्वीकार कर चुकी थी। ऐसी स्थिति मे उसके सामने अपने पातिव्रत्य और आत्म-सम्मान का प्रश्न था। साथ ही उसे यह भी भय था कि उसके दरबार में न जाने से इन्द्रजीत विपत्ति में फँस जाएँगे। बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसने अकबर के पास यह दोहा लिखकर भेजा :—

'विनती राय प्रवीन की सुनिए साहि सुजान।
जूठी पातरि खात है बारी, वायस, स्वान ॥'

कामांध अकबर ने राय प्रवीन का भाव नहीं समझा। उसने कुपित होकर इन्द्रजीत पर एक करोड़ रुपया जुर्माना कर दिया। छोटा राज्य और इतनी बडी रकम ! इन्द्रजीत घबड़ा गए। उनकी समझ मे कुछ नही आया। केशवदास उनकी चिन्ता देखकर स्वय दिल्ली गए और बीरबल से मिलकर उन्होने इन्द्रजीत को इस चिन्ता से मुक्त किया। इन्द्रजीत का मान रह गया और राय प्रवीन का पातिव्रत्य। कहते हैं बीरबल ने उनके इस छद पर मुग्ध होकर छः लाख रुपए दिए थे :—

'केशवदास के भाल लिख्यो विधि रंकको अंक बनाय सँवारयो।
धोये धुवै नहिं छूटो छुटै, बहु तीरथ जाय कै नीर परवारयो ॥'

हवै गयो रंक ते राव तबै जब बीरबली नृप नाथ निहारयो ।
भूलि गयो जग की रचना चतुरानन बाय रह्यो मुख चारयो ॥'

केशवदास राम के भक्त थे, पर गार्हस्थ्य-जीवन से उन्हें प्रेम था। वह राजदरबार मे बडे ठाट-बाट से रहते थे। वह बड़े रसिक भी थे। यह रसिकता उनमे वृद्धावस्था तक बनी रही। कहते हैं, एक बार अपनी वृद्धावस्था में वह किसी कुएँ पर बैठे हुए थे। उसी समय पानी भरने के लिए कई युवतियाँ आई और उनकी ओर देखकर हँसने लगी। इस पर केशवदास ने यह दोहा कहा :—

'केशव केसनि अस करी, जस अरि हूँ न कराहिं ।
चन्द्र-बदनि मृग-लोचनीं, 'बाबा' कहि कहि जाहिं ॥'

इन्द्रजीत की मृत्यु के पश्चात् केशवदास ने वीरसिंह का आश्रय ग्रहण किया। वीरसिह की प्रशंसा मे उन्होने 'वीरसिह देव-चरित' तथा मुगल-सम्राट जहाँगीर के गौरव-गान मे 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' की रचना की। उनका देहावसान स० १६७४ के लगभग हुआ।

केशवदास की रचनाएँ

केशवदास ने कई काव्य-ग्रन्थो की रचना की है। इनमें से अबतक केवल नौ का पता चला है जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(१) **रसिक-प्रिया**—इसका रचना-काल सं० १६४८ है। यह रस-प्रधान ग्रन्थ इन्द्रजीतसिह के आदेशानुसार बनाया गया था। इसमें नौ रसों के वर्णन के पश्चात् शृंगार रस की प्रधानता दिखाई गई है। शृङ्गार के सयोग और वियोग पक्षो का विवेचन करते हुए नायक तथा नायिका-भेद पर भी विचार किया गया है। इसके बाद हाव-भावो का भी सोदाहरण वर्णन है।

(२) **कवि-प्रिया**—इसकी रचना-काल कार्तिक शुक्ल ५, बुधवार सं० १६५८। यह केशवदास का मुक्तक और लक्षण-ग्रन्थ है। इसमे उन्होंने कविता के दोष-गुण, कविता की कसौटी, कवियो के दोष-गुण, अलङ्कार, बारहमासा, नख-शिख तथा चित्र-काव्य आदि का विशद विवेचन किया है।

(३) **राम-चन्द्रिका**—इस महाकाव्य का रचना-काल कार्तिक शुक्ल

१२, बुधवार स० १६५८ है। 'रामचरितमानस' के बाद राम-कथा-साहित्य में इसी का स्थान है। स्वप्न में बाल्मीकि का आदेश पाकर केशवदास ने इसकी रचना की थी। अपने इस महाकाव्य मे उन्होने राम का मुख्यतः महापुरुष के रूप मे ही चित्रण किया है।

(४) **रतन बावनी**—इसका रचना-काल सम्भवतः सवत् १६६० है। यह ५२ छन्दों का वीर रस-पूर्ण छोटा-सा काव्य है। इसमे राजा इन्द्रजीतसिंह के बडे भाई रतनसिंह की वीरता का अत्यन्त ओजपूर्ण वर्णन है। केशवदास ने इसकी रचना छप्पय छन्दों मे की है।

(५) **वीरसिंहदेव-चरित**—इसका रचना-काल सं० १६६० के लगभग माना जाता है। इसमे दोहा चौपाइयो मे ओड़छा के महाराज वीरसिंह देव का चरित वर्णन किया गया है। वीरसिंहदेव की प्रतिष्ठा जहाँगीर के दरबार में हुई, क्योकि इन्होने उनके इशारे पर अकबरी दरबार के प्रसिद्ध विद्वान अबुलफ़ज़ल की हत्या कर डाली थी।

(६) **जहाँगीर-जस-चन्द्रिका**—इसका रचना-काल भी वीरसिंहदेव-चरित के आप-पास है। वीरसिंहदेव के कहने से ही सम्भवतः इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। इसकी कविता साधारण है।

(७) **विज्ञान-गीता**—यह सं० १६६७ की रचना है। इसमें २१ अध्याय हैं जिनमें से बारह मे 'विवेक' तथा 'महामोह' का सग्राम-वर्णन सस्कृत के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक से लिया गया है। इस पर 'श्रीभगवद्-गीता' तथा 'योगवासिष्ठ' की छाप है। इसकी रचनाओं से स्पष्ट होता है कि इस समय केशवदास में वैराग्य भावना उत्पन्न हो गई थी।

केशवदास का महत्त्व

केशवदास गोस्वामी तुलसीदास और अकबर के समकालीन थे। अकबर के शासन-काल (स० १६१३-६२) का पूर्वार्द्ध सूर, तुलसी और मीराँबाई का काल था। उस काल में केवल भक्ति-साहित्य का निर्माण हुआ था। इस प्रकार के साहित्थ से हिन्दू-जनता के सामने उसके धर्म का जो स्वरूप उपस्थित हुआ था उससे उसे अधिक सान्त्वना मिली थी। अब रह गया था भावी साहित्यकारो के लिए काव्य के कला-पक्ष का ज्ञान। इस

अभाव को केशवदास ने अकबर के उत्तरार्द्ध काल मे पूरा किया। केशवदास हिन्दी-साहित्य के इतिहास के शृगार-काल के अग्रदूत के रूप मे हमारे सामने आए। उन्होने यदि एक ओर राम-कथा का आधार लेकर तुलसी की काव्य-परम्परा का पालन किया तो दूसरी ओर 'कवि-प्रिया' तथा 'रसिक-प्रिया' की रचना कर भावी कवियो का पथ-प्रदर्शन किया। यहाँ कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि केशवदास के पहले भी रीति-ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। पर उन रचनाओं मे काव्य-कला का वह सूक्ष्म विवेचन नहीं था जो केशवदास को रचनाओ मे पाया जाता हैं। केशवदास ने सस्कृत के लक्षण-ग्रंथो का विधिवत् अध्ययन कर हिन्दी मे लक्षण ग्रन्थो की परंपरा के सूत्रपात का सर्वप्रथम श्रेय प्राप्त किया। उन्होंने काव्य की जो मर्य्यादा बॉध दी और काव्य की विभिन्न शैलियों का जो रूप निर्धारित कर दिया उसके अनुसार ही अधिकाश परवर्ती कवियो ने अपनी अमर वाणी का अलकरण किया। यह उन्ही का प्रसाद था कि बिहारी, पद्माकर, मतिराम, भूषण और देव ने उनके मार्ग पर चलकर हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे अपना अमिट स्थान बना लिया।

केशवदास का महत्व उनके काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण से भी ऑका जा सकता है। जहॉ सूर और तुलसी अपने काव्य मे रस के समर्थक थे वहॉ केशव ने काव्य मे चमत्कार का समर्थन किया। अपने काव्य मे चमत्कार लाने के लिए उन्होंने देश और काल तक की चिन्ता नहीं की। इसका कारण था, उनका पाण्डित्य। वह सस्कृत-साहित्य के पूर्ण पण्डित थे। दर्शन और नीति-शास्त्र का भी उन्हे पर्याप्त ज्ञान था। ज्योतिष और वैद्यक में भी उनकी पहुँच थी। इस लए गम्भीर अध्ययन, विस्तृत अनुभव, ऊँची कल्पना, शब्द-बाहुल्य तथा रचना-कौशल के कारण वह चमत्कारी कवि बनने मे सफल हो सके। उनके परवर्ती कवि उनके इस मार्ग का पूर्णतः प्रतिनिधित्व न कर सके। उनमे कवित्व-शक्ति तो थी, पर केशवदास का पाण्डित्य नहीं था। वे रसिक और मुख्यतः रसवादी थे। केशवदास का काव्यगत दृष्टिकोण उनसे भिन्न था। केशवदास का झुकाव कोमलता की ओर न होकर प्रचण्डता की ओर, दीनता की ओर न होकर अभिमान की ओर-

और भावुकता को ओर न होकर चमत्कार की ओर था। यही कारण है कि वह अपने काल के सैकड़ो कवियों के बीच अपने ढग के अनोखे और निराले कवि दृष्टिगोचर होते हैं।

एक दृष्टि से केशवदास के काव्य का और भी महत्त्व है। काव्य के दो अंग हैं: (१) अतरग और (२) बहिरग। कबीर ने अपने समय के हृदय की नैराश्य-जन्य शुष्कता को अपनी ज्ञानमयी भक्ति के रस से सींचकर समस्त सृष्टि के साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की, परन्तु जनता उनके इस अन्तरंग काव्य-सौन्दर्य का अधिक दिनो तक आनन्द न उठा सकी। जनता ही नहीं, हिन्दी के कवि भी अपनी रचनाओं मे उसका अनुकरण न कर सके। मुग़लों का आधिपत्य स्थापित हो जाने से देश के जन-जीवन में बहिरंग सरसता के प्रति जो आकर्षण बढ रहा था उसे तुलसीदास का मर्यादित भक्ति-काव्य भी अपने रस मे लीन न कर सका। सूर का लीला-प्रधान काव्य जनता की रुचि के अनुकूल अवश्य था, पर उसमे भी बाहरी तड़क-भड़क के लिए अधिक गुंजाइश नहीं थी। केशवदास ने 'रसिक-प्रिया' तथा 'कवि-प्रिया' की रचना कर जनता तथा भावी कवियों की इस भावना का नेतृत्व किया। अपनी इस विशेषता के कारण ही वह शृंगार-काल के अग्रदूत माने जाते हैं।

केशवदास का आचार्यत्व

केशवदास हिन्दी के प्रथम आचार्य है और उनका आचार्यत्व हिन्दी-कवियो के लिए आदर्श है। उन्होंने अपने आचार्यत्व का परिचय दो रूपो में दिया है: (१) लक्षण-ग्रंथों के रचयिता के रूप मे और (२) लक्ष्य-ग्रंथो के रचयिता के रूप मे। लक्षण-ग्रथों के रचयिता के रूप में उनकी दो रचनाएँ हैं: (१) 'रसिक-प्रिया' और (२) 'काव्य-प्रिया'। इन्हो दोनो काव्य-ग्रंथों के अध्ययन से उनके आचार्यत्व का पता चलता है। उनके लक्ष्य-ग्रंथो में 'रामचन्द्रिका', 'वीरसिंहदेव-चरित' तथा 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' का स्थान है। इनमें से 'रामचन्द्रिका' की रचना राम-काव्य और 'वीरसिंह देव-चरित' तथा 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' की रचना वीर-काव्य के अन्तर्गत हुई है। अपने इन प्रबन्ध-काव्यों में केशवदास ने अपने लक्षण-ग्रथों में

वर्णित काव्य-सिद्धान्तो का पूर्णतया पालन किया है। काव्य के क्षेत्र में उनका आदर्श यह रहा है :—

'भूषन बिन न विराजई कविता, बनिता मित्त।'

केशवदास के उक्त आदर्श के कारण कुछ आलोचकों ने उन्हे शृङ्गार-काव्य के अन्तर्गत माना है और कुछ आलोचको ने उन्हें भक्ति-काल के दरबारी-कवियो की श्रेणी मे स्थान दिया है। इस दूसरे वर्ग के आलोचकों का कहना है कि 'शृङ्गार-काल' का आविर्भाव केशवदास के लगभग ५० वर्ष बाद आरंभ होता है। इसलिए केशवदास 'शृङ्गार-काल' के प्रथम आचार्य नही माने जा सकते। अपने मत के समर्थन मे वे यह भी पुष्ट प्रमाण देते हैं कि केशवदास अलकारवादी थे। केशवदास ने हिन्दी-कवियों को काव्यांग-निरुपण की उस पूर्व दशा का परिचय कराया है जो भामा और उद्भट के समय में थी, उस उत्तर दशा का नहीं जो आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मट (सं० १०५०-११५०) तथा विश्वनाथ के समय मे थी। भामह और उद्भट के समय मे अलंकार और अलंकार्थ के बीच स्पष्ट भेद नहीं किया था और रस, रीति, अलंकार आदि सब के लिए 'अलकार' शब्द का प्रयोग होता था। किन्तु आनन्दवर्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ के समय में यह भेद स्पष्ट हो गया था। हिन्दी के शृङ्गार-काल के कवियों ने उक्त परवर्ती आचार्यो का ही अनुकरण किया और 'चन्द्रलोक' तथा 'कुवलयानन्द' आदि रीति-ग्रथों के आधार पर अपनी रचनाएँ कीं। इसलिए सैद्धान्तिक दृष्टि से केशवदास शृङ्गार-काल के प्रथम आचार्य नहीं माने जा सकते। प्रथम वर्ग के आलोचक केशवदास के विरुद्ध दिए गए उक्त प्रमाणों की गुरुता और गभीरता को स्वीकार करते हुए भी यह दलील देते हैं कि केशवदास की मूल प्रवृत्ति वही है जो शृङ्गार-काल के कवियों की थी। अर्थात् शृङ्गार-काल के कवियो की भाँति ही केशवदास ने भी लक्षण-ग्रंथों की रचना की है और अपने आचार्यत्व का प्रमाण दिया है। इसके अतिरिक्त उनकी 'रसिक-प्रिया' उन्हें काव्य मे 'रसवाद' के विरुद्ध प्रमाणित नहीं करती। इसलिए उन्हे शृङ्गार-काल के अन्तर्गत मान लेने मे कोई वाधा नहीं पड़ती। तात्पर्य यह कि दोनो वर्ग के आलोचको के अपने-अपने पुष्ट मत हैं। हमारे

मत से केशवदास के आचार्यत्व के सम्बन्ध में इस प्रकार के तर्क का कोई महत्त्व नहीं हैं। केशवदास को हम शृङ्गार-काल का प्रवर्तक माने अथवा न मानें, उनके आचार्यत्व का महत्व सवमान्य है।

केशवदास के आचार्यत्व का मूलाधार है, उनका सस्कृत-काव्य शास्त्रो तथा काव्य-ग्रंथों का गभीर अध्ययन। उनके समय तक सस्कृत-साहित्य का पूर्ण विकास हो चुका था और उसके शास्त्रीय पक्ष मे अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय तथा रस-सम्प्रदाय की स्थापना हो चुकी थी। इन सभी सम्प्रदायो ने अनेक तर्कों के उपरान्त यह निश्चय कर लिया था कि काव्य मे सारभूत आन्तरिक तत्त्व 'रस' है और अलंकार, ध्वनि तथा रीति आदि अपनी शक्ति के अनुसार उसके सहायक मात्र हैं। इस प्रकार के निश्चय के बावजूद भी केशवदास ने अपने स्वभाव और रुचि के अनुकूल अलंकार-सम्प्रदाय का समर्थन किया, पर इसके साथ ही उन्होने रस-सम्प्रदाय की उपेक्षा नही की। उन्होने 'अलंकार' शब्द का प्रयोग अत्यन्त विस्तृत अर्थ मे किया और उसके तीन भेद स्वीकार किए: (१) वर्णालकार, (२) वर्ण्यालंकार और (३) विशेषालकार। वर्णालंकार के अन्तर्गत उन्होने काव्य के भिन्न-भिन्न रंगो तथा वर्ण्यालकार के अन्तर्गत वर्णनीय विषयों को स्थान दिया। विशेषालंकार के अन्तर्गत उन्होने उन समस्त अलकारो को स्थान दिया जो शास्त्र-सम्मत थे। इस दिशा मे उन्होने दण्डी और रुय्यक का अनुकरण किया तथा रस को अलकारो के अन्तर्गत स्वीकार किया। यहीं तक नहीं, उपमा के २२ और श्लेष के १३ भेद करके उन्होंने अपने आचार्यत्व का प्रमाण दिया।

काव्य-शास्त्र मे अलंकार और रस का ही नही, पिगल का भी विशेष महत्त्व हैं। केशवदास पिगल के भी आचार्य हैं। जितने प्रकार के छन्दो का उन्होंने प्रयोग किया है उतने प्रकार के छन्दों का प्रयोग हिन्दी का कोई कवि नहीं कर सका है। छन्द-शास्त्र पर उनका पूरा अधिकार है। एक छन्द के भीतर विविध प्रकार के अलंकारों का आयोजन उनके काव्य की विशेषता है। उनकी रचनाओ मे बाण, माघ, भवभूति, कालिदास तथा भास आदि संस्कृत-कवियो का अलंकार-विधान ज्यो-का-त्यों मिलता है।

उनकी 'रसिक-प्रिया' में अलकार, रस, नायिका-भेद, वृत्त, रीति, शब्द-शक्ति आदि सब को स्थान मिला है और उन सब से उनका आचार्यत्व सिद्ध होता है। हिन्दी-काव्य के क्षेत्र मे उनकी प्रतिभा अछूती और सर्वोपरि है। उनका अनुकरण करना सब के बस की बात नही है।

केशवदास की काव्य-साधना

केशवदास की काव्य-साधना के दो पक्ष हैं : एक तो वह जिसके अन्तर्गत उन्होने अपने आचार्यत्व का प्रमाण दिया है और दूसरा वह जिसके अन्तर्गत उन्होने अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। पहले पक्ष को दृष्टि से उनकी दो रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं : (१) 'रसिक-प्रिया' और (२) 'कवि-प्रिया'। 'रसिक-प्रिया' उनका लक्षण-ग्रन्थ है। 'कवि-प्रिया' की रचना उन्होने हिन्दी-कवियो का पथ-प्रदर्शन करने के विचार से की है। उनकी कवित्त्व-शक्ति का परिचय देनेवाले तीन ग्रन्थ हैं : (१) राम-चंद्रिका, (२) वीरसिह देव-चरित और (३) जहाँगीर-जस-चन्द्रिका। इनमे से 'राम चन्द्रिका' का विशेष महत्त्व है। यहाँ हम इसी के सम्बन्ध मे विचार करेंगे।

(१) **प्रबन्ध-निर्वाह**—यह केशवदास का अत्यन्त प्रसिद्ध वर्णन-प्रधान महाकाव्य है। अपने इस महाकाव्य मे उन्होने दाशरथि राम के जीवन का वर्णन किया हैं। इसकी रचना उन्होने 'वाल्मीकि-रामायण', 'प्रसन्न राघव', 'अनर्घ-राघव', 'कादम्बरी', 'नैषध', 'हनुमन्नाटक' आदि संस्कृत-काव्य-ग्रन्थों के आधार पर की है। तुलसी के राम परब्रह्म के अवतार हैं; पर केशव दास ने अनेक स्थानों पर उनका नारायणत्व और ब्रह्मत्व स्वीकार करते हुए भी उन्हे अधिकाश ऐतिहासिक महापुरुष के रूप में ही चित्रित किया है। यदि यही उनका लक्ष्य होता तो कुछ कहने की आवश्यकता न पड़ती। महापुरुष के रूप मे राम का जीवन कम महत्वपूर्ण नहीं है। परन्तु केशव दास ने अपने इस महाकाव्य को यह समझकर गौरव नहीं दिया है कि इसमे 'रघुपति नाम उदारा', है, अपितु यह निश्चय करके इसका महत्व स्थापित किया है कि 'रामचन्द्र को चन्द्रिका वर्णत हौ बहु छद'। उनकी इस गर्वोक्ति का स्पष्ट प्रमाण उनकी इस रचना से मिलता है। उन्होने अपनी 'रसिक-प्रिया' और 'कवि-प्रिया' द्वारा यदि अपने अलकार-सम्बन्धी

आचार्यत्व का परिचय दिया है तो 'राम चन्द्रिका'-द्वारा अपने पिंगल-सबंधी आचार्यत्व का। यही कारण है कि राम के जीवन की संपूर्ण झाँकी इसमे नहीं मिलती। राम की दिन-चर्य्या, राम के उठने-बैठने, राम के खाने-पीने, राम के भोजन करने, राम के सोने आदि का वर्णन इतना ऐश्वर्य पूर्ण है कि उसके सामने राम के लोक-रक्षक रूप का आभास तक नहीं होता। उनके राम वह राम नहीं हैं जो पतित पावन और लोक-नायक हैं, बल्कि वह राम है जो राजसी ठाट-बाट मे अपना जीवन व्यतीत करते हैं। राम के जीवन के प्रति अपने इस सकुचित दृष्टि के कारण वह न तो जीवन के मार्मिक स्थलो को पहचान सके हैं और न राम-कथा मे तारतम्य अथवा अनुपात का ही निर्वाह कर सके हैं। उन्होने राम-कथा मे यथा स्थान परिवर्तन भी किए हैं। परन्तु उनके परिवर्तनो का महत्व प्रबन्ध-निर्वाह की दृष्टि से न होकर केवल काव्य-कला की दृष्टि से है। वास्तव मे उनके कुछ परिवर्तन तो ऐसे हैं जिन्हे परिवर्तन भी नही कहा जा सकता और कुछ ऐसे हैं जो कथा को सक्षेप रूप देने मे तो सहायक हैं, पर कथा को विकास की ओर उन्मुख नही करते। राम-वन-गमन की सारी बातें उन्होने इतने संक्षेप मे कही है कि उनसे कथा-सौष्ठव ही बिगड़ गया है। इस प्रसंग मे मथरा की उपेक्षा तो अक्षम्य है। इससे सारा अपराध कैकेयी के मत्थे ही मढ़ दिया गया है। इसी प्रकार वन-गमन के समय राम-द्वारा माता कौशल्या को वैधव्य का उपदेश दिलाना सर्वथा अप्रासंगिक, अनुचित, अप्रत्याशित और भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है। राम और परशुराम के सवाद मे महादेवजी का अकस्मात् टपक पड़ना तथा इसी प्रकार चित्रकूट में भरत-मनावन के समय गगाजी का भरत को समझा-बुझा कर लौटा देना न तो कथा-प्रवाह में सहायक है और न काव्य-कला की अभिवृद्धि में। हाँ, इससे उनकी पंचायत-प्रियता का आभास अवश्य मिल जाता है। तात्पर्य यह कि प्रबन्ध-निर्वाह की दृष्टि से उनकी 'रामचन्द्रिका' अत्यन्त शिथिल रचना है। उन्होंने राम के जीवन की सभी घटनाओं को उनके महत्व के अनुसार क्रमवद्ध रूप मे न लेकर अपनी कला चातुरी दिखाने के लिए उन्हे ऐसे उखड़े-पुखड़े खण्डो मे विभाजित कर दिया है जो न तो राम

के महापुरुत्व को चरितार्थ करने मे समर्थ हैं और न राम के विष्णुत्व को। शास्त्रीय दृष्टि से उनके इस महाकाव्य मे महाकाव्य के सभी लक्षण मिल सकते हैं, पर प्रसग-निर्वाह के अभाव के कारण यह कई खण्ड काव्यों का सग्रह-मात्र अथवा पिंगल का लक्ष्य-ग्रन्थ प्रतीत होता है।

(२) **चरित्र-चित्रण**—केशवदास ने अपनी राम-कथा मे उन्ही पात्रों को प्राथमिकता दी है जो उनकी कला के उन्मेष मे सहायक हो सकते हैं। दरबारी कवि होने के नाते उन्हें राज-दरबार की राजनीति, कूटनीति, शासन-नीति, मर्यादा, ठाटबाट, कायदा-कानून, वाग्विलास, वाग्वैदग्ध्य आदि का जितना ज्ञान था उसे उन्होने अपने पात्रो को उनकी स्थिति, शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार बाँट दिया है। इसलिए उनके सभी पात्र उनके संकेत पर चलते हुए दिखाई देते हैं। लगता है, व अपनत्व खो बैठे हैं और कठ-पुतली से हो गए हैं। उनके व्यक्तित्व मे बाहर से इतनी अधिक बातों का समावेश कर दिया गया है कि वे स्वाभाविक रूप से अपने चरित्र का विकास नहीं कर पाते। दशरथ, राम, भरत, लक्ष्मण, कैकेयी, कौशल्या, सीता आदि सभी स्थिर पात्र हैं। कहने के लिए राम उनके महाकाव्य के नायक हैं, किन्तु उनके नायकत्त्व का पूरा परिचय नहीं मिलता। आरंभ मे उनकी धर्म-परायणता का आभास अवश्य मिलता है, पर उसका भी सफल निर्वाह नही हो सका है। लक्ष्मण जब बन जाने के लिए राम से कहते हैं तब भरत क चरित्र के प्रति राम का यह शका करना **'आप भरत्थ कहा धौ करै जिय भाय गुनौ'** कूटनीति के अतिरिक्त और कुछ नही है। इससे राम के चरित्र पर जो कलंक लग गया है वह धोया नहीं जा सकता। इन दोषों के होते हुए भी राम की वीरता, नीतिज्ञता, दयालुता, उदारता, सहानु-भूति आदि क्षत्रियोचित गुणो का यत्र-तत्र उल्लेख किया गया है। दशरथ का चरित्र विश्वामित्र के आगमन के समय तो कुछ निखार मे आता है, किन्तु आगे चलकर वह भी गौण हो गया है। मूर्छा छूटने पर लक्ष्मण का यह कथन **'लंकेश न जीवित जाय घरैं'** है तो क्षात्र-धर्म के अनुकूल, किन्तु उस शोकाकुल वातावरण के उपयुक्त नही है। रावण का चरित्रांकन अवश्य ओजमय है और इसमे केशवदास को अच्छी सफलता मिली है।

उसके ऐश्वर्य उसके, राजसी ठाट-बाट, उसकी कूटनीति और उसकी गर्वोक्तियो का उन्होंने जो वर्णन किया है वह अत्यन्त सजीव, आकर्षक और राज दरबार के सर्वथा उपयुक्त है।

(३) संवाद-योजना—प्रबध-निर्वाह और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यदि केशवदास अन्य कवियो को तुलना मे पीछे हटे हैं तो संवाद-योजना की दृष्टि मे वह सबसे आगे बढे हैं। उनकी सवाद-योजना मे 'दशरथ-विश्वामित्र-संवाद, राम-परशुराम-सवाद, रावण-बाणासुर-सवाद, राम-लक्ष्मण-सवाद, राम-सूर्पणखा-संवाद, सीता-हनुमान-सवाद, रावण-अगद-सवाद, राम-सीता-संवाद आदि का विशेष महत्त्व है। इन सवादो की कुछ अपनी विशेषताऍ हैं। पहली विशेषता तो यह है कि केशवदास ने पात्र-निर्देश को काव्य का अंग नहीं बनाया है। उन्होने संवाद के पात्रों को काव्य के बाहर स्थान दिया है। इससे उनके सवादो मे नाटकीय छटा उत्पन्न हो गयी है। दूसरी विशेषता यह है कि उन्होने अपने संवादों मे पात्रोचित शिष्टाचार एवं मर्यादा का पूरी तरह ध्यान रखा है। उनके सवादों मे जो पात्र जिस स्थिति का है वह उसी ढग से बात करता है। तीसरी विशेषता यह है कि उनके अधिकांश सवाद कथा-सूत्र को आगे बढ़ाने तथा पात्रो के चरित्र-विकास मे सहायक हैं। उनसे पात्रो की मनोवृत्ति का अध्ययन करने मे जो सहायता मिलती है वह वर्णन-प्रधान प्रसगो से नही प्राप्त होती। चौथी विशेषता यह है कि उनके सवादो के सभी पात्र वाग्विलास मे पटु, व्यंग करने मे कुशल और हाज़िर जवाबी मे दक्ष हैं। इसलिए एक प्रबन्ध-काव्य के भीतर जिस नाटकीय वातावरण की सृष्टि होनी चाहिए वह स्वाभाविक ढंग से हो जाती है। पॉचवीं विशेषता यह है कि वर्णन-प्रधान-प्रसंगो की अपेक्षा संवाद सरल बोधगम्य, प्रभावशाली और आकर्षक हैं। इसलिए उन्हे पढ़ते अथवा सुनते समय जी नही ऊबता, आगे कुछ जानने और सुनने की उत्सुकता बनी रहती है। यह विशेषता केशवदास के सवादो की जान है। एक छठी विशेषता और है और वह यह कि बात-चीत करते समय पात्र उतना ही कहते हैं जितने से वे एक दूसरे पर अपना प्रभाव जमा सकें। इसलिए सवाद प्राय: संक्षिप्त और सारगर्भित हैं। उदाहरण के लिए 'रावण-अगद-संवाद' ले

लीजिए। उसमे आप को राजदरबार का ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण मिलेगा, पात्रोचित शिष्टता मिलेगी, हास्य और व्यग की अद्भुत कला मिलेगी, नाटकी छटा दृष्टिगोचर होगी और वाग्विलास का अनुभव कर आप का हृदय पुलकित हो उठेगा। देखिए :—

'रावण—कौन हो ? पठये सो कौने ? ह्याँ तुम्हैं कह काम है ?
अंगद—जाति बानर, लकनायक-दूत, अगद नाम है।
रावण—कौन है वह बाँधि कै हम देह-पूँछ सबै दही ?
अगद—लक जारि, सहारि अक्ष गयो, सो बात वृथा कही ?
रावण—कौन के सुत ?
अंगद—बालि के।
रावण—वह कौन बलि ?
अंगद—न जानिये ?
काँख चापि तुम्हे जो सागर सात न्हात बखानिये।'

कितना नपा-तुला सवाद है यह! रावण की गर्वोक्ति, अंगद की निर्भीकता, बालि की वीरता, हनुमान के पराक्रम और राम के यश, सब का सिक्का एक साथ हृदय पर बैठ जाता है। हिन्दी-काव्य मे ऐसे चोखे संवादो की सृष्टि करनेवाले बहुत कम कवि मिलते हैं।

(४) **वाह्य दृश्य-वर्णन**—केशवदास के वाह्य दृश्य-वर्णन भी उनके सवादो की भाँति अत्यन्त आकर्षक और प्रभावोत्पादक हैं। उनके वर्णन चार प्रकार के हैं : (१) रूप-वर्णन, (२) स्थान-वर्णन, (३) घटना-वर्णन और (४) प्रकृति-वर्णन। रूप-वर्णन के प्रसंग में उन्होंने राम, सीता, भरद्वाज, मन्दोदरी आदि के सुन्दर चित्र उतारे हैं। भरद्वाज के रूप का एक चित्र-लीजिए :—

'भ्रुकुटी बिराजति स्वेत मानहु मत्र अद्भुत साम के।
जिनके बिलोकत ही बिलात अशेष कार्मुक काम के॥
मुख-बास-श्रास प्रकाश केशव और भीरन साजहीं।
जनु साम के शुभ स्वच्छ अच्चर ह्वै सपच्छ बिराजहीं॥'

सीता की वियोगिनी मूर्ति का एक चित्र लीजिए :—

'धरे एक बेणी मिली मैल सारी।
मृणाली मनो पंक तें काढि डारी॥
सदा रामनामै ररै दीन बानी।
चहूँ ओर हैं राकसी दु:ख दानी॥'

रूप-वर्णन के अन्तर्गत ही 'शिखनख-वर्णन' का स्थान है। 'शिख-नख-वर्णन' मे केशवदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। अपने इस प्रसंग में उन्होंने राम तथा सीता की दासियो का शिखनख वर्णन किया है। राम की भ्रकुटी की छबि देखिए :—

'जदपि भ्रकुटि रघुनाथ की कुटिल देखियत ज्योति।
तदपि सुरासुर नरन की निरखि शुद्ध गति होत॥'

स्थान-वर्णन के प्रसंग मे केशवदास ने नगर, हाट, आश्रम आदि का वर्णन किया है। उनके ऐसे वर्णन अत्यन्त स्थूल हैं। उनमे सरसता का अभाव है। लगता है, वह दूर बैठे जो कुछ देखते है उमे लिखते जाते हैं। अवधपुरी का एक चित्र लीजिए :—

'उँचे अबास। बहु ध्वज प्रकास।
सोभा विलास। सोभै प्रकास॥'

या फिर विश्वामित्र के आश्रम का यह पाण्डित्यपूर्ण वर्णन समझने की चेष्टा कीजिए :—

'साधु कथा कथिये दिन केशवदास जहाँ।
निग्रह केवल है मन को दिनमान तहाँ॥
पावन बास सदा ऋषि को सुख को बरषै।
को बरणै कवि ताहि विलोकत जी हरषै॥'

अवसरों, परिस्थितियो तथा घटनाओ के वर्णन मे भी केशवदास ने इसी पद्धति से काम लिया है। राम का तिलकोत्सव हो रहा है। उस समय का वर्णन देखिए :—

'जामवन्त, हनुमन्त, नल-नील मरातिब साथ।
छरी छबीली शोभिजै, दिग पालन के हाथ॥'

इसी प्रकार युद्ध आदि के वर्णन में भी छोटी-मोटी बाते ही कही गई हैं,

उत्साह आदि का चित्रण नही है। प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत केशवदास ने वन, वाटिका, सूर्य, चन्द्र, नदी, पर्वत, प्रातःकाल आदि सब को स्थान दिया है, पर उनका चित्रण भी अत्यन्त साधारण है। उन्हें पढ़ते समय पाठक के हृदय पर कोई स्थाई प्रभाव नहीं पड़ता, उनके पाण्डित्य पर आश्चर्य अवश्य होता है। उनमे देश-विरुद्ध दोष भी हैं। विश्वामित्र के तपोवन के वर्णन मे इला, लवङ्ग और पुङ्गीफल का उल्लेख करना यह सिद्ध करता है कि केशवदास को पेड़ों के नाम गिनाने की जितनी चिन्ता थी उतनी उन्हें उनके सम्बन्ध मे भौगोलिक ज्ञान प्राप्त करने की नही। उनका प्रकृति-वर्णन अधिकाश उक्ति-चमत्कार पर आश्रित है। इसलिए उसमें कवि-कर्म का निर्वाह-मात्र है। अप्रस्तुतो की कौतूहलपूर्ण योजना करने मे उन्होने प्रकृति को बहुत पीछे छोड़ दिया है। इसी कारण उनके सरयू और गोदावरी के वर्णन मे कोई अन्तर नही जान पड़ता। समुद्र का वर्णन करते-करते वह ब्रह्म-ज्ञान की ओर चले जाते हैं और सूर्योदय का चित्रांकन करते समय शृङ्गार और वीभत्स का एक साथ वर्णन करने लगते हैं। देखिए :—

'अरुण गात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ-भय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय॥
परिपूरण सिंदूर पूर' कैधौ मगल-घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यो माणिक मयूख पट॥
कै श्रोणित कलित कपाल यह, किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौ लसत दिग-भामिनी के भाल को॥

अब चन्द्र-वर्णन की भी एक बानगी लीजिए :—

'फूलन की शुभ गेद नई है।
सूंघि शची जनु डारि दई है॥
दर्पण सो शशि श्रीरति को है।
आसन काम महीपति को है॥'

प्रकृति-चित्रण मे परिगणन-शैली की अपेक्षा अलकरण-शैली मे केशवदास को अच्छी सफलता मिली है। सन्देह, उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, काव्यलिंग आदि अलङ्कारों को सहायता से उन्होने प्रकृति के जो चित्र

उतारे हैं वे अधिक सुन्दर, प्रभावशाली और काव्योचित हैं। षट् ऋतुओं के वर्णन मे उन्होंने वर्षा, शरद और बसत को ही स्थान दिया है। इन ऋतुओं के वर्णन में भी उन्होंने अलङ्करण-शैली को अपनाया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने प्रकृति का भावनारोपित रूप भी चित्रित किया है। वर्षा वर्णन से अलंकरण शैली का एक उदाहरण लीजिए :—

'मंद-मंद धुनि सों घन गाजै। तूर तार जनु आवझ बाजैं॥
ठौर-ठौर चपला चमकैं यों। इन्द्रलोक-तिय नाचति हैं ज्यों॥'

केशवदास के बाह्य दृश्य वर्णन अधिकांश सस्कृत काव्य-शैली मे प्रभावित हैं। उनमे उक्ति-चमत्कार का इतना अधिक समावेश है कि उनसे वर्ण्य-वस्तु के वास्तविक रूप की झलक नही मिलती। कहीं-कही तो शब्दिक चमत्कार के फेर मे पड़ने के कारण प्रकृति के सहज सौन्दर्य का गला घोट दिया गया है।

(५) **भाव-पक्ष**—केशवदास की 'रामचन्द्रिका' मे इतने अधिक विषयो के स्थूल और अलकृत वर्णन हैं कि उनके कारण वह एक वर्णन-प्रधान प्रबन्ध-काव्य हो गया है। उसमे बुद्धि-तत्त्व और कल्पना-तत्त्व को जितना अधिक स्थान मिला है उतना भाव-तत्त्व को नही मिल सका है। केशवदास स्वभावतः विचार-प्रधान कवि है, गोस्वामीजी की भाँति भावुक नहीं। भावुक कवि मानव के राग-विराग, दुःख सुख से परिचित रहता है और उन सब के प्रति उसकी पूरी सहानुभूति रहती है। केशवदास मे यह प्रवृत्ति है अवश्य, पर वह उनके पाण्डित्य के बोझ से इतनी दबी हुई है कि अवसर आने पर भी वह उभर नहीं पाती। काव्य का सौदर्य जीवन की विषम परिस्थितियों के चित्रण तथा परस्पर प्रतीपी भावो के अन्तर्द्वन्द्व मे निखरता है। केशवदास ने जीवन की विषम परिस्थितियो को सुलझाने मे मस्तिष्क से जितना काम लिया है उतना हृदय से नहीं। 'रामचन्द्रिका' के सरस न होने का यही कारण है। वह एक ऐसा मरुस्थल है जिसमे बहुत दौड़-धूप के बाद कहीं एकाध हरे-भरे स्थान मिल जाते हैं। वन-यात्रा मे राम और सीता एक दूसरे की थकान कैसे मिटाते हैं, यह जानना हो तो नीचे की पक्तियाँ पढ़िए :—

'मग को स्रम श्रीपति दूर करैं,
सिय को शुभ बाकल-अंचल सों।
श्रम तेउ हरै तिनको कहि केशव,
चंचल चारु दृगंचल सों॥'

मार्ग की धूल तप रही है, पर सीताजी को वह क्यो शीतल लग रही, यह भी जान लीजिए :—

'मारग की रज तापित है अति। केशव सीतहि सीतल लागति।
प्यौ-पद-पंकज ऊपर पायनि। दै जु चले तेहि ते सुख दायनि॥'

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम की वात्सल्य-सम्बन्ध करुणा का अनुभव करना हो तो इन पक्तियो को देखिए :—

'बारक लक्ष्मण मोहिं विलोको। मो कहुँ प्राण चले तजि, रोको॥
हौं सुमिरौ गुण केतिक तेरे। सोदर पुत्र सहायक मेरे॥
लोचन, बान तुही धनु मेरो। तू बल विक्रम, बारक हेरो॥
तू बिन हौ पल प्रान न राखौं। सत्य कहौ कछु झूँठ न भाखौं॥
मोहिं रही इतनी मन शंका। देन न पाई विभीषण लंका॥
बोलि उठौ, प्रभु को पन पारो। न तरु होत है मो मुख कारो॥'

राम की करुणा और उनके शील का यह अनुपम चित्र है। **देन न पाई विभीषण लंका'** द्वारा उन्होने शील का तथा **'नातरु होत है मो मुख कारो'** द्वारा उन्हाने अपनी मार्मिक वेदना का जैसा सुन्दर परिचय दिया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। लव के मूच्छित होकर रण-भूमि मे गिर जाने का सामाचार जब सीताजी को मिलता है तब उनकी छटपटाहट का अंदाजा इन पक्तियों से लगाइए :—

'रिपु-हाथ श्रीरघुनाथ को सुत क्यौ परै करतार।
पति देवता सब काल तौ लव जी उठै यहि बार॥
ऋषि है नही, कुश है नही; लव लेइ कौन छुँडाय।
बन माँझ टेर सुनी जहाँ कुश आइयो अकुलाय॥'

पत्नी को अपन पतिव्रत्य का कितना बल रहता है—इसकी व्यंजना द्वारा कवि ने जिस कौशल से सीता के हृदय का वेदना का जो चित्र उतारा

है उसमें आर्य-भावना और वात्सल्य-भावना दोनो की झलक एक साथ मिल जाती है। इसमे सन्देह नही कि 'रामचन्द्रिका' मे ऐसे भाव-चित्रण कम हैं, पर जहाँ भी वे हैं, स्वाभाविक और मार्मिक हैं।

(६) **भक्ति-भावना**—केशवदास राम के सगुण रूप के उपासक थे। परन्तु उनकी भक्ति-भावना उस कोटि की नही थी जिस कोटि की तुलसी अथवा सूर की थी। तुलसी और सूर के लिए उनके इष्ट देव पहले परब्रह्म थे, इसके बाद महापुरुष। केशवदास ने भी इसी भाव से श्रीराम की वन्दना की और यह कहा :—

'जागति जाकी ज्योति जग एक रूप स्वच्छन्द।
रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हौं बहु छन्द॥'

परन्तु वह इस भाव का सफल निर्वाह न कर सके। राजदबारी वातावरण से प्रभावित होने के कारण उन्होने अपने इष्ट देव राम को अधिकाश अवध-नरेश के रूप मे ही देखा और उनके उसी रूप मे उन्होने अपनी भक्ति भावना के अनुकूल विष्णुत्व की प्रतिष्ठा की। उनकी भक्ति का लक्ष्य था, मुक्ति प्राप्त करना। कविता-द्वारा राम-भक्ति का प्रचार करना उनका लक्ष्य नही था। वह विरक्त नहीं, ग्रहस्थ थे। कविता उनकी भक्ति का साधन नहीं थी, उनकी जीविका का साधन थी। इसी प्रकार उनके लिए राम-भक्ति साध्य न थी, साध्य था कवित्व। वह राम के जीवन का गुण-गान कर हिंदी-काव्य के क्षेत्र मे अपने कवित्व, अपने आचार्यत्व और अपने पाण्डित्य की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। अपने इस उद्देश्य के कारण वह राम का ब्रह्मत्व और विष्णुत्व मुक्त-कंठ से स्वीकार करने पर भी एक सच्चे भक्त के रूप में हमारे सामने न आ सके। 'रामचन्द्रिका' में उनके राम के दो रूप हैं : (१) राज-रूप और (२) अवतारी रूप। पूर्वार्द्ध में दोना रूप एक दूसरे से पृथक्-पृथक हैं, इसलिए पाठक के हृदय पर दानो का अलग-अलग प्रभाव पडता हैं। उत्तरार्द्ध मे दोनों का समन्वय कर जो वातावरण उत्पन्न किया गया है वह जितना राज-धर्म के अनुकूल है उतना लोक-धर्म के अनुकूल नही है।

केशवदास की रस-योजना

केशवदास रसवादी कवि नही थे। इसलिए उन्होने अपने काव्य

में रस-परिपाक की चिन्ता नहीं की। यदि शब्दों में कुछ तोड़-मरोड़ अथवा हेर-फेर करने से उनकी कल्पना को बल मिल जाता है और उनके काव्य में चमत्कार आ जाता है तो इतने से ही उन्हें संतोष हो जाता है। काव्य में रस-सामग्री—स्थायी भाव, आलंबन, उद्दीपन, संचारी, अनुभाव—आदि का आयोजन उनके लिए गौण है। अपने इसी दृष्टिकोण को उन्होंने अपने काव्य में प्राथमिकता दी है। यों कहने के लिए 'रामचन्द्रिका' में सभी रस हैं, पर वीर और शृंगार के अतिरिक्त अन्य किसी रस का सुन्दर परिपाक नहीं हुआ है। 'रसिक-प्रिया' में तो उन्होंने शृंगार का ही वर्णन सफलता पूर्वक किया है। 'रामचन्द्रिका' मे राम उनके नायक हैं, इसलिए उनका शृंगार मर्यादित है। उन्होंने संयोग और वियोग के अत्यन्त सफल चित्र उतारे हैं। शृंगार की दृष्टि से केशवदास के शिखनख-वर्णन अपूर्व हैं। महावर की शोभा देखिए :—

'कठिन-भूमि अति कोंवरे, जावक-युत शुभ पाय।
जनु पहिरी, तन-त्राण को, माणिक तरी बनाय॥'

जानकीजी का शृंगार इन पक्तियों में देखिए :—

'सुन्दर मन्दिर में मन मोहति।
वर्ण-सिंहासन ऊपर सोहति।
पंकज के करहाटक मानहु।
है कमला विमला यह जानहु॥'

राम-जानकी का संयोग-वर्णन लीजिए :—

'किधौं रति-कीरति-बेलि-निकुँज।
वसै गुण पच्छिन को जहँ पुंज॥
किधौं सरसीरूह ऊपर-हंस।
किधौं उदयाचल ऊपर हंस॥'

विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण के जाते समय राजा दशरथ की वात्सल्य-संबंधी करुणा का चित्र लीजिए :—

'राम चलत नृप के युग लोचन।
वारि भरित भये वारिद रोचन॥

पायन परि ऋषि के सजि मौनहिं, ।
केशव उठि गये भीतर भौनहि ॥'

करुणा का यह चित्र भी कितना मार्मिक है !

'विलोकि लक्ष्मणै भई विदेहजा विदेह-सी ।
गिरी अचेत ह्वै मनो घने बनै तड़ीत-सी ।
करी जु छाँह एक हाथ एक बात बास-सों ।
सिच्यो शरीर वीर नैन नीर ही प्रकाश सों ॥'

रावण की इस गर्वोक्ति मे वीर रस का कितना सुन्दर निर्वाह हुआ है :—

'भौंर ज्यों भवत भूत बासुकी गणेशयुत,
मानो मकरन्द बुन्द माल गंगा-जल की।
उड़त पराग पट, नाल-सी विशाल बाहु,
कहा कहौं केशवदास शोभा पल-पल की।
आयुध सघन, सर्व मंगला समेत शर्ब,
पर्वत उठाय गति कीन्हीं है कमल की।
जानत सकल लोक, लोकपाल, दिगपाल,
जानत न बाण बात मेरे बाहुबाल की ॥'

केशवदास ने हास्य, वात्सल्य, शान्त, अद्भुत, रौद्र, वीभत्स आदि के भी सुन्दर चित्र उतारे है, परन्तु इनके परिपाक में उन्हे अधिक सफलता नहीं मिली है।

केशवदास की अलंकार-योजना

रस परिपाक की अपेक्षा केशवदास का अलंकार-विधान अधिक समृद्ध है। विविध प्रकार के अलंकारों की छटा दिखाने के कारण ही उनके रस-परिपाक में बाधा पड़ी है। अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, परिसंख्या, विरोधाभास, श्लेष, उदाहरण, सन्देह, व्याजस्तुति आदि को उन्होंने विशेष रूप से स्थान दिया है। यमक और अनुप्रास से उन्हे अधिक प्रेम नहीं था। इसलिए इनके उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। श्लेष और परिसंख्या का जैसा सुन्दर प्रयोग उन्होंने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

ही रचना मे अनेक अलंकारों की एक साथ योजना उनके काव्य की परम विशेषता है। राजा दशरथ की प्रशंसा में उनका निम्न छंद लीजिए :—

'विधि के समान हैं विमानीकृत राजहंस,
बिबिध बिबुध-युत मेरु-सो अचल है।
दीपति दिपति अति सातों दीप दीपियतु,
दूसरो दिलीप सो सुदच्छिणा को बल है॥
सागर उजागर को, बहु बाहिनी को पति,
छनदान-प्रिय कैधौं सूरज अमल है।
सब विधि समरथ राजै राजा दशरथ,
भागीरथ-पथगामी गंगा कैसो जल है॥'

उक्त घनाक्षरी छन्द में उल्लेख अलंकार मुख्य है और उपमा, रूपक, सन्देह तथा श्लेष उसके अगभूत हैं। एक नहीं, ऐसे अनेक उदाहरण उनकी 'रामचन्द्रिका' से दिए जा सकते हैं जिनमें किसी में दो, किसी में तीन और किसी-किसी में चार-चार तथा पाँच-पाँच अलंकारों का विधान एक साथ बड़े कौशल से किया गया है। विष (जल) और अमृत शब्दों के प्रयोग से निम्न पक्तियों में 'विरोधाभास' अलकार की कितनी सुन्दर छटा दिखाई गई है, कहते नहीं बनता :—

'विषमय यह गोदावरी अमृतन को फल देत।'

परिसंख्य अलंकार के प्रयोग में केशवदास ने अपने पाण्डित्य का जैसा परिचय दिया है वैसा हिन्दी का कोई कवि नहीं दे सका है। उदाहरण लीजिए :—

'अति चंचल जहँ चल दलै, विधवा बनी, न नारि।
मन मोह्यो ऋषिराज को अद्भुत नगर निहारि॥'

यह दोहा-अयोध्या नगर की महिमा वर्णन करते समय कहा गया है। अयोध्या नगर में पीपल के पत्तों के अतिरिक्त और कोई चंचल प्रकृति का नहीं है। वहाँ की कोई स्त्री भी विधवा नहीं है और यदि कोई है भी तो वह है वहाँ की वाटिका जो धवा नामक वृक्ष से हीन (वि-धवा) है। परिसंख्या के

इतने सुन्दर प्रयोगों से 'रमचन्द्रिका' भरी पड़ी है। इसी प्रकार उत्प्रेक्षा प्रयोग में भी वह अपना सानी नहीं रखते। धनुर्भंग हो जाने पर सीत ने राम के गले मे जो माला पहनाई है उस पर उनकी उत्प्रेक्षा देखिए :

'सीताजू रघुनाथ को अमल कमल की माल।
पहिराई जनु सबन की हृदयावलि भूपाल॥'

हृदय का आकार कमलवत् होता है। इस दृष्टि से यह उत्प्रे कितनी उपयुक्त और उचित है, यह कवि ही समझ सकता है। अब श से पुष्ट उपमा का एक उदाहरण लीजिए। यह ग्रामवासिनी स्त्रियों की सी के प्रति उक्ति है :—

'वासों मृग अंक कहैं तो सों मृगनैनी सब,
वह सुधाधर, तुहूँ सुधाधर मानिये।
वह द्विजराज, तेरे द्विजराजि राजै,
वह कलानिधि, तुहूँ कला कलित बखानिये॥
रत्नाकर के दोऊ 'केशव' प्रकाशकर,
अंबर विलास कुवलय हितु मानिये।
वाके अति सीतकर, तुहूँ सीता सीतकर,
चन्द्रमा-सी चन्द्रमुखी सब जग जानिये॥'

पाण्डित्य-प्रदर्शन के फेर में पड़कर केशवदास ने अपने अलंक विधान में कहीं-कहीं भद्दी भूलें भी की हैं। भगवान राम के सम्बन्ध उनका यह कहना :—

'बासर की सम्पदा उलूक ज्यों न चितवत।'

उनके पाण्डित्य का परिचायक भले ही हो, पर भक्ति-भावना की दृ से अत्यन्त अशोभनीय है। इसी प्रकार सूर्योदय के शुभ और मंगलमय वर्ण में उनकी यह कल्पना :—

'कै शोणित कलित कपाल यह,
किल कापालिक काल को।'

अत्यन्त अनुचित और मर्यादा-विरुद्ध है। यही नहीं, काल-दोष से भी व मुक्त नहीं रह सके हैं :—

'पांडव की प्रतिमा-सम लेखो।
अर्जुन भीम महामति देखो॥'

कहाँ त्रेतायुग के राम और कहाँ द्वापर के भीम और अर्जुन! अलकारों की छटा दिखाते समय केशवदास को यह न सूझ पड़ा कि वह राम के मुख से क्या कहला रहे हैं। ऐसी अक्षम्य भूलों के बावजूद भी अलंकार-विधान पर उनका असाधारण अधिकार है और हम उनके आचार्यत्व एव पाण्डित्य का लोहा मानते हैं।

केशवदास की छन्द-योजना

केशवदास की छन्द-योजना उनकी अलंकार-योजना के समान ही समृद्ध है। हिन्दी और संस्कृत का कोई ऐसा छोटा-बड़ा छन्द नहीं है जिसका प्रयोग उन्होने अपनी 'रामचन्द्रिका' में अधिकारपूर्वक न किया हो। वर्णिक, मात्रिक, मुक्तक, सब तरह के छन्द उनकी रचनाओ मे मिलते हैं। 'रामचन्द्रिका' के प्रथम प्रकाश मे छन्द संख्या ८ से छन्द-सख्या १६ तक उन्होंने एकाक्षरी छन्द से अष्टाक्षरी छन्द तक के उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं मानो वह किसी शिष्य को पिंगल पढ़ा रहे हों। आगे चलकर उन्होंने जिन छन्दो का प्रयोग किया है उनमे से कुछ तो ऐसे हैं जो हिन्दी-काव्य-ग्रन्थो मे मिलते हैं और कुछ ऐसे भी है जो 'रामचन्द्रिका' के अतिरिक्त अन्य किसी काव्य-ग्रन्थ मे नहीं मिलते। मिलनेवाले छंदो में दोहा, सोरठा, कुडलिया, छप्पय, दंडक, रोला, चौपाई, चौपई, गीतिका, सवैया, भुजंग-प्रयात, हरिप्रिया, कवित्त आदि और न मिलनेवाले छन्दो में हरिलीला, दोधक, तोमर, स्वागत, चंचला, पंकजबाटिका, पद्धटिका, विशेषक, पल्ली, नराच, चित्रपदा, रूपमाला, तारक, कमल, तोटक आदि का प्रमुख स्थान है। केशवदास ने मात्रिक छन्दो की अपेक्षा वर्णिक छन्दो का अधिक प्रयोग किया है। संस्कृत-छन्दो के प्रयोग की दृष्टि से हिन्दी के वह पहले कवि हैं। उन्होने अपनी प्रतिभा से कई नए छन्दो का भी विधान किया है। ऐसे छन्दों मे सुगीत, सिंहबिलोकित, मदनमल्लिका आदि मुख्य हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनके महाकाव्य मे छन्दों की अभूतपूर्व विविधता है। इससे उनके पाण्डित्य और आचार्यत्व का प्रमाण अवश्य मिलता है, परन्तु

साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि उन्होंने अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन की झोंक में कथा-प्रवाह को जो धक्का लगाया है वह किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं है। अलंकारों-द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने के साथ-साथ उन्होंने अपने काव्य में शीघ्र छन्द-परिवर्तन कर तथा एक ही छन्द में कई पात्रों को एक साथ स्थान देकर अपनी कलात्मकता का जो परिचय दिया है वह उनके आचार्यत्व की दाद भले ही दे, उनकी कवित्व-शक्ति पर बट्टा लगता है।

केशवदास : कठिन काव्य का प्रेत

निस्सन्देह केशवदास हिन्दी के आचार्य-कवि हैं। उनके व्यक्तित्व में आचार्यत्व और कवित्व का अद्भुत मेल है। हिन्दी-कवियों में उनका वही स्थान है जो अंग्रेजी-कवियों में 'मिल्टन' का है। ऊँची कल्पना, ऊँची कवित्व-शक्ति, पाण्डित्य-प्रदर्शन की ऊँची लालसा तथा ऊँचे दर्जे की कला-मर्मज्ञता जैसी मिल्टन में है वैसी ही उनमें भी है। मिल्टन ने साधारण पाठकों के लिए कविता नहीं की। केशवदास का भी यही उद्देश्य था। काव्य के कला-पक्ष की ओर उनका जितना ध्यान था उतना उसके भाव-पक्ष की ओर नहीं था। अपने इस दृष्टिकोण के कारण वह हिन्दी-पाठकों के लिए सुपाठ्य नहीं हो सके। फलतः हिन्दी-आलोचकों ने जहाँ उनके छंद-विधान, उनके सफल संवाद, उनके अपूर्व आलङ्कारिक चमत्कार, उनके ओज गुण, उनके कल्पना-सौष्ठव आदि की मुक्तकंठ से प्रशंसा की वहाँ उनके काव्य में भावों की सरसता का अनुभव न कर किसी ने उन्हें हृदय-हीन कहा और किसी ने उसमें विचारों एवं कल्पनाओं की दुरुहता का अनुभव कर यह कहा—'**कवि को देन न चहै बिदाई। पूछे केशव की कविताई॥**' इतना ही नहीं किसी ने उनकी 'रामचन्द्रिका' में छन्दों का विधान देखकर उसे 'छन्दों का अजायब घर' समझा और किसी ने उनके छन्दों का भावार्थ न समझ सकने पर उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' तक कह डाला। हिन्दी-आलोचकों के ये मत यदि सर्वांश में नहीं तो अल्पांश मे अवश्य सत्य हैं। केशवदास अत्यन्त दुरुह हैं, यह सर्वमान्य है। उन्होंने अपनी रचनाओं मे कल्पना की ऐसी ऊँची-ऊँची उड़ाने भरी हैं कि उन तक बिरले ही पहुँच सकते हैं। लाला भगवानदीन के शब्दों में वह वस्तुतः 'कल्पना-पुंज' हैं।

एक छन्द में अनेक प्रकार की परस्पर विरोधी कल्पनाएँ और उन कल्पनाओं के आधार पर अनेक भावार्थ। समझते-समझते सर चक्कर खाने लगता है। बाण, माघ, भवभूति, कालिदास तथा भास तक के सुन्दर प्रयोगों, अद्भुत विचारों, गम्भीर एवं क्लिष्ट अलङ्कारों और संस्कृत के कठिनतम समस्त पदों को उन्होने अपने छन्दो में इस प्रकार ठूँसा है कि अर्थ करते-करते मस्तिष्क का दिवाला निकल जाता है। प्रसाद और माधुर्य का तो उन्होंने गला ही मरोड़ दिया है। किसी दृश्य अथवा वस्तु का वर्णन करते समय पाठक उनकी दृष्टि से ओझल हो जाता है और वह अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के प्रवाह में इतने बह जाते हैं कि क्या कहना चाहिए और क्या न कहना चाहिए, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं रहती। ऊँची कल्पना, पौराणिक ज्ञान, धर्मशास्त्र, आलङ्कारिक चमत्कार, छन्द-शास्त्र, राजनीति समाजनीति, राजदरबार के कायदे-कानून इन सब का परिचय वह एक साथ हमें देते हैं। यही कारण है कि उनकी कविता सर्वसाधारण के पढ़ने और समझने की वस्तु नहीं रह गई है। पांडित्य कवियो मे होता ही है, परन्तु केशवदास में यह विलक्षणता है कि एक तो उनका पाण्डित्य ऊँचा है, दूसरे उनमे उससे अधिक ऊँची पांडित्य-प्रदर्शन की रुचि है। इसी रुचि ने उनको 'कठिन काव्य का प्रेत' बना दिया है।

केशवदास की शैली

केशवदास की शैली वर्णनात्मक है। उसमे ओज अधिक प्रमुख और माधुर्य बहुत कम है। वस्तु-वर्णन मे अनावश्यक विस्तार के कारण वह व्यास-प्रधान भी हो गई है। उसमे संस्कृत-काव्य-शैली का अनुकरण अधिक है। वाक्य-योजना चुस्त है, पर उसमे भावों की गहनता और गंभीरता नही है। छन्दो का शीघ्र परिवर्तन भी भाव-निर्वाह मे बाधक हुआ है। इसी प्रकार अलंकारो के अनावश्यक बोझ से उनकी शैली इतनी अधिक अलंकृत हो गई है कि उसकी स्वाभाविकता ही नष्ट हो गई है। इसके अतिरिक्त उनकी शैली में काल-विरुद्ध, देश-विरुद्ध, न्यून पद, यति-भंग, पतितप्रकर्ष, नेयार्थ, च्युत-संस्कृत आदि काव्य दोष भी मिलते हैं। संभव है, काव्य-शिक्षा की दृष्टि से केशवदास ने जान-बूझकर इन दोषों को अपनी रचनाओ मे स्थान दिया हो, परन्तु फिर भी ये दोष ऐसे हैं जिनसे

उनकी काव्य-शैली का रूप विकृत हुआ है और इस दृष्टि से यह उनव अनुचित प्रयास है। संक्षेप में उनकी शैली परुष, ओजपूर्ण, क्लिष्ट, प्रयत्न साध्य और कृत्रिम है। उसमे भावों की तन्मयता नहीं, कलात्मक उत्क अवश्य है और वह उनके व्यक्तित्व से इतनी अधिक प्रभावित है कि ह उसके द्वारा उन्हें हज़ारो कवियों के बीच शीघ्र पहचान सकते हैं।

केशवदास की भाषा

केशवदास की भाषा ब्रजभाषा है, परन्तु वह न तो सूर की ब्रज भाषा के समान स्वाभाविक है और न बिहारी की ब्रजभाषा के समान माधुर्यपरक। उसमें प्रसाद गुण का भी अभाव है। वह ओजमयी साहित्यिव ब्रजभाषा है जिस पर एक ओर तो बुन्देलखडी का प्रभाव है और दूसरं ओर संस्कृत की शब्दावली का। इसलिए उसमे ब्रजभाषा के शब्दों वे साथ-साथ बुन्देलखंडी के शब्द तथा संस्कृत के तत्सम शब्द अधिक मिलते हैं। केशवदास ने कुछ अप्रचलित शब्दों को भी अपनाया है। विदेशी शब्द भी उन्होंने अपनाए हैं, पर बहुत कम। संस्कृत के कठिन शब्द ही नहीं; वरन् कठिन समस्त पद भी उन्होंने अपनी भाषा में ज्यों-के-त्यों रख दिए हैं। निजेच्छा, स्वलीलया, लीलयैव, हरिणाधिष्ठित आदि ऐसे पद हैं जिन्हें संस्कृत के पंडित ही समझ सकते हैं। कुछ शब्दो का प्रयोग उन्होंने विशिष्ट अर्थ में भी किया है। उदाहरण के लिए 'सुख' शब्द लीजिए। इसका प्रयोग उन्होंने प्रायः 'सहज' के अर्थ में किया है। 'स्यों', 'गौरवमदाइन' तथा इसी प्रकार के ठेठ बुन्देलखडी शब्दों के प्रयोग भी उनकी रचनाओं में अधिक मिलते हैं। उन्होंने बुन्देलखंडी के मुहावरे भी अपनाए हैं। 'जू' शब्द का व्यर्थ प्रयोग भी जहाँ-तहाँ देखा जाता है। भाषा व्याकरणपरक है, पर उसमें कुछ दोष ऐसे हैं जो बहुत खटकते हैं। उन्होंने 'देवता' शब्द का प्रयोग हर जगह स्त्री लिग में किया है। 'पीछे मघवा मोहि शाप दई' में 'शाप' पुल्लिङ्ग है, पर क्रिया स्त्री लिंग में। ऐसा प्रायः तुकान्त के निर्वाह की दृष्टि से किया गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर यदि देखा जाय तो मालूम होगा कि केशवदास ने अपनी भाषा को जितना अधिक बिगाड़ा है उतना अधिक बनाया नहीं है। उसमें प्रयत्न अधिक, स्वाभाविकता कम है। इसलिए वह

क्लिष्ट भी है। उस पर बुन्देलखण्डी का इतना अधिक प्रभाव है कि उसकी क्रियाओं और संज्ञा-सर्वनामों के रूप शीघ्र समझ मे नहीं आते। इससे भाषा का प्रवाह मंद पड़ गया है और उसमे कृत्रिमता आ गई है।

शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं: (१) अभिधा, (२) लक्षणा और (३) व्यजना। शब्द की इन्हीं तीन शक्तियों से काव्य-सौदर्य की माप होती है। शब्द की अभिधा-शक्ति द्वारा हम शब्द के केवल साक्षात् अर्थ तक पहुँच सकते हैं, लक्षणा से काव्य मे चमत्कारपूर्ण-सौदर्य आता है और व्यंजना-द्वारा रस की सिद्धि होती है। केशवदास ने अभिधा से अधिक और लक्षणा से कम काम लिया है। व्यञ्जना का तो बहुत ही अभाव है। यही कारण है कि उनकी भाषा मे भावो की गभीरता नहीं आने पाई है। उनकी भाषा मे लक्षणामूलक व्यंजना तो है ही नहीं, अभिधामूलक व्यञ्जना उनके संवादो की भाषा मे अवश्य मिलती है। इससे उनके संवाद प्रखर और प्रभावोत्पादक हो गए हैं।

प्रयोग की दृष्टि से केशवदास की भाषा के दो रूप मिलते हैं। 'नायिका-भेद' तथा 'नख-शिख' के वर्णन में उनकी भाषा सरल, प्रसाद गुण-सम्पन्न, सुव्यवस्थित, स्वाभाविक और प्रवाहमय है, परन्तु जहाँ उन्होंने ब्रह्मज्ञान की बातें करना आरम्भ कर दिया है अथवा परिसंख्या, विरोधाभास श्लेष और उपमा आदि द्वारा आलकारिक चमत्कार उत्पन्न करने के फेर मे पड़ गए हैं वहाँ उनकी भाषा का सहज सौदर्य नष्ट हो गया है और वह क्लिष्ट भी हो गई है।

केशव और तुलसी : तुलनात्मक अध्ययन

अब केशव और तुलसी की काव्य-साधना और भक्ति-भावना पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार कीजिए! पहले दोनों की जीवन-परिस्थितियो को लीजिए। केशवदास एक ऐसे ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न हुए थे जो अपनी पंडिताई के लिए प्रसिद्ध था और जिसका राजदबार मे विशेष सम्मान था। इसलिए उनकी आर्थिक स्थिति आरंभ से ही अच्छी थी और वह अन्त तक बनी रही। तुलसीदास भी एक ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न हुए थे, परन्तु उनके पुरखे न तो अपनी पंडिताई के लिए प्रसिद्ध थे और न किसी राज-

दरबार-द्वारा पोषित। आर्थिक दृष्टि से भी वह **'मातु-पिता जग जाहि तज्यो विधिहु न लिखी कछु भाल भलाई'** वाले लोगों में से थे। जीवन की ऐसे संकटापन्न परिस्थितियों में पड़ने के कारण तुलसीदास में जहाँ दैन्य, त्याग स्वावलंबन, करुणा, भक्ति आदि सात्विक गुणों का विकास हुआ वह एक सुसपन्न घराने में उत्पन्न होने के कारण केशवदास में स्वाभिमान, शान शौकत, परालंबन, पाण्डित्य-प्रदर्शन आदि राजसिक गुणों का विकास हुआ इस प्रकार दोनो की जीवन-परिस्थितियाँ एक-दूसरे से भिन्न थी; दोनों की रुचि एक-दूसरे से भिन्न थी, दोनो के जीवन की उठान की दिशाएँ एक दूसरे से भिन्न थीं। पाण्डित्य के क्षेत्र मे दोनों एक-दूसरे से भिन्न थे। केशव दास के पांडित्य का आधार था, उनका संस्कृत के शास्त्रीय एवं साहित्यिक ग्रन्थो का अध्ययन और तुलसीदास के पांडित्य का आधार था, उनका संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन। तुलसी ने भारतीय धर्म-साधना के महासागर मे गोता लाकर जो अमूल्य जीवन-रत्न निकाले उनके आधार पर उन्होंने लोक-धर्म की स्थापना की और केशवदास ने भारतीय साहित्य-साधना के महासागर मे डूबकर जो बहु मूल्य अलंकार निकाले उनसे उन्होंने हिन्दी-कविता-कामिनी का जीभर शृंगार किया। तुलसी में यदि केवल पाण्डित्य था तो केशवदास मे पाण्डित्य के साथ-साथ पाण्डित्य प्रदर्शन की अदम्य लालसा भी थी। यही दोनो के व्यक्तित्व मे अन्तर था और इसी अन्तर के कारण दोनो दो रूपो में हमारे सामने आये। केशव दास आए एक दरबारी-कवि के रूप मे और तुलसीदास आए एक परम भक्त के रूप मे। तुलसीदास ने भक्ति-कवि के रूप में मानव-हृदय पर जो विजय प्राप्त की वह दरबारी कवि के रूप में केशवदास को प्राप्त न हो सकी।

केशवदास पहले कवि थे, फिर भक्त; तुलसीदास पहले भक्त थे, फिर कवि। केशवदास के लिए कविता साध्य थी, तुलसीदास के लिए कविता साधन! तुलसीदास ने कविता को अपनी जीविका का साधन नहीं, अपनी भक्ति के विकास का साधन बनाया था। वह उसके द्वारा राम के शील का सन्देश भारत के कोने-कोने तक पहुँचाना चाहते थे। इसलिए उन्होने अपने राम को दाशरथि राम के रूप में ही नही देखा, उन्हे परब्रह्म

और विष्णु के रूप में स्वीकार कर दास-भाव से उनकी भक्ति की और इस प्रकार उनके लोक-पालक रूप को जन-जीवन के बीच प्रतिष्ठित किया। केशवदास ने कविता को अपनी भक्ति का साधन नहीं बनाया। उन्होंने उसे साधन बनाया अपनी जीविका का। राम के वह भी भक्त थे, परन्तु उनके राम लोक-पालक राम नहीं थे। उनके राम थे 'राजाराम' जिनके सामने देश की राजनीतिक समस्याएँ थीं; व्यक्ति, परवार और समाज की समस्याएँ नहीं थीं। इसके अतिरिक्त भारतीय धर्म-साधना और लोक-धर्म में राम के राज-रूप की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही केशवदास ने उनके व्यक्तित्व मे ब्रह्मत्व और विष्णुत्व की स्थापना की थी। तुलसीदास का यह दृष्टिकोण नहीं था। उनके राम परब्रह्म और विष्णु से अभिन्न नहीं थे। वह भक्तो के लिए सगुण और ज्ञानियों के लिए निर्गुण थे। तुलसीदास ने अपनी रचनाओं मे उनके इन्हीं दोनो रूपों की प्रतिष्ठा की। कहने का तात्पर्य यह कि यदि एक ने राम के 'राज-रूप' को महत्त्व देकर उनके राजसी 'ठाट-बाट' के वर्णन मे अपनी काव्य-कला का उपयोग किया तो दूसरे ने राम के लोक-पालक रूप को महत्त्व देकर उनके शील के चित्रण में अपनी काव्य-कला का उपयोग किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि राम के प्रति दोनों के पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण थे। यही कारण है कि हम उनके राम-काव्य मे प्रबन्ध-निर्वाह, सवाद, चरित्र-चित्रण, वस्तु-वर्णन आदि की दृष्टि से विशेष अन्तर पाते हैं।

प्रबन्ध-निर्वाह की दृष्टि से केशवदास की 'रामचन्द्रिका' अत्यन्त शिथिल रचना है। उसमे वस्तु-वर्णन इतने प्रकार का और इतना अधिक है कि सपूर्ण महाकाव्य में मुक्तक की-सी स्फुटता आ गई है। इसके अतिरिक्त अलंकरण और पाण्डित्य-प्रदर्शन की ओर भी उसमे अनावश्यक रुचि है। तुलसीदास का 'रामचरित मानस' इन सभी दोषो से मुक्त है। वह एक चरित्र-प्रधान प्रबन्ध-काव्य है जिसमे मानव-जीवन से संबध रखनेवाली प्राय: सभी प्रकार की प्रवृत्तियो को स्थान मिला है और उनका उचित सीमा के भीतर विकास हुआ है। इस दृष्टि से वह एक भाव-प्रधान महाकाव्य भी है। 'रामचन्द्रिका' न तो चरित्र-प्रधान है और न भाव-प्रधान।

वह एक वर्णन-प्रधान-प्रबन्ध-काव्य है जिसमे वाग्विलास को ही विशेष महत्त्व दिया गया है। वाग्विलास अत्यन्त उच्चकोटि का है, इसमे सन्देह नहीं, परन्तु उसके कारण प्रबन्ध-निर्वाह और रस-परिपाक की जो क्षति हुई है उसने सब पर पानी फेर दिया है। 'रामचरित मानस' मे वाग्विलास नहीं है, उसमे भावो की विशद व्याख्या है। इसलिए उसमे रस-परिपाक अत्यन्त स्वाभाविक ढग से हुआ है। तुलसी रसवादी हैं; केशव अलंकार-वादी। केशव ने अपने काव्य में कला-पक्ष का समर्थन किया है; तुलसी ने भाव-पक्ष का। केशव का कला-पक्ष उनका अपना नहीं है, उनके आचार्यों का है। विशेषता यह है कि उन्होने उसे पचाकर उस पर अपने व्यक्तित्व की मुद्रा अंकित कर दी है। तुलसी का भाव-पक्ष जिस प्रकार उनका अपना है, उसी प्रकार उनका कला-पक्ष भी उनके व्यक्तित्व से प्रभावित है। यही कारण है कि जहाँ केशव की काव्य-कला हमे कृत्रिम और प्रयत्न-साध्य दीख पड़ती है वहाँ तुलसी की काव्य-कला अपनी स्वाभाविकता चरितार्थ करने मे सफल है। थोड़े शब्दो में केशव मस्तिष्क के कवि हैं तो तुलसी हृदय के। हृदय और मस्तिष्क मे जो अन्तर है वही अन्तर तुलसी और केशव की रचनाओ मे दृष्टिगोचर होता है।

भाषा की दृष्टि से देखिए तो ज्ञात होगा कि केशव ने राम-कथा के वर्णन मे एक ऐसी भाषा को स्थान दिया है जिसका राम के जीवन से कोई संबंध नहीं है। राम अवध-वासी थे। इसलिए उनके गुण-गान मे अवधी का प्रयोग होना चाहिए था। केशव ने उसके स्थान पर बुन्देलखण्डी से प्रभावित ब्रजभाषा का प्रयोग किया। तुलसी ने यह भूल नही की। उन्होने अपने प्रबन्ध-काव्य में अवधी को ही स्थान दिया। ब्रजभाषा पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। इसलिए ब्रज-प्रदेश मे राम के लोक-पालक रूप का प्रचार करने के लिए उन्होंने 'गीतावली' और 'कवितावली' की ब्रजभाषा मे ही रचना की। भाषा के प्रयोग में वह बहुत सतर्क थे। उन्हे एक ओर लोक-रुचि का ध्यान था तो दूसरी ओर पात्रो की स्थिति एव साहित्यिक मर्यादा का। इसलिए उनकी भाषा मे किसी प्रकार का भी दोष नहीं आ पाया। केशवदास ने अपनी भाषा के निर्माण में इतनी सतर्कता से काम

नहीं लिया। शाब्दिक चमत्कार के फेर में पड़कर उन्होने न तो लोक-रुचि पर ध्यान दिया, न पात्रो की स्थिति एव योग्यता पर और न साहित्यिक मर्यादा पर। इसलिए उनकी भाषा भी उनके काव्य की भाँति अपनी स्वाभाविकता खो बैठी। सवादो मे उनकी भाषा का रूप अवश्य निखरा, परन्तु वह भी अपने व्यग और ओज के कारण हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क को ही प्रभावित करने मे विशेष सफल हुई।

इस प्रकार हम देखते है कि केशव और तुलसी न तो भक्ति-भावना के क्षेत्र मे एक हैं और न काव्य-साधना के क्षेत्र मे। जीवन और काव्य के प्रति दोनो के अपने-अपने दृष्टिकोण हैं और उन्ही के अनुसार दोनों ने हिन्दी-काव्य का शृङ्गार किया है। तुलसी का 'रामचरित मानस' यदि अपनी भक्ति-भावना के कारण हमारा धार्मिक ग्रंथ है तो केशव की 'राम चन्द्रिका' अपनी कलात्मक विशेषताओ के कारण हमारा काव्य-ग्रथ है। हिन्दी-जगत मे राम-काव्य के अन्तर्गत 'रामचरित मानस' के बाद 'राम चन्द्रिका' का ही स्थान है।

---

६. सेनापति दीक्षित

जन्म-सं० १६४६ : मृत्यु-सं० १७२६

जीवन-परिचय

कविवर सेनापति का जीवन-वृत्त अबतक अंधकार के गर्भ में है वह कब और कहाँ उत्पन्न हुए—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता उनकी इस रचना से :—

'दीच्छित परसराम, दादौ है बिदित नाम;
जिन कीने यज्ञ, जाकी जग में बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर की समान जाकौं,
गंगा-तीर बसति अनूप जिन पाई है॥
महा जानि मन, विद्यादान हू कौं चिन्तामनि,
हीरामनि दीच्छित तैं पाई पंडिताई है।
'सेनापति' सोई, सीता-पति के प्रसाद जाकी–
सब कबि कान दै सुनत कबिताई है।'

इतना पता चलता है कि उनका उपनाम 'सेनापति' था, उन्होंने दीक्षित-कुल में जन्म लिया था और उनके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित था जिनके पुत्र गंगाधर उनके पिता थे। उन्होंने हीरामणि दीक्षित से काव्य-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी। **'गंगा-तीर बसति अनूप जिन पाई हैं'**—से यह भी भासित होता है कि उनके पिता गगा के किनारे किसी गाँव में रहते थे अथवा वह गाँव उन्हे किसी ने दिया था। 'अनूप' शब्द के संकेत से किसी-किसी ने उन्हे बुलन्दशहर के अन्तर्गत अनूपशहर-निवासी बताया हैं, परन्तु इस मत की पुष्टि मे अभी तक कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिला है।

सेनापति का जन्म कब हुआ—इसका भी संकेत उनकी किसी रचना से नहीं मिलता। आचार्य शुक्लजी ने अनुमान से उनका जन्म सं०

१६४६ के आस-पास माना है। इस से 'कवित्तरत्नाकर' के रचना-काल (सं० १७०६) तक उनकी अवस्था ६० वर्ष की होती है। 'कवित्त-रत्नाकर' उनकी अंतिम रचना बताई जाती हैं। इसलिए शुक्लजी का अनुमान किसी सीमा तक ठीक मालूम होता है। जो भी हो, जबतक हमें उनकी जन्म-तिथि के बारे मे कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता तब तक हम शुक्लजी के मत को ही महत्त्व देते हैं।

सेनापति की रचनाओं से उनके जीवन के संबंध मे कुछ और भी बातें मालूम होती है। वह राम के भक्त थे, पर इसके साथ ही शंकर, कृष्ण और गगा के प्रति भी उनकी आस्था थी। 'शिवसिह सरोज', में लिखा हैं कि 'इन महाराज ने वृन्दावन में क्षेत्र-संन्यास लेकर सारी वयस वहीं व्यतीत की'। उनकी इस रचना से इस मत की पुष्टि भी होती है :—

'सेनापति चाहत हैं सकल जनम भरि,
वृन्दावन-सीमा तैं न बहिर निकसिबौ।
राधा-मन-रंजन की, सोभा नैन-कंजन की,
माल गरे गुँजन की, कुँजन कौं बसिबौ॥'

इस से स्पष्ट है कि वह त्यागी और संसार से विरक्त थे। आरंभ में उनका जीवन कैसे बीता, यह हम नहीं जानते, परन्तु उनकी इस रचना से :—

'चारि बरदानि तजि पाइ कमलेच्छन के,
पाइक मलेच्छन के काहे कौं कहाइयै॥'

यह जान पड़ता है कि उनका संबंध किसी मुसलमानी दरबार से था। स्वाभिमानी तो वह थे ही। संभव है, किसी बात से रुष्ट होकर उनकी वैराग्य-भावना तीव्र हो उठी हो और उन्होंने सन्यास ले लिया हो। जो भी हो, यदि 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार उनकी सारी वयस 'वृन्दावन में बीतने की बात सही है, तो यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी मृत्यु भी वहीं हुई होगी। कब हुई, यह नहीं कहा जा सकता। खानापुरी के लिए उनकी आयु ८० वर्ष की मानकर हम उनका निधन-काल सं० १७२६ के पास-आस ठहराते हैं।

सेनापति की रचनाए

सेनापति-कृत दो ग्रंथ बताए जाते हैं : (१) **काव्य-कल्पद्रुम** और (२) **कवित्त रत्नाकर** (सं० १७०६)। 'काव्य-कल्पद्रुम' की कोई प्रति अबतक न मिली। इसलिए उसके संबंध मे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कहा जाता है कि उन्हें अपनी कविता सुरक्षित रखने की विशेष इच्छा थी चोरी हो जाने के भय से वह अधिकाश कवित्तों में ही अपने भावों को व्यक्त करते थे, क्योकि सवैया आदि छन्दो मे उनका उपनाम सुगमता से नहीं आ सकता था। अपनी रचनाओं के प्रति उनकी यह सतर्कता सिद्ध करती है कि 'काव्य-कल्पद्रुम' उनके जीवन-काल मे ही चोरी चला गया था इस से वह संशकित रहते थे। 'कवित्त-'रत्नाकर' को किसी राजा को समर्पित करते समय उनके इस कथन से :—

> **'लीजियौ बचाइ ज्यों चुरावै नाहिं कोई सौपी**
> **वित्त की-सी थाती मैं कवित्तन की राज कौं।'**

उक्त अनुमान की पुष्टि होती है। जो भी हो, उनकी एक ही रचना उपलब्ध है और वह है **कवित्त-रत्नाकर**। इसमे उनकी स्फुट रचनाएँ संगृहीत हैं जो पाँच तरङ्गो मे विभाजित हैं। **पहली तरङ्ग** में समस्त कवित्त **शिलष्ट**, **दूसरी तरङ्ग** में शृगार-सम्बन्धी कवित्त, **तीसरी तरङ्ग** मे ऋतु-वर्णन-सम्बन्धी कवित्त, **चौथी तरङ्ग** में राम-कथा सम्बन्धी कवित्त और **पाँचवी तरङ्ग** में भक्ति-सम्बन्धी कवित्त हैं। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट के रूप मे कुछ चित्र-काव्य-सम्बन्धी रचनाएँ भी संगृहीत हैं।

सेनापति की काव्य-साधना

'कवित्त-रत्नाकर' मे संगृहीत सामग्री के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सेनापति अपने समय के उच्चकोटि के कवि और कलाकार थे। **'सब कवि कान दै सुनत कविताई है'**—से यह भी ध्वनित होता है उनके समय के कवियों के बीच उनकी रचनाओं का विशेष आदर था। 'कवित्त-रत्नाकर' के रचना-काल सं० १७०६ के अनुसार उनका समय जहाँगीर (सं० १६६२-८४) और शाहजहाँ के शासन-काल (सं० १६८४-१७१५) के अन्तर्गत आता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे यह समय शृङ्गार-काल का आरम्भ

माना जाता है। इस दृष्टि से सेनापति भक्ति और शृङ्गार के संधि-काल के कवि ठहरते हैं। उनका जीवन-काल अनिश्चित है, फिर भी अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शृंगार-काल के प्रवर्तक चिन्तामणि त्रिपाठी (जं० सं० १६६६) के काव्य-क्षेत्र मे प्रवेश करने तक वह रचनाएँ करने लगे होगे। अपने यौवन-काल मे उन्होने सूरदास (सं० १५३५-१६४०), गोस्वामी तुलसीदास (स० १५८६-१६८०), केशवदास (सं० १६१२-७४) और रसखान (सं० १६१५-८५) की रचनाएँ भी पढ़ी होंगी और उनसे प्रभावित हुए होगे। जो भी हो, इसमे सन्देह नही कि वह बिहारी (सं० १६५२ १७२१), महाराज जसवंतसिंह (स० १६८२-१७३८), मतिराम (जं० सं० १६७४) आदि के समकालीन थे और इन कवियो के बीच उनका विशिष्ट स्थान था।

सेनापति ने 'काव्य-कल्पद्रुम' मे क्या लिखा, यह हम नहीं कह सकते, परन्तु 'कवित्त-रत्नाकर' में उन्होने हमे जो कुछ दिया है उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह एक ओर तो अलकार-सम्प्रदाय से प्रभावित थे और दूसरी ओर वैष्णव-भक्ति-संप्रदाय से। वह न तो ध्वनि-संप्रदाय के अनुयायी थे और न रस-संप्रदाय के। अलङ्कारवादी होने के कारण ही रसोत्कर्ष की ओर उनका ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। लगता है, इस दिशा में उन्होने केशवदास को आदर्श मानकर रचनाएँ की हैं!

सेनापति के काव्य की अपनी एक दिशा है जिसके वह स्वयं निर्माता हैं। स्वाभिमानी प्रकृति के कवि होने के कारण उन्होंने अन्य कवियो के भावो को अपनी रचनाओ मे अधिक प्रश्रय नही दिया है। इसलिए उनकी रचनाओ पर युग की परम्पराओ का प्रभाव तो है, किसी कवि का नहीं। भावापहरण का प्रयत्न उनकी रचनाओं मे कही भी नही है। उन्होने किसी कवि के भावो को अपने ढङ्ग से सजाने की भी चेष्टा नही की है। इसलिए वह अपनी रचनाओ मे सर्वत्र मौलिक है। उनकी प्रतिभा अछूती है। उनके विचार, उनकी कल्पना, उनके भाव, उनकी कला—सब कुछ उनका अपना है। उन्होने अपने ढङ्ग से अपने काव्य मे अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। इस दृष्टि से हिन्दी का कोई कवि उनकी जोड़ का नजर नही आता।

विषय की दृष्टि से सेनापति के काव्य के दो पक्ष है : (१) भावात्मक

और (२) वर्णनात्मक। भावात्मक पक्ष के अन्तर्गत उन्होने अपनी रचना में बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और भाव-तत्त्व—तीनो का सुन्दर समन्वय कि है। उदाहरण के लिए उनकी यह रचना लीजिए :—

'मोती हैं दसन, मनि-मूंगा हैं अधर बर,
नैन इन्द्रनील, नख लाल विलसत हैं।
मरकत ढंपन सौं कंचन कलस कुच,
चरन पदमराग सोभा सरसत है॥
प्यारी कोठरी है धन-जोबन-जवाहिर की,
तहाँ 'सेनापति' चित जाइ कै धसत हैं॥
तासौं लगे तारे फेरि तारी न लगत क्यौं हूँ,
जाइ बिधे मन तेब कैसे निकसत है॥'

(१) भाव-पक्ष—सेनापति के काव्य के आन्तरिक पक्ष की दो धारा हैं: (१) रागात्मक और (२) विरागात्मक। रागात्मक धारा के अन्तर्ग उन्होंने मुख्यतः अपनी शृङ्गार-भावनाओ को व्यक्त किया है। इस दृष्टि 'कवित्त-रत्नाकर' की दूसरी तरङ्ग की रचनाएँ विशेष महत्त्व की हैं। इस संयोग और वियोग, शृङ्गार के उभय पक्षो का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुअ है। विरागात्मक धारा के अन्तर्गत उनका काव्य भक्ति-प्रधान-काव्य है अपने भक्ति-प्रधान-काव्य मे उन्होने वैष्णव-भक्त-कवियो की भांति तीथ सेवन, गंगा-स्नान आदि विषयो पर आस्था रखते हुए राम, कृष्ण, शि आदि की स्तुति की है। वह मुख्यत: राम-भक्त थे, परन्तु अन्य देवी-देवताअ के प्रति भी उनकी उदार दृष्टि थी। नृसिंह की स्तुति मे उनकी यह रचन लीजिए :—

'अरि करि आँकुस बिदार्यो हरिनाकुस है,
दास कौ सदा कुसल, देत जे हरष है।
कुलिस करेरे, तोरा तमक तरेरे, दुख—
दरत दरेरे कै, हरत कमलष हैं॥
'सेनापति' नर होत ताहीं तै निडर, डर—
तातै. तू न कर, बर करुना-बरष हैं।

अति अनियोर, चंद-कला-से उजारे, तेइ—
मेरे रखवारे नरसिंह जू के नख हैं।'

सेनापति ने शंकर को बन्दना मे भी यत्र-तत्र सुन्दर रचनाएँ की हैं। उदाहरण के लिए उनका यह कवित्त लीजिए :—

'सोहति उतंग, उत्तमंग, ससि संग गंग,
गौरि-अरधग, जो अनंग-प्रतिकूल है।
देवन कौ मूल, 'सेनापति' अनुकूल, कटि
चाम सारदूल कौं, सदा कर त्रिसूल है॥
कहा भटकत, अटकत क्यों न तासौं मन!
जातैं आठ सिद्धि, नवनिद्धि रिद्ध तू लहै।
लेत ही चढ़ाइबे कौ जाके एक बेलपात,
चढ़त अगाऊ हाथ चारि फल फूल है।'

अब उनके शब्दो में गंगा की स्तुति भी सुन लीजिए :—

'काल तैं कराल, कालकूट कंठ मांझ लसै,
ब्याल उर-माल, आगि भाल सब ही समैं।
ब्याधि के अरंग ऐसे ब्यापि रह्यौ आधौ अंग,
रह्यौ आधौ अंग सो सिवा की बकसीस मैं॥
ऐसे उपचार तैं न लागती बिलात बार,
पैयती न बाकी तिल एकौ कहूँ ईस मैं।
'सेनापति' जियजानी, सुधा तैं सहस बानी,
जौ पै गंगा रानी कौ न पानी होतौ सीस मैं॥'

हिन्दी के अनेक कवियो ने अपनी रुचि और प्रतिभा के अनुसार गंगा का महात्म्य वर्णन किया है, परन्तु उनकी तुलना मे सेनापति की उक्त कल्पना अत्यन्त अनूठी और बेजोड़ है। शिव का आधा शरीर पार्वती के अधिकार मे और शेष आधा व्याधियो का भाडार है। ऐसी स्थिति मे गगा-जल ने ही उनकी रक्षा की है। गगा के महात्म्य की दृष्टि से सेनापति की निम्न कल्पना भी अत्यन्त सरस और काव्यमय है :—

'राम-पद-संगिनी, तरंगिनी है गंगा, तातैं,
याहि पकरे तें पाइ राम के पकरियै ।।'

सेनापति ने गगा का वर्णन उसकी प्राकृतिक शोभा की दृष्टि कर उसके प्रति अपनी भक्ति-भावना की दृष्टि से किया है। इसलिए उ गंगा-वर्णन अन्य कवियो के गगा-वर्णन से सर्वथा भिन्न है। 'रामरसा मे उन्होने गंगा-वर्णन-सम्बन्धी पन्द्रह-सोलह छन्द दिए हैं जो भक्ति-भा और भाषा-शैली की दृष्टि से अत्यन्त उच्चकोटि के है।

सेनापति की भक्ति-भावना मे दैन्य को भी स्थान मिला है जि आत्मग्लानि और पश्चाताप की भावना ध्वनित होती है। उदाहरण लिए उनकी ये पंक्तियाँ लीजिए :—

'गिरत गहत बाँह, घाम मै करत छाँह,
पालत बिपत्ति माँह, कृपा-रस भीनौ है।
तन कौ बसन देत, मूख मै असन, प्यासे—
पानी हेतु सन, बिन माँगे आनि दीनौ है॥
चौकी तुही देत अतिहेतु कै गरुड़-केतु।
हौ तौ सुख-सोवत, न सेवा परिबीनौ है।
आलस की निधि, बुद्धि बाल, सु जगतपति।
'सेनापति' सेवक कहा धौं जानि कीनौ है ।।'

× × ×

'आप तन देखिये, न देखौ करतूत मेरी,
अधम उधारिन की तेरे सिर पाग रे।
मोसो अपराधी है न तो सो है सरनहार,
मोसो अवगुनी है न तोसो गुन-आगरे ।।'

सेनापति ने अनपनी भक्ति-भावना मे गर्वोक्ति को भी स्थान दि है, परन्तु इस सम्बन्ध मे उन्होने एक ही छन्द कहा है। अपने इस छन्द उन्होंने अपने इष्टदेव की गुण-प्रशंसा के साथ आत्म-समर्पण किया है अ फिर तर्क-द्वारा अपनी गर्वोक्ति का समर्थन किया है :—

'तुम करतार, जग-रच्छा के करनहार,
पुजवनहार मनोरथ चित-चाहे के।
यह जिय जानि 'सेनापति' है सरन आयौ,
हूजियै सरन महा पाप-ताप दाहे के॥
जौ कौहू कहौ कि तेरे करम न तैसे, हम—
गाहक है सुकृति भगति रस लाहे के।
आपने करम करि हौ ही निबहौंगौ, तौब—
हौ ही करतार, करतार तुम काहे के॥'

सेनापति की उक्त गर्वोक्ति कितनी सुन्दर, सरस और सटीक है, कहते नहीं बनता। अन्य भक्त-कवियो ने भी गर्वोक्तियाँ की हैं, परन्तु सेनापति की गर्वोक्ति में जो तर्क का खरापन है वह उनमे नही पाया जाता। उन्होंने भाग्यवाद, जीवन की नश्वरता तथा संसार की अनित्यता के संबध में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं जिनसे उनकी गहन अनुभूति का परिचय मिलता है। उदाहरण के लिए उनकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं:—

'केतौ करो कोई, पैयै करम लिखयौई. तातै—
दूसरी न होई, उर सोई ठहराइयै।'

× × ×

'कीनौ बालापन बालकेलि मैं मगन मन,
लीनौ तरुनापै तरुनी के रास तीर कौं।
अब तू जरा मै पर्यो मोह पींजरा मै, 'सेना—
पति' भजु रामै जो हरैया दुख-पीर कौ॥'

सेनापति ने राम-नाम का महात्म्य भी वर्णन किया है। उनकी भक्ति-भावना में तीर्थ, व्रत आदि का उतना महत्त्व नही हैं जितना राम-नाम का। राम-नाम ही धर्म का धाम है, इसलिए वह इस पर विशेष बल देते हैं:—

'सिवजी की निद्धि हनूमान की सिद्धि, विभी—
षन की समृद्धि बाल्मीकि नै बखान्यौ है।

बिधि कौं अधार, चार्‌यौ वेदन कौ सार, जप—
जग्य कौ सिंगार, सनकादि उर आन्यौ है ॥
सुधा के समान, भोग-मुकति-निधान, महा—
मंगल निदान 'सेनापति' पहिचान्यौ है।
कामना कौ कामधेनु, रसना कौ बिसराम,
धरम कौ धाम, राम-नाम जिय जान्यौ है ॥'

सेनापति की भक्ति-भावना में यत्र-तत्र उनके दार्शनिक विचार भी व्यक्त हुए हैं। उन्होने भगवान के निर्गुण अथवा सगुण स्वरूपो का खुलकर कही भी समर्थन नही किया है और न इस सबंध मे कोई विवाद ही उठाया है। उनका यह कहना है :—

'दै कै जिन जीव, ज्ञान, प्रान, तन, मन, मति,
जगत दिखायौ, जाकी रचना अपार है।
दगन सौ देखै, बिस्वरूप है अनूप जाकौ,
बुद्धि सौ बिचारै निराकार निरधार है ॥
जाकौ अध-ऊरध, गगन, दस दिसि, उर
ब्यापि रह्यौ तेज, तीन लोक कौं अधार है।
पूरन पुरुष, हृषीकेस गुन-धाम राम,
'सेनापति' ताहि बिनवत बार-बार है ॥'

अपनी इस रचना में सेनापति ने अपने इष्ट देव 'राम' को निर्गुण और सगुण दोनों रूपों मे स्मरण किया है। जीवन और जगत की उत्पत्ति के संबंध में उनके विचार क्या थे यह 'कवित्त-रत्नाकर' में सगृहीत रचनाओं से स्पष्ट नहीं होता।

(२) राम-कथा-वर्णन—'कवित्त-रत्नाकर' की चौथी तरंग में सेनापति ने अपने इष्टदेव 'राम' का पावन चरित्र भी वर्णन किया है। अपने इस प्रकार के वर्णन के कारण वह तुलसी की परंपरा में आते हैं, परन्तु तुलसी की रचना का कोई प्रभाव उन पर नहीं है। उन्होंने अपने राम-काव्य में संपूर्ण राम-कथा को न लेकर सीता-स्वयंवर से सीता की अग्नि-परीक्षा तक की मुख्य-मुख्य घटनाओं, जैसे—सीता-स्वयंवर, परशुराम-मिलन, मारीच

बध, हनुमान का लंका जाना, सेतु बांधने का आयोजन, हनुमान तथा राक्षसो का युद्ध और सीता की अग्नि-परीक्षा का आयोजन बाल्मीकि-रामायण के अनुसार किया है । बाल्मीकि-रामायण में परशुराम का आगमन सीता-स्वयंवर के अवसर पर न होकर राजा दशरथ के अध्योया लौटते समय होता है । सेनापति ने इसी घटना-क्रम को अपनी राम-कथा में स्थान दिया है । इसके अतिरिक्त सेनापति का राम-काव्य तुलसी के राम-काव्य से इस बात में भी भिन्न है कि जहॉ तुलसी ने भगवान राम के चरित्र-चित्रण में शक्ति, शील और सौंदर्य, तीनों का समन्वय किया है वहाँ सेनापति ने भगवान राम के लोक-रंजन रूप और उनके पराक्रम पर ही विशेष बल दिया हैं । भगवान राम के सौंदर्य का चित्रण उन्होंने किया है अवश्य, पर वह है केवल प्रसगवश । उस ओर उनकी काव्य-प्रतिभा का अधिक प्रसार नहीं हुआ है । जहॉ तक राम के नारायणत्व का प्रश्न है, उन्होने तुलसी के समान ही राम के व्यक्तित्व में निर्गुण और सगुण की प्रतिष्ठा की है । राम के पूर्णावतार के संबंध मे उनकी यह रचना लीजिए । इसमें उनका पूर्णावतार सकारण सिद्ध किया गया है :—

'बीर महाबली, धीर, धरम-धुरंधर है,
धरा मैं धरैया एक सारंग-धनुष कौ ।
दानौ-दल-मलन, मथन कलि-मलन कौ,
दलन है देव-द्विज-दीनन के दुख कौं ॥
जग-अभिराम, लोक-वेद जाकौं नाम महा—
राज-मनि राम, धर्म 'सेनापति' सुख कौं ।
तेज-पुंज-रूरौ, चंद-सूरौ न समान जाके,
पूरौ अवतार भयो पूरन पुरुष कौं ॥'

भगवान राम के विविध अंगों तथा उनकी वेष-भूषा का वर्णन अनेक कवियों ने किया है, परन्तु उनकी खडाऊँ का महात्म्य वर्णन करना सेनापति की अपनी सूझ है :—

'सुर-तरु सार की, सवाँरी है विरचि पचि,
कंचन-खचित चिंतामन के जराइ की ।

रानी कमला कौं पिय-आगम कहनहारी,
सुरसरि-सखी, सुख-दैनी, प्रभु-पाइ की ॥
वेद मै बखानी, तीनि लोकन की ठकुरानी,
सब जग जानी 'सेनापति' के सहाइ की !
देव-दुख-दंडन, भरत-सिर-मंडन, वे
बन्दौं अघ-खंडन खराऊँ रघुराइ की ॥'

हिन्दी के शृङ्गार-काल के कवियो ने राधा-कृष्ण के रूप-सौदर्य अत्यन्त अमर्यादित स्थूल चित्रण किया है। सेनापति उसके उपवाद विपय की दृष्टि से सेनापति का राम-काव्य इतना सीमित है कि उसमें वर्णन के लिए स्थान ही नही है। और यदि कही है भी तो उसका उप उन्होंने प्रसङ्गानुसार अग विशेष के महात्म्य-वर्णन मे किया है। उदाह के लिए सीता-स्वयम्बर के प्रसङ्ग मे राम की शक्तिशाली भुजाओ का म त्म्य-वर्णन लीजिए :—

'कीजै को समान, चापवान-सौं बिराजमान,
विक्रम-निधान, उपधान सिय-बाम के।
परम कृपाल, दिगपालन के रछिपाल,
थंम है विसाल जे पताल देव-धाम के ॥
दीरघ, उदार, भुव-भार के हरनहार,
पुजवनहार 'सेनापति' मन-काम के।
साजत समर बर, गाजत जगत पर,
राजत प्रबल भुज दोऊ राजाराम के ॥'

निस्सन्देह यह राम की शक्तिशाली भुजाओं का महात्म्य वर्णन फिर भी इसमें उनके बारे मे परोक्ष रूप से सभी बाते स्पष्ट कर दी गई हैं 'सिय रानी की निकाई की' महिमा का वर्णन करने में भी सेनापति ने इ शैली से काम लिया है, परन्तु अपने इस कवित्त मे उन्होंने स्पष्ट रूप सीता के रूप-सौदर्य का वर्णन किया है :—

'जनक-नरिंद-नंदिनी कौं बदनारबिंद,
सुन्दर बखान्यो 'सेनापति' बेद चारि कै।

बरनी न जाई जाकी नैंक हू निकाई, लौन—
राई करि पंकज निसक डारे वारि कै ॥
बार-बार जाकी बराबरि कौ विधाता अब,
रचि पचि बिधु कौ बनावत सुधारि कै।
पून्यौ कौ बनाइ जब जानत न वैसौ भयौ,
कुहू के कपट तब डारत बिगारि कै ॥'

सीताजी के रूप-वर्णन की यह कल्पना सेनापति की अपनी कल्पना है जिस पर तुलसी के मर्यादावादी दृष्टिकोण का प्रभाव है। लगता है, सीता के रूप-वर्णन की ओर उनकी वही भावना रही है जो इस क्षेत्र में तुलसी की मिलती हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ तुलसी ने सीता को माता के रूप मे चित्रित किया है वहाँ सेनापति ने उन्हे प्रायः रानी के रूप मे देखा है।

सेनापति के राम-काव्य मे घटनाओ के भी सजीव वर्णन मिलते हैं। लङ्का-दहन के समय हनुमान की पूंछ का यह दृश्य लीजिए :—

रह्यौ तेल पी ज्यौं घिय हू कौ पूर भीज्यो, ऐसौ
लपट्यौ समूह पट कोटिक पहल कौ।
बेग सौं भ्रमत नभ देखियै बरत पूँछि,
देखियै न राति जैबौ महल-महल कौ ॥
'सेनापति' बरनि बखानै मानौ धूम-केतु,
उदयौ बिनासी दसकंधर के दल कौ।
सीता कौ संताप, कि खलीता उत्पात को, कि
काल कौ पलीता प्रलय-काल के अनल कौ ॥'

इसी प्रकार भगवान राम ने क्रोधित होकर जब समुद्र पर बाण चलाया तब उसकी दशा का यह चित्र लीजिए :—

'सेनापति राम-बान-पाउकै बखानै कौन,
जैसी सिख दीनी सिंधुराज कौ रिसाइ कै।
ज्वालन के जाल जाइ पजरे पताल, इत
छै गयो गगन, गयौ सूरजौ समाइ कै ॥

परे मुरझाइ, ग्राह-सफर फरफराइ,
सुर कहै 'हाइ को बचावै नद-नाइकै।'
बूँद ज्यौं तए की तची, कमठ की पीठ पर,
छार भयो जात छीर-सिन्धु छननाइ कै॥'

रावण के दरबार मे अंगद का यह चित्र कितना वीरोचित है, यह भी देख लीजिए :—

'धर्‌यौ है चरन दससीस हू के सीस पर,
ईस की असीस कौ गरब सब लोपि कै।
'सेनापति' महाराज राम की दुहाई मोहि,
तोरौ गढ लंक, चकचूर करौ कोपि कै॥
आइ कै उठावौ, बाहु बल कौ गुमान जाहि,
दीपति बढावौ सुभटाई की सु ओपि कै।
बैरिन तरजि, भुज ठोंकि कै गरजि, कही
महाबली बाल के कुमार पाउँ रोपि कै॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति ने अपने राम-काव्य मे जिन घटनाओं का समावेश किया है उनके सश्लिष्ट वर्णन एव स्थूल चित्रण की ओर उनकी दृष्टि नहीं है। उन्होने राम के पराक्रम, उनके प्रताप और उनके लोकोपकारी रूप को ही विशेष रूप से वर्णन किया है। पं० उमाशंकर शुक्ल ने 'कवित्त-रत्नाकर' की भूमिका मे उनके राम-काव्य पर विचार करते हुए यह ठीक ही लिखा है कि 'सेनापति मे न तो गोस्वामीजी की-सी सर्वाङ्गीण प्रतिभा थी और न मानव-जीवन से उनका उतना घनिष्ठ परिचय ही था। अतएव यदि गोस्वामीजी की भक्ति-भावना के सामने सेनापति के भक्ति-सम्बन्धी उद्‌गार उतने व्यापक एव मार्मिक न जचे तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु भगवान के जिस रूप को लेकर सेनापति चले हैं उसके प्रति उनके हृदय मे सच्चा अनुराग था और उसकी अभिव्यक्ति करने मे वह पूर्ण रूप से सफल हुए हैं।'

(३) ऋतु-वर्णन—सेनापति के वर्णनात्मक काव्य के अन्तर्गत ऋतु-

वर्णन भी आता है और यह उनके काव्य की परम विशेषता है। इस क्षेत्र में हिन्दी का कोई कवि उनकी जोड़ का नहीं है। अपने ऋतु-वर्णन मे उन्होंने ऋतुओं और बारहमासे का वर्णन किया है। उनके समय मे ऋतुओं के वर्णन की ओर ही कवियों का अधिक ध्यान था और वे उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही उनका चित्रण करते थे। उन पर संस्कृत के रीति-ग्रन्थो का विशेष प्रभाव था। अतएव उन्होंने जहाँ उन ग्रन्थों की अन्य बातो को अपनाया वहाँ उन्होने प्रकृति-विषयक उक्त दृष्टि कोण का भी अनुकरण किया। इससे हिन्दी-काव्य मे प्रकृति-वर्णन का वही रूप बना रहा जो संस्कृत-साहित्यकारो ने अपने काव्य मे निर्धारित कर दिया था। 'इस संकुचित दृष्टिकोण के कारण रस-निरूपण-पद्धति मे प्रकृति के उन स्वतन्त्र रूपो का वर्णन न हो सका जिनमे वह स्वयं आलबन के रूप मे दीख पड़ती थी।' उदाहरण के लिए केशवदास का वह प्रकृति-वर्णन लीजिए जिसमें प्रायः वृक्षों आदि के नाम गिनाने के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। शृंगार-काल के कवियो ने भी इसी शैली को अपनाया और उस पर अपनी भावनाओ का आरोप कर नायक-नायिकाओ की भावनाओ को उद्दीप्त करते रहे। सेनापति ने भी अपने ऋतु-वर्णन मे इसी शैली को अपनाया, परन्तु एक विशेषता के साथ। बारहमासे का वर्णन उन्होने उद्दीपन-विभाव की दृष्टि से किया और ऋतुओ का वर्णन आलबन विभाव की दृष्टि से। माघ मास का यह चित्र लीजिए :—

'परे तै तुसार, भयो झार पतझार, रही
पीरी सब डार, सो वियोग सरसति है।
बोलत न पिक, सोई मौन ह्वै रही है, आस-
पास निरजास, नैन-नीर बरसति है॥
'सेनापति' केली बिन, सुनरी सहेली! माह
मास न अकेली बन-बेली बिलसति है।
बिरह तै छीन, तन भूषन-बिहीन दीन,
मानहु बसंत-कंत काज तरसति है॥'

सावन का यह चित्र भी देखिए :—

'दामिनी दमक, सुर चाप की चमक, स्याम
घटा की झमक, अति घोर घनघोर तैं।
कोकिला, कलापी, कल कूजत है जित-तित,
सीकर ते सीतल, समीर की झकोर तैं॥
'सेनापति' आवन कह्यौ है मनभावन, सु
लाग्यौ तरसावन बिरह-जुर जोर तैं।
आयौ सखी सावन, मदन-सरसावन,
लग्यो है बरसावन सलिल चहुँ ओर तैं॥'

उद्दीपन-विभाव की दृष्टि से बारहमासे का वर्णन कहीं-कहीं अश्लील भी हो गया है। यह सेनापति पर शृंगार की ऋतु-वर्णन-परंपरा का प्रभाव है। परन्तु इस प्रभाव से प्रायः मुक्त भी उनकी कुछ रचनाएँ हैं जिनमे उन्होने प्रकृति का स्वतंत्र निरीक्षण किया है। इस दृष्टि से कार्तिक की रात का यह चित्र लीजिए :—

'कातिक की राति, थोरी-थोरी सियराति, सेना-
पति' है सुहाति, सुखी जीवन के गन है।
फूले है कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौ मोती अनगन हैं॥
उदित बिमल चंद, चांदिनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध-ऊरध गगन हैं।
तिमिर-हरन भयो, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन है॥'

सेनापति का ऋतु-वर्णन उनके बारहमासा-वर्णन' की भाँति एकांगी नहीं है। उद्दीपन-विभाव की दृष्टि से प्रकृति के जो चित्र उतारे जाते हैं उन पर नायक अथवा नायिका की व्यक्तिगत भावनाओं का आरोप रहता है, इसलिए वे एकांगी होते है। इसके विरुद्ध प्रकृति के स्वतन्त्र रूपो के जो चित्र उतारे जाते हैं वे सर्व-साधारण को प्रभावित करते हैं। हिन्दी के भक्त-कवियों, मुख्यतः तुलसी, ने प्रकृति के स्वतंत्र रूपों के कई संश्लिष्ट

चित्र उतारे, परन्तु शृंगार-काल के कवि संस्कृत के रीति-ग्रन्थो से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण उनकी शैली का अनुकरण न कर सके। इसके अतिरिक्त उनके सामने अपने जीवन की भी समस्याएँ थी। भक्त-कवियो की भांति वे स्वतंत्र नहीं थे। उन्हें किसी नरेश के आश्रय मे रहकर उनका मनोरंजन करना पड़ता था और उनकी कीर्ति स्थापित करने के लिए उनको प्रशंसा करनी पड़ती थी। नायक-नायिकाओ के स्वभाव और उनकी मनोदिशाओ की छान-बीन मे उनका जितना समय लगता था उतना प्रकृति के सहज व्यापारो के निरीक्षण मे नही। राजदरबारो मे बन्द रहने के कारण प्रकृति के उत्फुल्ल रूप से उनका संपर्क छूट-सा गया था। इस लिए प्रकृति के निरीक्षण-परीक्षण के अभाव मे वे उसके संश्लिष्ट चित्रण का आयोजन अपनी रचनाओ मे न कर सके। परन्तु सेनापति ने इस दिशा में अपनी स्वतंत्र प्रवृत्ति का परिचय दिया। उनमें प्रकृति-निरीक्षण की अद्भुत शक्ति थी और वह क्षमता एवं प्रतिभा भी जो प्रकृति के नाना रूपों के चित्र उतारने मे सहयोग देती है।

किसी प्राकृतिक दृश्य का संश्लिष्ट चित्रांकन करने के लिए उसके 'अर्थ-ग्रहण' पर उतना बल नही दिया जाता जितना उसके 'बिंब-ग्रहण' पर। कहने का तात्पर्य यह कि किसी प्राकृतिक दृश्य के चित्र में यही दिखाना पर्याप्त नही होता कि उसमे क्या है, बल्कि उसमे उसका उत्कर्ष दिखाना भी अभीष्ट होता है। यही 'बिंब-ग्रहण' है जिसके लिए कवि को अपने प्राकृतिक दृश्य-चित्रण मे प्रकृति के उन मुख्य सहज व्यापारो पर अपनी दृष्टि जमानी पड़ती है जो उसका उत्कर्ष दिखाने मे सहायक एवं समर्थ हो। उदाहरण के लिए ग्रीष्म का यह चित्र लीजिए और यह देखिए कि इसमे वर्ण्य-वस्तुओ की संश्लिष्ट योजना-द्वारा किस प्रकार 'बिंब-ग्रहण' कराया गया है :—

'बृष कौ तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग जरति झरनि, सीरी
छाँह कौं पकरि पंथी-पंछी बिरमत है।।

'सेनापति' नैंक दुपहरी के ढरत, होत
धमका विषम, ज्यौ न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर कौ पकरि कौनौ,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है ॥'

सेनापति ने अपने ऋतु-वर्णन मे प्रायः इसी प्रकार वर्ण्य-वस्तुओं की सश्लिष्ट योजना की है। हमारे देश मे (१) बसन्त, (२) ग्रीष्म, (३) पावस (४) शरद्, (५) हेमन्त और (६) शिशिर नाम की छः ऋतुएँ होती हैं। इनमे से सेनापति ने ग्रीष्म का चित्रण बड़े उत्साह से किया है। देखिए जेठ का दोपहरी का यह चित्र कितना सजीव और यथार्थ है :—

'लगे है कपाट 'सेनापति' रग-मन्दिर के,
परदा परे, न खरकत कहूँ पात है।
कोई न भनक ह्वै कै चनक-मनक रही,
जेठ की दुपहरी कि मानौ अधरात है ॥'

पावस के अधकार का यह वर्णन भी लीजिए :—

'गगन-अंगन घनाघन तैं सघन तम,
'सेनापति' नैंक हू न नैंन मटकत हैं।
दीप की दमक, जीगनान की झमक छाँडि,
चपला चमक और सौं न अटकत है ॥
रबि गयौ दबि, मानौ ससि सोऊ धसि गयौ,
तारे तोरि डारे से न कहूँ फटकत हैं।
मानौ महा तिमिर तैं भूलि परी बाट तातै,
रबि, ससि, तारे कहूँ भूले भटकत है ॥'

सेनापति के संश्लिष्ट प्रकृति-चित्र की दो दिशाएँ हैं : एक तो वह जिसके अन्तर्गत उन्होने प्रकृति के सहज व्यापारो का उत्कर्ष दिखाया है और दूसरी वह जिसके अन्तर्गत उन्होने विभिन्न ऋतुओ मे लोगो की समाजिक भावनाओ का चित्रण किया है। उदाहरणार्थं उनकी यह रचना लीजिए :—

'सीत कौ प्रबल 'सेनापति' कोपि चढ्यौ दल,
निबल अनल, गयौ सूर सियराइ कै।
हिम के समीर, तेई बरसैं विषम तीर,
रही है गरम भौन-कोनन मै जाइ कै॥
धूम नैन बहै, लोग आग पर गिरे रहै,
हिय सौं लगाइ रहैं नैंक सुलगाइ कै।
मानो भीत जाति, महासीत तै पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै॥'

इसी प्रकार जेठ के निकट आते ही शीतोपचार के उपायों की धूम-धाम इन पंक्तियो मे देखिए :—

'जेठ नजिकाने, सुधरत खसखाने, तल,
ताख, तहखाने के सुधारि झारियत हैं।
होति है मरम्मति विविध जल-जंत्रन की,
ऊँचे-ऊंचे अटा, ते सुधा सुधारियत है॥
'सेनापति' अतर-गुलाब, अरगजा साजि,
सार-तार-हार, मोल लै-लै धारियत है।
ग्रीषम के बासर बराइबे कौ सीरे सब,
राजभोग-काज साज यौं संभारियत है॥'

अगहन मास मे जब जाड़ा कुछ अधिक पड़ने लगता है तब धनी व्यक्तियों को दिन-चर्या पर भी एक नज़र डाल लीजिए :—

'प्रात उठि आइबे कौ, तेलहि लगाइबे कौ,
मलि-मलि न्हाइबे कौ गरम हमाम है।
ओढ़िबे कौ साल, जे बिसाल है अनेक रंग,
बैठिबे कौ सभा, जहाँ सूरज कौ घाम है॥
धूप कौ अगर, 'सेनापति' सोंधौ सौरभ कौ,
सुख करिबे की छिति अन्तर कौ धाम है।
आए अगहन, हिम-पवन चलन लागे,
ऐसे प्रभु लोगन कौ होत बिसराम है॥'

सेनापति ने होली का भी वर्णन किया है; परन्तु उनका यह वर्णन कहीं-कही अश्लील हो गया है। शैली की दृष्टि से उनका प्रकृति-वर्णन अलंकृत शैली के अन्तर्गत आता है जिसके सफल निर्वाह के लिए उन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक से विशेष सहायता ली है। प्राकृतिक दृश्यो, जैसे अंधेरी रात, जेठ की दुपहरी, शरद् की ज्योत्सना, चैत्र के प्रभात आदि के चित्रण में अधिकांश वस्तूत्प्रेक्षा से सहायता ली गई है और ऋतुओ का उत्कर्ष दिखाने के लिए फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा का प्रयोग किया है। रूपक अधिक नही हैं, फिर भी जो हैं वे सजीव और आकर्षक हैं। एक रूपक लीजिए जिसमे वर्षा रूपी वधू, विविध आभूषणो से सुसज्जित होकर, सावन रूपी प्रियतम से विवाह कर रही है :—

'दामिनी दमकि सोई मंद बिहसनि, बग—
माल है बिसाल सोई मोतिन कौ हारौ है।
बरन-बरन घन रंगित बसन तन,
गरज गरूर सोइ बाजत नगारौ है॥
'सेनापति' सावन कौ बरसा नवल बधू,
मानौ है बरति साज सकल सिगारौ है।
त्रिबिध बरन परयौ इन्द्र कौ धनुष, लाल,
पन्ना सौ जटित मानौ हेम खगवारौ है॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति ने अपने ऋतु-वर्णन में शृंगार-कालीन परंपराओ से प्रभावित होते हुए भी कई दिशाओं में अपनी स्वतंत्र काव्य-प्रवृत्ति का परिचय दिया है। उनके ऋतु-वर्णन मे उनकी अद्भुत निरीक्षण शक्ति है, उनकी अनूठी कल्पनाओ का चमत्कार है, उनकी काव्योचित भावुकता है, उनकी सामाजिक भावना है और है उनकी प्रतिभा का वह रूप जिसके बल पर उन्होने इन सब की संश्लिष्ट योजना की है। इस दृष्टि से हिन्दी के वह अमर कवि है।

सेनापति की रस-योजना

शृङ्गार-काल के प्रारम्भिक कवियो मे सेनापति का प्रमुख और महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु इस से यह न समझना चाहिए कि उन्होने उस

काल की परिपाटी का अक्षरशः अनुकरण किया है। सम्भव है, अपनी दूसरी कृति 'काव्य-कल्पद्रुम' में उन्होने उस परिपाटी को अपनाया हो, परन्तु जब वह प्राप्य नहीं है तब हमें उनकी प्रस्तुत रचनाओं के आधार पर यही कहना होगा कि वह रीति-मुक्त कवि थे। उन्होंने न तो केशवदास की अलंकार शब्द की उस विस्तृत परिभाषा को अपनाया जिसमें काव्य को अलकृत करनेवाले सभी गुणो की प्रतिष्ठा की गई थी और न शृङ्गार-काल के कवियों की उस परम्परा का समर्थन किया जिसके अनुसार भाव, विभाव, अनुभाव आदि के लक्षणो एवं उदाहरणों आदि का क्रम मे वर्णन कर रस सामग्री पर विचार किया गया था। इसलिए वह न तो केशवदास की भाँति कोरे अलङ्कारवादी थे और न बिहारी की भाँति कोरे रसवादी, बल्कि वह इन दोनो परम्पराओं के बीच के कवि थे। अपनी रचनाओं में उन्होंने कहीं अलङ्कारो का उत्कर्ष दिखाया तो कहीं रस का। कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनमें अलङ्कार और रस का जोड़-तोड़ समान रूप से पाया जाता है।

सेनापति ने 'कवित्त-रत्नाकर' मे कुल पाँच रसो—शृङ्गार, वीर, रौद्र, भयानक और शान्त—को स्थान दिया है। इनमें से शृङ्गार पर उनकी दृष्टि अधिक जमी है। शृङ्गार के दो पक्ष है: (१) **संयोग** और (२) **वियोग**। **संयोग-शृङ्गार** के अन्तर्गत उन्होने आलम्बन-विभाव का वर्णन कुछ चुनी हुई नायिकाओं के रूप में किया है जिनमे (१) मुग्धा, (२) खडिता, (३) बचन-विदग्धा, (४) परकीया और (५) स्वकीया प्रमुख हैं। मुग्धा का यह उदाहरण कितना सुन्दर है :—

'लोचन जुगल थोरे-थोरे से चपल, सोई—
सोभा मन्द पवन चलत जलजात की।
पीत है कपोल, तहाँ आई अरुनाई नई,
ताही छबि करि सांस आभा पात पातकी॥
'सेनापति' काम-भूप सोवत सो जागत है,
उज्वल विमल दुति पैये गात-गात की।
सैसव-निसा अथौत, जोबन-दिन उदौत,
बीच बाल बधू झाँई पाई परभात की॥'

शृगार के अन्तर्गत सेनापति ने अन्य नायिकाओं की अपेक्षा 'प-कीया' का विशेष चित्रण किया है, परन्तु उनकी दृष्टि मे 'स्वकीया' का ही अधिक महत्व है। अपने 'राम-काव्य' मे उन्होंने राम के एक नारी-व्रत होने का कई बार बखान किया है और दाम्पत्य-प्रेम के चित्रण मे अच्छी सफलता प्राप्त की है। दूसरी तरङ्ग मे भी स्वकीया के सुन्दर चित्र उतारे गए हैं। निम्न छन्द मे स्वकीया की कोमल भावना का आनन्द लीजिए और देखिए कि इसमे भारतीय नारी का आदर्श कितने सुन्दर ढङ्ग से चित्रित किया गया है :—

'फूलन सौं बाल की बनाइ गुही बेनी लाल,
भाल दीनी बेंदी मृगमद की असित है।
अग-अंग भूषन बनाइ ब्रज-भूषन जू,
बीरी निज कर कै खवाई अति हित है॥
ह्वै कै रस-बस जब दीबे कौ महाउर के,
'सेनापति' स्याम गह्यौ चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आँखिन सौं,
कही 'प्रानपति यह अति अनुचित है॥'

'श्लेष-वर्णन' के अन्तर्गत सेनापति ने नायिका का चित्रण उपमेय के रूप मे किया है, परन्तु उनके लिए जिन उपमानों का आयोजन किया गया है वे अत्यन्त अनूठे और विचित्र हैं। उदाहरण के लिए कही वह काम की-सी पाग कही गई है, कही कामदेव की बाटिका समझी गई है, कहीं मोहर के समान चित्रित की गई है, कही फूलो की माला मानी गई तो कही नाक मे पहनने की लौंग। नायिका के रूप का यह चित्रण श्लेष-वर्णन की दृष्टि से उत्कृष्ट कहा जायगा, शृंगार की दृष्टि से नहीं, इसलिए कि इसमे सपूर्ण रस-सामग्री का अभाव है।

शृगार के परिपाक मे उद्दीपन-विभाव की दृष्टि से (१) नख-शिख वर्णन और (२) प्रकृति-चित्रण को स्थान दिया जाता है। इनमे से प्रथम पात्रगत है और द्वित्तीय बहिर्गत। पात्रगत उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत नख-शिख के अतिरिक्त नायक अथवा नायिका की मनमोहक चेष्टाओं तथा

उनकी वेशभूषा आदि का भी वर्णन होता है और बहिर्गत के अन्तर्गत नदी, पर्वत, झरना, ऋतु आदि का। सेनापति ने अपने उद्दीपन के वर्णन मे इन दोनों प्रसाधनों का उपयोग किया है। नायिका के नेत्रों का वर्णन लीजिए :—

'अंजन सुरंग, जीते खजन, कुरग, मीन,
नैक न कमल उपमा कौ नियरत है।
नीके, अनियारे, अति चपल, ढरारे, प्यारे,
ज्यौ-ज्यौं मै निहारे त्यौ-त्यौ खरौ ललचात है॥
'सेनापति' सुधा-से कटाछनि बरसि ज्यावै,
जिनकौ निरखि हियौ हरषि सिरात है।
कान लौ बिसाल, काम-भूप के रसाल, बाल!
तेरे दृग देखे मेरौ मन न अघात है॥'

और फिर चैत्र मास के प्रभात का यह मनमोहक चित्र लीजिए :—

'सरस सुधारी राज-मन्दिर मैं फूलवारी,
मोर करै सोर, गान कोकिल-विराव के।
'सेनापति' सुखद समीर है, सुगंध मंद,
हरत सुरत-स्रम-सीकर सुभाव के॥
प्यारौ अनुकूल, कौहू करत करन-फूल,
कौहू सीस फूल, पाँवडेऊ मृदु पाँव के।
चैत मैं प्रभात, साथ प्यारी अलसात, लाल
जात मुसकात, फूल बीनत गुलाब के॥'

अब सेनापति के वियोग-वर्णन पर विचार कीजिए। सेनापति को संयोग-वर्णन की अपेक्षा वियोग-वर्णन में अधिक सफलता मिली है। वियोग के मुख्यता दो अंग हैं : (१) मान और प्रवास। सेनापति ने दोनों का वर्णन किया है, पर मान की अपेक्षा प्रवास की ओर उनकी अधिक रुचि रही है। आचार्यों ने विरह की ग्यारह अवस्थाएँ मानी हैं : (१) अभिलाषा (२) चिन्ता, (३) स्मरण, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता, (१०) मूर्च्छा और (११) मरण। विरह-

जनित उद्विग्नता का एक चित्र लीजिए :—

'जौ तैं प्रान प्यारे परदेस कौं पधारे तौतैं,
बिरह तैं भई ऐसी ता तिय की गति है।
करि कर ऊपर कपोलहि कमल-नैंनी,
'सेनापति' अनमनी बैठियै रहति है॥
कागहिं उडावै, कौहू कौहू करै सगुनौती,
कौहू बैठि अवधि के बासर गनति है।
पढ़ि-पढ़ि पाती, कौहू फेरि कै पढ़ति, कौहू
प्रीतम कौं चित्र मै सरूप निरखति है॥'

सेनापति ने बिहारी आदि शृंगारी कवियों की भाँति विरह-जन्य अवस्थाओं का अत्युक्तिपूर्ण चित्रण अधिक नहीं किया है, किन्तु जहाँ किया है वहाँ वह किसी से पीछे भी नहीं है। एक उदाहरण लीजिए :—

'चले उत पति के बियोग उतपति भई,
छाती है तपति ध्यान प्रान के अधार कौं।
'सेनापति' स्यामजू के बिरह बिहाल बाल,
सखी सब करति बिचार उपचार कौं॥
प्रीतम अरग जातैं, ताही तै अरगजा तैं
सीरक न होति, जुरि जारत है मार कौं।
सीतल गुलाब हू सौं घिसि उर पर कीनौं,
लेप घनसार कौ सो मानौ घन सार कौ॥'

देखिए, अत्युक्तिपूर्ण होने के कारण कृशता का यह चित्र कितना हास्यास्पद हो गया है :—

'बाल, हरिलाल के वियोग तै बिहाल, रैनि—
बासर बरावै बैठि बर की निसानी सौ।
बोल, कौन बल? कर-चरन चलावै कौन?
रहत है प्रान प्रानपति की कहानी सौं॥
लागि रही सेज सौं, अचेत-ज्यौं, न जानी जाति,
'सेनापति' बरनत बनत न बानी सौं।

रही इकचक, मानौ चतुर चितेरे, तिय
रंचक लिखी है कोई कंचन के पानी सौं।

प्रवास-जन्य विरह वर्णन मे सेनापति को जो सफलता मिली है वह उन्हें मान-वर्णन मे नही प्राप्त हो सकी है। मान-वर्णन यत्र-तत्र ही हुआ है और वह भी परकीया का न होकर स्वकीया का है। इसीलिए उसमें विशेष तनाव भी नहीं है। निम्न छद में एक मानवती का सुन्दर व्यंग देखिए :—

'नीके रमनी के उर लागे नख-छत, अरु
घूमत नयन, सब रजनि जगाए हौ।
आए परभात, बार-बार हौ जँभत, 'सेना—
पति' अलसात, तऊ मेरे मन भाए हौ।
कहा है सकुच मेरी, हौ तौ हौ तिहारी चेरी,
मैं तौ तुम निधनी कौ धन करि पाए हौ।
आवत तौ आए सुधि ताकी है कि नाही जाके,
पाइ के महाउर की खौरि करि आए हौ॥'

सेनापति ने विरह-वेदना को उद्दीप्त करने के लिए ऋतु-वर्णन से विशेष सहायता ली है, परन्तु इस दिशा मे उन्हे अधिक सफलता नही मिली है। उन्होने वियोगिनी को विभिन्न ऋतुओ के बीच बैठा तो दिया है, परन्तु उसको उनसे प्रभावित होने की शक्ति नही प्रदान की है। जहाँ तक सचारी भावो का प्रश्न है, उन्होंने उनका बहुत कम प्रयोग किया है, किंतु उन्होंने जिस सचारी का वर्णन किया है वह सफल है। देखिए, निम्नाकित कवित्त मे 'वितर्क' से पुष्ट 'विषाद' की शांति कराकर 'हर्ष' की कैसी सुन्दर व्यंजना की गई है :—

'कौनैं बिरमाए, कित छाए, अजहूँ न आए,
कैसे सुधि पाऊँ प्यारे मदनगोपाल की।
लोचन जुगल मेरे ता दिन सफल ह्वै है,
जा दिन बदन-छबि दैखौ नंद-लाल की॥

'सेनपति' जीवन-अधार गिरिधर-बिन,
और कौन हरै बलि बिथा मो बिहाल की।
इतनी कहत, आँसू बहत, फरक उठी,
लहर-लहर दृग बाईं ब्रज-बाल की॥'

अब तक सेनापति के विरह-वर्णन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट होगा कि उनके विरह-वर्णन मे मानसिक स्थिति के सूक्ष्म विश्लेषण की बहुत कमी है। उन्होने विरह-वेदना की साधारण परिस्थितियों के ही चित्र उतार हैं। इस कारण उनका विरह-वर्णन कुछ फीका पड़ गया है। इसके अतिरिक्त उनकी अलंकार-प्रियता भी इसमें बाधक हुई हैं। फिर भी कुल मिलाकर यदि देखा जाय तो वह अपने इस सीमित क्षेत्र मे भी सफल हैं।

शृंगार के बाद सेनापति की रचनाओं मे दूसरा स्थान वीर रस को मिला है। इस रस के चित्रण के लिए उन्होने राम-रावण-युद्ध का विशद वर्णन किया है। प्राय: देखा जाता है कि वीर रस के कवियों ने युद्ध वर्णन करते समय अधिकाश तोपों की गड़गड़ाहट और तलवारो की छप-छपाहट तक ही अपनी रचनाओ को सीमित कर दिया है। इससे उनकी रचनाओ मे वीररस की वैसी व्यंजना नहीं हो पाई है जैसी होनी चाहिए थी। वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' है। इसलिए जबतक उसमे उत्साह अर्थात् युद्ध की तैयारी आदि का चित्रण न हो तबतक उसके द्वारा पूर्ण रस-परिपाक नहीं होगा। सेनापति ने अपनी तत्सबंधी रचनाओं में इस अभाव की पूर्ति की है। उन्होने युद्ध की तैयारी का जितना सुन्दर वर्णन किया है उतना तोपो की गड़गड़ाहट आदि का नहीं। इसके अतिरिक्त उनके वीर रस-चित्रण की एक विशेषता और है। अपने युद्ध-वर्णन मे उन्होंने नायक के उत्कर्ष के साथ-साथ प्रतिनायक का भी उत्कर्ष झलकाया है। उदाहरणार्थ उनकी यह रचना लीजिए :—

'वीर रस मदमाते, रन तैं न होत हाँते,
दुहूँ के निदान अभिमान चाप बान कौं।

सर बरषत, गुन कौं न करषत मानौं,
हिय हरषत जुद्ध करत बखान कौ ॥
'सेनापति' सिंह-सारदूल-से लरत दोऊ,
देखि धधकत दल देव-जातुधान कौ।
इत राजाराम रघुवंस कौं धुरंधर है,
उत दसकंधर है सागर गुमान कौ ॥'

वीर रस के अन्तर्गत सेनापति ने युद्ध-वीर और दानवीर का ही चित्रण किया है। दानवीर का चित्रण अधिक नहीं है। इन दोनो के चित्रण मे सेनापति ने मर्यादा का पूरा ध्यान रखा है। वीर रस के अतिरिक्त उनकी रचनाओ मे रौद्र और भयानक रस के उदाहरण भी यत्र-तत्र मिलते हैं। शाति रस का परिपाक उनकी भक्ति-भावना सबधी रचनाओ मे हुआ है। करुण रस की ओर उनका ध्यान नही गया। संभवतः वह शोक से अधिक प्रभावित नही थे। राम-काव्य में अवसर मिलने पर भी उन्होंने इस रस की सर्वथा उपेक्षा की है। फिर भी उन्होने अपनी रस-योजना में जिन रसों को स्थान दिया है, उनके चित्रण में उन्हे पूरी सफलता मिली है।

सेनापति की अलंकार-योजना

सेनापति की अलंकार-योजना उनकी रस-योजना की अपेक्षा अधिक समृद्ध और सपन्न है। काव्य के दो अग होते हैं: (१) **अंतरंग** और (२) **बहिरंग**। अतरग में रस की प्रधानता रहती है और बहिरंग मे अलकार की। केशवदास की रचनाओ मे काव्य का अतरग इतना शक्तिशाली है कि उसने उसके अंतरग को बिलकुल दबा दिया है। सेनापति की अधिकांश रचनाओ के सबंध मे भी यही बात कही जा सकती हैं। 'कवित्त-रत्नाकर' के पहली तरग के ९६ कवित्त इस कथन के स्पष्ट प्रमाण हैं। इनमें कई प्रकार के अलंकार पाए जाते हैं, परन्तु प्रधानता श्लेष को दी गई है। हिन्दी-काव्य में सेनापति का 'श्लेष-वर्णन' अद्वितीय माना जाता है।

आचार्यों ने अलंकार के मुख्यतः दो भेद किए हैं: (१) **शब्दालंकार** और (२) **अर्थालंकार**। शब्दालंकार का संबंध काव्य के बहिरंग से है और अर्थालंकार का उसके अंतरग से। सेनापति ने अपनी प्रकृति के अनुसार

शब्दालंकारो को ही अधिक अपनाया है और उनके द्वारा अपनी भाषा में चमत्कार एवं सौदर्य की स्थापना की है। शब्दालंकार के मुख्यतः सात भेद होते हैं: (१) अनुप्रास, (२) यमक, (३) श्लेष, (४) पुनरुक्ति वदाभास, (५) वीप्सा, (६) वक्रोक्ति और (७) चित्र। सेनापति ने अपनी रचनाओं में इन सब को स्थान दिया है, परन्तु इनमे से श्लेष उनका सर्वप्रिय अलकार है। इसलिए हम सबसे पहले इसी अलकार पर विचार करेंगे।

'श्लेष' शब्द 'श्लष्' धातु से बना है जिसका अर्थ है, चिपकना अथवा मिलना। अलकार-शास्त्र के अनुसार जिस शब्द के एक से अधिक अर्थ होते है उस शिलष्ट शब्द कहते है। ऐसे शब्दो का प्रयाग काव्य मे एक ही बार होता है, परन्तु उस काव्य मे श्लेष अलकार तभी होता है जब उसमे प्रयुक्त शिलष्ट शब्द के विभिन्न अर्थों के अनुकूल उसके भी कई अर्थ हो सके। यदि ऐसा न हो सका तो न तो शिलष्ट शब्द के प्रयोग का कोई महत्त्व होता है और न उस काव्य का जिसम वह प्रयुक्त किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि शिलष्ट काव्य की रचना करना सब के बस की बात नही है। इसके सफल निर्वाह मे वही कवि सफल होते हैं जिनका अपनी भाषा पर पूरा अधिकार और जिनका शब्द-भाण्डार अत्यन्त विस्तृत होता है। सेनापति ने श्लिष्ट-काव्य की रचना कर अपने भाषा-अधिकार का ही परिचय दिया है।

श्लेष अलकार दो प्रकार का होता है: (१) शब्द-श्लेष और (२) अर्थ-श्लेष। जहाँ किसी श्लिष्ट शब्द से अनेक अर्थो का अभिधान हो वहाँ शब्द-श्लेष होता है और उसकी गणना शब्दालंकार के अन्तर्गत की जाती हैं, परन्तु जहाँ स्वाभाविक एकार्थक शब्दो-द्वारा अनेक अर्थो का अभिधान होता है वहाँ अर्थ-श्लेष होता है और उसकी गणना अर्थालंकार के अन्तर्गत की जाती है। इस संबंध में हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिन शब्दों में शब्द-श्लेष होता है उनका अर्थ उन्ही शब्द पर निर्भर रहता है। उन्हे उनके परियायवाची शब्दों से बदलने पर वह अलकर ही मिट जाता है। अर्थ-श्लेष मे शब्दों को बदल देने पर भी वही अलकार बना रहता हैं। सेनापति ने अपने श्लेष-वर्णन में शब्द-श्लेष को स्थान दिया है।

शब्द-श्लेष दो प्रकार का होता है : (१) सभंग और (२) अभंग। जहाँ श्लिष्ट शब्दों को तोड़कर कई अर्थों का पता लगाया जाता है वहाँ सभंग शब्द-श्लेष और जहाँ श्लिष्ट शब्द को बिना तोड़े हुए कई अर्थों का पता लगाया जाता है वहाँ अभंग-शब्द-श्लेष होता है। अर्थ बोधकता की दृष्टि से सभग श्लिष्ट रचना, अभग श्लिष्ट रचना की अपेक्षा, कठिन होती है। सेनापति ने इन दोनो के अनुसार श्लेष-वर्णन किया है, पर अभग की अपेक्षा सभंग-श्लेष के लिखने मे उन्हे अधिक सफलता मिली है। सभग-श्लेष के वर्णन मे कही विशेष्य श्लिष्ट है तो कहीं अश्लिष्ट। श्लिष्ट-विशेष्य सभंग श्लेप का उदाहरण लीजिए :—

'अधर कौं रस गहै, कंठ लपटाइ रहै,
'सेनापति' रूप सुधाकर तें सरस है।
जे बहुत धन के, हरन हारेमन के है,
हीतल मै राखे सुख सीतल परस है॥
आवत जिनके अति गजराज गति पावै,
मंगल है सोभा गुरु सुन्दर दरस है।
और है न रस ऐसौ सुनि सखी! साँची कहौं,
मोतिन के देखिबे कौ जैसो कछू रस है॥'

यहाँ 'मोतिन के' श्लिष्ट विशेष्य है। इसे ज्यो-का-त्यो ग्रहण करने से सपूर्ण रचना का अर्थ मोतियो के पक्ष मे सटीक बैठता है, किन्तु इसे तोड़कर 'मो तिनके' अर्थात् मुझे उनके (श्रीकृष्ण के) कर देने से एक दूसरे अर्थ का भी बोध होता है। नायिका गुरुजनो के सकोचवश खुले तौर पर नाम की चर्चा करना नही चाहती। इसलिए सबके सामने तो 'मोतियो' की प्रशंसा करती है, परन्तु श्लिष्ट वचनो-द्वारा गुप्त रूप से वह अपने मन की बात भी स्पष्ट कर देती है। वास्तव मे मोतियों की प्रशंसा करना उसके लिए अभीष्ट नहीं है, अभीष्ट है श्रीकृष्ण की प्रशसा करना। इसलिए यहाँ श्लिष्ट विशेष्य सभंग शब्द श्लेष है। अब अश्लिष्ट विशेष्य सभंग शब्द श्लेप का उदाहरण लीजिए:—

'नाही-नाही करै, थोरी माँगे बहु दैन कहै,
मगन कौ देखि पट देत बार-बार है।
जिनकौ मिलत भली प्रापति की घटी होति,
सदा सब जन मन भाए निरधार है॥
भोगी ह्वै रहत विलसत अवनी के मध्य,
कन कन जोरै दान पाठ परिवार हैं।
'सेनापति' बचन की रचना बिचारौ जामै,
दाता और सूम दोऊ कीने इक सार है॥'

यहाँ 'दाता' और 'सूम' दोनो का वर्णन कवि को अभीष्ट है और अपने इस वर्णन मे उसने दोनो का एकीकरण कर दिया है। इस प्रकार के एकीकरण मे प्रायः विरोधी बाते ही रखी जाती हैं, क्योकि कवि की दृष्टि मुख्यतः चमत्कार की ओर रहती है। इस दृष्टि से सेनापति का यह कवित बेजोड़ है। 'नाहीं नाही करै—' 'नाहीं' नाही करै', 'सब जन-मन भाए'— 'सब जनम न भाए', 'कन कन जोरै' 'कनक न जोरै, आदि पदों को तोड़ने पर ही संपूर्ण रचना के दोनो अर्थ स्पष्ट होते हैं। 'दाता' और 'सूम' विशेष्यो का जुदे-जुदे शब्दो द्वारा कथन है, इसलिए विशेष्य अश्लिष्ट है और पूरे कवित्त मे **अश्लिष्ट विशेष्य सभंग शब्द-श्लेष** है।

सभंग-श्लेष की भाँति ही सेनापति ने अभग श्लेष का भी वर्णन किया है। इसमे विशेष्य श्लिष्ट होता है। ऐसे अवसरो पर हिन्दी अथवा सस्कृत के नानार्थी शब्द प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत के कठिन एव अप्रचलित शब्दो के सहारे लिखी हुई श्लिष्ट रचना प्रायः जटिल हो जाती है। केशव-दास ने अपने अभग श्लेष-वर्णन मे ऐसा ही किया है, परन्तु सेनापति इस दोष से मुक्त है। उन्होने अत्यन्त प्रचलित श्लिष्ट पदो का सहारा लेकर ही अपने काव्य मे चमत्कार की प्रतिष्ठा की है। एक उदाहरण लीजिए :—

'अँखियाँ सिरातीं, ताप छाती की बुझाती, रोम—
रोम सरसाती, तन सरस परस ते।
रावरे अधीन, तुम बिन अति दीन हम,
नीर-हीन-मीन-जिमि काहे कौं तरसते॥

'सेनापति' जीवन अधार निरधार तुम
जहाँ कौ ढरत तहाँ टूटत अरस ते।
उनै-उनै, गरजि-गरजि आए घनश्याम
ह्वै कै बरसाऊ एक बार तो बरसते ॥'

यहाँ 'घनश्याम' विशेष्य श्लिष्ट है जिसके दो अर्थ हैं: (१) श्री कृष्ण और (२) बादल। इन दोनो विशेष्यो की दृष्टि से संपूर्ण रचना के दो अर्थ होते हैं। ऐसी रचनाओ के प्रायः अन्तिम चरण मे श्लिष्ट विशेष्य प्रयुक्त किया जाता है जिसे हम उनकी 'कुँजी' कह सकते हैं।

सेनापति के श्लेष-वर्णन की दो विधियाँ हैं: एक तो वह जिससे अर्थालकार का सहारा नही लिया गया है और दूसरी वह जिसमें अर्थालकार का सहारा लिया गया है। पहली विधि का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। दूसरी विधि के अनुसार सेनापति ने जो श्लिष्ट रचनाएँ की हैं उनकी संख्या अपेक्षा-कृत अधिक है। ऐसी रचनाओं मे मुख्यतः समता-सूचक आर्थिक अलकारो का मेल अधिक हुआ है। इन्हे प्रायः अतिम चरण मे स्थान मिला है। पं० उमाशकर शुक्ल के मतानुसार यही 'श्लिष्ट कवित्तो की 'कुजी' है' क्योंकि इनके द्वारा व्यक्त किए गए उपमेय तथा उपमान उन कवित्तो के दोनो पक्षो का स्पष्टीकरण करते हैं। इनमे उपमेय तो मुख्यतः नायिका है, किन्तु उपमान अत्यन्त विचित्र हैं। उदाहरण के लिए उनका यह कवित्त लीजिए:—

'पासे की निकाई 'सेनापति' ना कही बनति,
सोरहै नरद करि रदन सुधारी है।
सोभा की बिसाति चौरै धरति बहुत भांति,
चतुर हैं मुख गनि-गनि डग धारी है।
मार तै बचाइ कोउ पाउ निधि कीनौ जग,
जाके बस परै सत कहत जुवारी है।
जीति की है निधि धन हार कौ धरति मीठी,
नारि निहचै कै मानौ चौपर सवाँरी है ॥'

इसके दो पक्ष हैं: (१) स्त्री-पक्ष और (२) चौपड-पक्ष जिनके लिए

'पासा' प्रेम-पाश और गोटी, 'नाद' ध्वनि और गोटी तथा 'बिसाति' आधार और चौपड़ खेलने का कपड़ा श्लिष्ट शब्द प्रयुक्त हुए हैं। नायिका उपमेय है और चौपड़ उनमान जो अतिम चरण में प्रयुक्त हुए हैं। 'मानो' उत्प्रेक्षा का वाचक है। इस प्रकार यहाँ श्लेष का सहायक उत्प्रेक्षा अलंकार है।

सेनापति ने इस विधि से अपनी नायिकाओ को कहीं 'कामदेव की पगड़ी', कहीं 'कामदेव की बाटिका', कहीं 'पुष्प-माल', कहीं 'नवग्रहों की माला' आदि के समान चित्रित किया है। ऐसी रचनाओ मे उनके मस्तिष्क का कौशल अवश्य है, पर इसके लोभ मे पड़कर उन्होने अपनी रचनाओ मे गड़बड़ी उत्पन्न कर दी है। सच तो यह है कि उनके कुछ ही कवित्त इस दिशा मे सटीक उतरते है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके अपमेय और उपमान मे साम्य का अभाव है। इस अभाव को दूर करने अर्थात् उपमेय और उपमान मे साम्य स्थापित करने के लिए उन्होंने बेतुके श्लिष्ट शब्दो का प्रयोग किया है और उनके द्वारा दोनों पक्षों को खींचतान कर सार्थक बनाने की चेष्ठा की है। स्पष्ट है कि उनकी इस प्रकार की चेष्टा के कारण उनकी उक्त रचनाएँ साधारण पाठक को खिलवाड़ ही जँचती हैं। परन्तु जहाँ उनके उपमेय और उपमान मे किसी-न-किसी प्रकार का सादृश्य है वहाँ श्लिष्ट पदो के आयोजन से उनकी रचनाएँ सरस हो उठी हैं।

सेनापति ने अपनी रचनाओ मे शब्दालंकारों के अन्तर्गत शब्द-श्लेष के अतिरिक्त अनुप्रास, यमक, चित्र आदि को भी स्थान दिया है। यमक और प्रतीप की छटा इस कविता मे देखिए:—

'तेरे नीको वसुधा है, वाके तौ न बसुधा है,
तू तौ छत्रपति सो न छत्रपति मानियै।
सूर सभा तेरी जोति होति है सहस गुनी,
एक सूर आगे चंद जोति पै न जानियै॥
'सेनापति' सदा बड़ी साहिबी अचल तेरी,
निसि-दिन चंद चल जगत बखानियै।

महाराज रामचंद चंद तैं सरस तू है,
तेरी समता कौं चंद कैसे मन मानियै ॥'

अर्थालङ्कारों के अन्तर्गत सेनापति ने अधिकांश भेद-प्रधान सादृश्य मूलक अलङ्कारों को ही अपनाया है। उनकी रचनाओं मे उपमा, उत्प्रेक्षा व्यतिरेक, प्रतीप आदि के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। नख-शिख में प्रतीप का प्रयोग अत्यन्त प्रशसनीय है। ऋतु-वर्णन मे कही हेतुत्प्रेक्षा, कहीं वस्तूत्प्रेक्षा और कहीं फलोत्प्रेक्षा से अधिक सहायता ली गई है। फलोत्प्रेक्षा का एक उदाहरण लीजिए :—

'लाल-लाल केसू फूलि रहे हैं विसाल, संग
स्याम रंग भेंटि मानौं मसि में मिलाए हैं।
तहाँ मधु-काज आइ बैठे मधुकर-पुँज,
मलय पवन उपवन बन धाए है॥
'सेनापति' माधव महीना मैं पलास तरु,
देखि-देखि भाउ कविता के मन आए हैं।
आधे अन-सुलग, सुलगि रहे आधे, मानौं
बिरही दहन काम क्वैला परिचाए हैं ॥'

अभेद-प्रधान सादृश्य-मूलक अलङ्कारो मे अपह्नुति, रूपक, भ्रम, सन्देह आदि के उदाहरण मिलते हैं। रूपकों में निरङ्ग और सांग, दोनों को स्थान दिया गया है। साग रूपकों में श्लेष का पुट है, परन्तु निरङ्ग रूपकों में उसका सम्मिश्रण स्वभाविक ढङ्ग से किया गया है। एक उदाहरण लीजिए:—

'सोहति बहुत भांति चीर सौं लपेटी सदा,
जाकी मध्य दसा सो तौ मैंन कौ निधान है,
तम कौं न राखै, 'सेनापति' अति रोसन है,
जा बिना न सूझै, होत ब्याकुल जहान है ॥
परत पतंग मन मोहै तिन तरुन के
जोति है रदन होति सुरति निदान है।
पूरी निधि नेह की, उज्यारी दिपै देह की, सु
प्यारी। तू तौ गेह की निदान समादान है ॥'

अब सन्देह का भी एक उदाहरण ले लीजिए :—

'सोहै देह पाइ किधौ चारि है उपाइ, किधौ
चतुरंग सम्पत्ति के अङ्ग निरधार है।
किधौ ए पुरुष रूप चारि पुरुषारथ है,
किधौ बेद-चारिधरे मूरति उदार है ॥
सब गुन आगर, उजागर, सरूर धीर,
'सेनापति' किधौ चारि सागर ससार है।
दीपति बिसाल, किधौ चारि दिगपाल, किधौ
चारौ महराजा दसरथ के कुमार है ॥'

देखिए, व्याजस्तुति का यह उदाहरण कितना सुन्दर है :—

'धीवर कौ सखा है, सनेही बनचरन कौ,
गीध हूँ कौ बन्धु, सबरी कौ मिहमान है।
पण्डव कौ दूत, सारथी है अरजुन हू कौ,
छाती बिप्र-लात कौ धरैया तजिमान है ॥
व्याध अपराध-हारी, स्वान समाधान-कारी,
करै छरीदारी, बलि हू कौ दरबान है।
ऐसो अवगुनी! ताके सेइबे को तरसत,
जानियै न कौन 'सेनापति' के समान है ॥'

सेनापति ने अर्थालङ्कारो के अन्तर्गत प्रसिद्ध और प्रचलित अलंकारों को ही स्थान दिया है। इससे स्पष्ट है कि इस ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति नही थी। अलंकार-वर्णन की दृष्टि से उनका श्लेष-वर्णन ही विशेष महत्वपूर्ण है और इसके अन्तर्गत उन्होने उपमा, प्रतीप, उत्प्रेक्षा, परिकर, उदाहरण, देहरी दीपक, रूपक, मुद्रा आदि की सुन्दर योजना की है। कुछ कवित्त तो ऐसे हैं जिनमे एक साथ कई अलंकार पाए जाते हैं।

सेनापति की छन्द-योजना

सेनापति ने अपने 'कवित्त-रत्नाकर' में मूलतः दो ही छन्दों का प्रयोग किया है : (१) मनहरण कवत्ति और (२) छप्पय। मनहरण कवित्त वर्णिक छन्द का एक भेद है जिसके प्रत्येक चरण में ३१ अक्षर होते हैं और १६१५

पर विराम होता है। अन्त में एक गुरु वर्ण होना आवश्यक है। यदि ८, ८, ७, ८ का क्रम हो तो लय उत्तम होती है। सेनापति ने इस छन्द के प्रयोग मे विशेष सावधानी बरती है। इसमे छन्दोभग दोष तो नही मिलता, पर यति और गति सम्बन्धी दोष कई स्थलो पर मिलते हैं। उदाहरण के लिए उनकी यह पंक्ति लीजिए :—

'सारंग धुनि सुनावै घन रस बरसावै,
मोर मन हरषावै अति अभिराम है।'

इसमे १६, १५ की यति का क्रम तो ठीक है, परन्तु गति अर्थात् लय ठीक नही है। प० उमाशंकर शुक्ल के अनुसार यदि इसे यो कर दिया जाय तो यति के साथ-साथ इसकी गति भी ठीक हो जायगी :—

'सारंग सुनावै धुनि, रस सरसावै घन,
मन हरषावे मोर अति अभिराम है।'

मन हरण कवित्तो की अपेक्षा सेनापति ने छप्पय छन्द कम ही लिखे हैं। छप्पय हिन्दी का मात्रिक-विषम छन्द है। इसमें छः चरण होते ह। इसलिए इसे षटपदी भी कहते हैं। इसमे १५२ मात्राएँ होता हैं। प्रथम चार पद रोला के होते हैं और अतिम दो पद उल्लाला के। सेनापति के छप्पय इस नियम के सर्वथा अनुकूल हैं।

कवित्त और छप्पय के अतिरिक्त सेनापति ने दोहे भी लिखे हैं जिनमे चित्रालकार का वर्णन पाया जाता है। 'पाँचवीं तरंग' मे उनका एक छन्द और मिलता है जिसे 'काव्य-प्रभाकर' मे अमत्त छन्द की संज्ञा दी गई है। इसमे बिना मात्रावाले शब्द रखे जाते हैं। उदाहरण यह है :—

'असरन सरन, सफल खल करषन,
दशरथ-तनय सघन अघ धरषन।
जलज नयन, चर-अचर-अयन, जल—
सदन-सयन, अरचन जन हरषन॥
अचल धरन, गज-दरद-दलन, जग—
रछन-करन, सस-धर गन दरसन।

नरक-हरन 'जय' कहत तरत नर,
अरचत चरन गगन-चर अनगन ॥'

इस छन्द मे 'सेनापति' उपनाम नहीं आ सका है। सेनापति ने अपने छन्दों के चुनाव मे एक विशिष्ट दृष्टिकोण से काम लिया है। उन्होने मुख्यतः उन्हीं छन्दो को अपनाया है जिनमें वह अपना उपनाम आसानी से देने मे समर्थ हो सके हैं। ऐसा उन्होने केवल उनकी रक्षा की दृष्टि से ही किया है। सम्भवतः उनका 'काव्य-कल्पद्रुम' उन्ही के समय में किसी ने चुरा लिया था, इससे उन्हे मजबूर होकर 'कवित्त-रत्नाकर' में विशिष्ट छन्दों को अपनाना पड़ा। यों तो वह पिंगल के पडित जान पड़ते हैं। 'अमित्त' छन्द उनके पिगल-पाण्डित्य का ही उदाहरण है।

सेनापति की शैली

शृङ्गार-काल के कवियो मे काव्य-कला के प्रति अधिक मोह रहा है। सेनापति उसके अपवाद नही हैं। स्वभाव से वह शृङ्गारी और भक्त हैं, पर काव्य के क्षेत्र में उन्होंने अपनी कला-प्रियता का परिचय दिया है। किसी बात को कहने का ढंग शैली है और यह कवि की रुचि और उसकी प्रतिभा के अनुरूप भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है। कोई स्वभावोक्ति को पसन्द करता है—जैसे देव, कोई अतिशयोक्ति पर बल देता है—जैसे बिहारी और कोई वक्रोक्ति चाहता है—जैसे केशवदास। इसी प्रकार भाषा में भी अनुप्रास, यमक और श्लेष अलकारो-द्वारा प्रवाह एवं सौंदर्य की प्रतिष्ठा की जाती है। सेनापति ने अपनी शैली के निर्माण मे इन सब का प्रयोग सफलतापूर्वक किया है। उनकी निम्नांकित रचना मे भाव-पक्ष के साथ-साथ कला-पक्ष का सुन्दर निर्वाह देखिए :—

'नीकी मति लेह, रमनी की मति लेह मति
'सेनापति' चेत कछू, पाहन अचेत है।
करम करम करि करमन कर, पाप
करम न कर मूढ़, सीस भयो सेत है ॥
आवै बनि जतन ज्यौ, रहै बनि जतनन,
पुन्न के बनिज तन-मन किन देत है।

आवत बिराम, बैस बीती अभिराम, तातैं
करि बिसराम, भजि रामैं किन लेत है ॥'

काव्य में भाव और कला पक्षों के इस प्रकार के सुन्दर समन्वय के लिए कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए। सेनापति का अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार है। उनका शब्द-चयन उनके भावों के सर्वथा अनुकूल है। यही कारण है कि उन्हे शब्द-चित्र उतारने में भी पूरी सफलता मिली है। युद्ध-स्थल में राम की मुद्रा का शब्द-चित्र लीजिए :—

'काढ़त निषंग तैं, न साधत सरासन मैं,
खैंचत, चलावत, न बान पेखियत है।
स्रवन मैं हाथ, कुंडलाकृत धनुष बीच,
सुन्दर बदन इकचक लेखियत है॥
'सेनापति' कोप-ओप-ऐन है अरुन नैन,
संबर-दलन मैंन तैं बिसेखियत है।
रह्यौ नत ह्वै कै अंग ऊपर कौं सगर मैं,
चित्र-कैसौ लिख्यौ राजाराम देखियत है ॥'

सेनापति अलंकारवादी थे, इसलिए उन्होने अपनी रचनाओं में शब्दालंकार विशेषतः श्लेष-द्वारा अधिक चमत्कार उत्पन्न किया है। चमत्कार उत्पन्न करने की यह प्रवृत्ति शृङ्गार-काल के प्रायः सभी कवियों में कुछ-न-कुछ पाई जाती है। प० उमाशंकर शुक्ल के मतानुसार 'तत्कालीन वातावरण ही कुछ ऐसा हो गया था कि काव्य मे बिना कुछ विचित्रता हुए उसका कोई मूल्य हो नहीं समझा जाता था। जो अपनी कविताई में जितना ही अधिक चमत्कार दिखला सकता था उसे अपनी लेखनी पर उतना ही अधिक गर्व होता था।' सेनापति भी इसके अपवाद नही थे। उन्होने भी इस भावना से प्रेरित होकर स्थान-स्थान पर गर्वोक्तियाँ की हैं और अपनी रचनाओं में चमत्कार का समावेश किया है।

भाषा की दृष्टि से भी सेनापति की शैली का विशेष महत्त्व है। उन्होने अपनी भाषा में कर्ण कटु शब्दो को अधिक स्थान नहीं दिया है। शब्दों के द्वित्व रूप रखने का आग्रह केवल छप्पयों मे है। शब्दो के कर्ण-

कटु रूप प्रयुक्त न करने पर भी उनकी रचनाओं में ओज गुण पाया जाता है। अपनी भाषा मे ओज गुण लाने के लिए ही उन्होने छप्पयों मे शब्दों के द्वित्व रूपों का प्रयोग किया है, पर कवित्तो मे उन्होंने अपनी इस प्रवृत्ति का परिचय नहीं दिया है। कवित्तो मे उन्होंने प्रायः अनुप्रास से सहायता ली है। गर्वोक्ति तथा वीर रस के परिपाक में उनकी ओजपूर्ण शैली का उदाहरण देखना हो तो ये पंक्तियाँ लीजिए जिनमे हनूमान की गर्वोक्ति हैं :—

'कुलिस कठोरन कौ देखौ नख-कोरन कौं,
लाए नैंक पोरन कौ मेरु चून कैसौ है।
चूर करौ सोरन कौं, कोटि कोट तोरन कौ,
लंकागढ़ फोरन कौ, को रन कौं मोसौ है॥'

श्लिष्ट रचनाओ के अतिरिक्त सेनापति ने प्रायः अपनी रचनाओ में प्रसाद गुण को विशेष महत्त्व दिया हैं। माधुर्य की ओर उन्होने अधिक ध्यान नहीं दिया, फिर भी इस दृष्टि से उनके कुछ कवित्तो में शब्द-सौंदर्य पाया जाता है। शब्द-शक्ति की दृष्टि से उनकी रचनाओं अभिधेयार्थ ही प्रमुख हैं। व्यंजना का प्रयोग उन्होने बहुत ही कम किया है और लाक्षणिक शब्द भी इने-गिने ही है। कहावतें भी नही के बराबर हैं, मुहावरों के प्रयोग में उन्होने अवश्य अपनी भाषा-शक्ति का परिचय दिया है :—

'बीना मैं मधुरनाद सुधा बरसति है।'

× × ×

'दुति मैन का हू की जो हियरे हरति है।'

× × ×

'भूलिजात धाम, सोच बाढ़त है आठौ जाम,
बिना काम तरसि-तरसि मरियत है।'

'मो मन हरत, पै अनत बिहरत, इत
डरत-डरत पग धरनि धरत हौ।'

'कहाँ एती चतुराई, पढ़ी आप जदुराई,
अँगुरी पकरि पहुँचा कौ पकरत हौ।'

सेनापति की भाषा

सेनापति की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है। साथ ही वह मँजी

हुई, परिमार्जित और संयत है। ऐसी सरस, प्रवाहमय और सुसंस्कृत भाषा शृंगार-काल के कुछ ही कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त हुई है। भाषा के साधारण से साधारण शब्द-प्रयोग मे यमक और श्लेष की छटा प्रस्तुत करने वाले सेनापति अपने समय के बेजोड़ कवि हैं। वह ब्रजभाषा के शब्द-भाण्डार से भली-भाँति परिचित हैं और उसका अर्थ-गौरव समझते हैं। उनकी भाषा के दो रूप हैं: (१) संस्कृत-तत्सम-शब्दावली प्रधान ब्रजभाषा और (२) संस्कृत-तद्भव-शब्दावली प्रधान ब्रजभाषा। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग उन्होने अपनी भाषा मे कम किया है। केवल कुछ छप्पयों में ही उन्होने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है:—

'श्री वृन्दाबन-चंद, सुभग धाराधर सुन्दर।
अनुज बंस-बन-दहन बीर जदुबंस पुरंदर॥'

कवित्तों मे सेनापति की ब्रजभाषा का दूसरा रूप पाया जाता है। इसमें संस्कृत के शब्दो के तद्भव रूपों के अतिरिक्त फारसी और अरबी के शब्द भी मिलते हैं। फारसी शब्द अधिकतर पहली तरंग के कवित्तों में प्रयुक्त हुए हैं और वे भी अपने तद्भव रूप मे ही आए हैं। रोसन (रोशन) रुख (रुख़), आसना (आशना), बकसीस (बख़शीश), समादान (शमादान) गोसे (गोशा) आदि फारसी-शब्दों के अतिरिक्त लिबास, इतबार (एतबार), अरस (अर्श) आदि अरबी भाषा के भी शब्दों का प्रयोग कर उन्होने अपनी भाषा को शक्तिशाली एवं प्रभाव-सम्पन्न बनाने की सफल चेष्टा की है। आवश्यकता पड़ने पर उन्होने यत्र-तत्र नए शब्द भी गढ़े हैं, जैसे:—

'परी है बिपत्ति पति लागी 'पतता' नहीं।'

× × ×

'केका के सुने तैं प्रान 'एकाके' रहत हैं।'

गनीमत यही है कि सेनापति की यह प्रवृत्ति कुछ ही शब्दो तक सीमित है। पूर्वी प्रयोगो से भी उन्होने अपनी भाषा को अछूता रखा है। केवल एक स्थान पर 'सन' का प्रयोग हुआ है जो ब्रजभाषा की शब्दावली की चमक-दमक मे छिप-सा गया है। संभव है खोजने पर और भी शब्द मिल जायँ, पर वे हैं नगण्य ही। खड़ीबोली के कतिपय रूपों का प्रभाव उनकी शब्द-योजना पर अवश्य लक्षित होता है। कालवाची क्रिया विशे-

षण 'पीछे' का प्रयोग उन्होंने सर्वत्र किया है। इसके अतिरिक्त अनिश्चय वाचक सर्वनाम 'कोई' भी यत्रतत्र प्रयुक्त हुआ है। परन्तु इस प्रकार के शब्दों के मेल-जोल से उनकी भाषा का प्रवाह कहीं भी मद नहीं है। भावों के अनुकूल शब्द-चयन करने मे उनकी क्षमता अद्वितीय है। अपने अमित्त छंद मे बिना मात्रावाले शब्दों का प्रयोग कर उन्होने अपने भाषा-अधिकार का जैसा सुन्दर परिचय दिया वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस में शक नहीं कि वह भाषा के धनी हैं।

शब्द-गुण की दृष्टि से सेनापति की भाषा में प्रसाद और ओज का आधिक्य है। प्रसाद गुण तो उनकी सभी रचनाओं में पाया जाता है। ओज की दृष्टि से उनकी भाषा के दो रूप हैं। कवित्तों मे उन्होने अपनी ओजपूर्ण भाषा का जो आदर्श प्रस्तुत किया है उसमें अनुप्रास की छटा है, परन्तु इसके विरुद्ध उनके कतिपय छप्पयों में उनकी ओजपूर्ण भाषा शब्दों के द्वित्व रूपों पर आश्रित है। यहाँ उनकी भाषा पर अपभ्रंश काल की परंपरा का प्रभाव है। एक उदाहरण लीजिए :—

'हहार गयौ हरि हिए, धधकि धीरत्तन मुक्किय।
ध्रुव नरिन्द थरहरयौ, मेरु धरनी धसि धुक्किय॥
अक्खि पिक्खि नहि सकइ, सेस नक्खिन लग्गिय तल।
'सेनापति' जय सद्द, सिद्ध उच्चरत बुद्धि बल॥
उद्दंड चंड भुजदंड भरि, धनुष राम करषत प्रबल।
टुट्टिय पिनाक निर्घात सुनि, लुट्टिय दिगंत दिग्गज बिकल॥'

सेनापति की यह भाषा उन्हे चन्द आदि कवियो की श्रेणी मे ले जाकर खड़ा कर देती है। उनके कवित्तों की भाषा पर भी कहीं-कही इस परम्परा का प्रभाव मिलता है, परन्तु उक्त भाषा-शैली की तुलना में वह नागण्य है। उन्होने अपनी शब्द-योजना मे विकृत शब्दों को स्थान नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त उसमे अप्रचलित शब्द भी नही हैं और न हैं ऐसे क्लिष्ट शब्द जिनके अर्थ के लिए बार-बार कोशों के पन्ने पलटने पड़ें। व्यर्थ भरतू शब्द भी उसमें नहीं हैं। इससे उनकी भाषा अत्यन्त स्वाभाविक सरस, कर्ण-सुखद, प्रवाहमय और भावपूर्ण है।

७. बिहारीलाल

जन्म-संवत्-१६५२ : मृत्यु-संवत्-१७२१

जीवन-परिचय

महाकवि बिहारीलाल का जन्म ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत बसुआ गोविन्दपुर में कार्तिक शुक्ल ८, बुधवार, संवत् १६५२ को हुआ था। उनकी इस जन्म-तिथि का उल्लेख कविवर अम्बिका दत्त व्यास ने अपने बिहारी-बिहार मे इस प्रकार किया है :—

'संवत् जुग सर रस सहित भूमि रीति गिनि लीन।
कातिक सुदि बुध अष्टमी, जन्म हमें विधि दीन॥'

अर्थात् जुग = २, सर = ५, रस = ६, भूमि = १ जो अंकानां वामतो गतिः के अनुसार संवत् १६५२ होता है। बिहारी-सतसई में एक दोहा है :-

'जन्म लियो द्विजराज-कुल, स्वबस बसे ब्रज आय।
मेरो हरौ, कलेस सब, केशव केशवराय॥'

इस दोहे के अनुसार उनके पिता का नाम केशवराय था। केशवराय धौम्य गोत्रीय, श्रोत्रीय चतुर्वेदी माथुर थे। कहा जाता है कि सम्वत् १६६० के लगभग वह ग्वालियर से ओरछा चले गए। वहाँ उन्होंने केशवदास (स० १६१२-७४) से भेंट की। उस समय केशवदास की काव्य-कला एवं पाण्डित्य की हिन्दी-संसार मे धूम थी। अत: केशवराय ने अपने पुत्र बिहारीलाल को काव्य-कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए केशवदास के सुपुर्द कर दिया। बिहारी मे प्रतिभा थी, इसलिए थोड़े ही दिनों में उन्होने केशवदास से काव्य-रचना-सम्बन्धी बहुत-सी बातो का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

केशवराय थोड़े ही दिनों तक ओरछा मे रहे। केशवदास के विरक्त हो जाने पर वह बिहारीलाल के साथ ब्रज चले गए। वहाँ रहकर बिहारी ने साहित्य का अच्छा अध्ययन किया। इस समय उनके कुटुम्ब मे चार

प्राणी थे : बिहारी, उनके छोटे भाई बलभद्र, एक बहन और केशवराय। केशवराय की पत्नी का देहान्त बहुत पहले हो चुका था। इसलिए वह अपने बच्चों सहित बाबा नागरीदास के साथ यमुना की कछार में कुटी बनाकर रहते थे। बाबा नागरीदास के वह अनन्य भक्त थे। उन्ही के कहने से उन्होने अपनी पुत्री का विवाह हरीकृष्ण मिश्र के साथ कर दिया। कालान्तर मे इन्हीं हरिकृष्ण मिश्र से हिन्दी के उद्भट विद्वान श्री कुलपति का जन्म हुआ। बिहारी का विवाह ब्रज के एक माथुर ब्राह्मण-परिवार में हुआ और उनके भाई बलभद्र का मैनपुरी मे। इस प्रकार अपने पुत्रों तथा पुत्री का विवाह करने के पश्चात् केशवराय ने वैराग्य ले लिया। पिता के वैरागी हो जाने पर बिहारी का वहाँ रहना असम्भव हो गया। इसलिए वह अपनी ससुराल मथुरा मे रहने लगे। कभी-कभी वह अपने पिता से मिलने के लिए बाबा नागरीदास के पास जाया करते थे। अपने ससुराल में रहने का उल्लेख उन्होने इस दोहे में किया है :—

'जनम ग्वालियर जानिये, खण्ड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥'

बिहारी के गुरु बाबा नरहरिदास थे। एक दिन वह बुन्देलखंड से भगवान कृष्ण की लीला-भूमि वृन्दावन पधारे और यहाँ आकर बाबा नागरीदास के साथ उनकी कुटी मे रहने लगे। नरहरिदास एक वीतराग और त्यागी महात्मा थे। उनकी साधुता की प्रशंसा सुनकर तत्कालीन मुगल सम्राट जहाँगीर (सं० १६२६-८४) उनसे मिलने आए। सौभाग्यवश इसी समय बिहारी भी वहाँ पहुँच गए। नरहरिदास ने अपने प्रिय शिष्य बिहारी का उनसे परिचय करा दिया। इस प्रकार बिहारी को आश्रय मिल गया। जहाँगीर के पुत्र शाहजहाँ (सं० १६३६-१७१५) ने उनका बड़ा सत्कार किया और उन्हे आगरा बुला लिया। यहीं हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना (सं० १६१३-८३) से उनका परिचय हुआ। रहीम बड़े ही गुणग्राही और कवियो के लिए कल्पतरु थे। कहते हैं कि उन्होंने बिहारी के एक दोहे पर मुग्ध होकर उन्हें इतनी स्वर्ण मुद्राएँ दी थीं कि वह उनके ढेर में ढक गए थे। अनुमानतः उनका वह दोहा यह था :—

'गंग गोंछ, मोछैं जमुन, अधरन सरसुति राग।
प्रगट खानखानान कैं, कामद बदन प्रयाग॥'

शाहजहाँ की कृपा से बिहारी को कई राजाओं से वार्षिक वृत्ति भी मिलती थी। नूरजहाँ की कुचालों से जब शाहजहाँ को आगरा छोड़कर दक्षिण की ओर जाना पड़ा तब बिहारी को भी आगरा छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। वह आकर मथुरा में रहने लगे। एक बार वह वर्षाशन लेने के लिए जोधपुर गए। उस समय वहाँ के महाराज जसवन्त सिंह (सं० १६८२-१७३८) बड़े गुणग्राही और साहित्य-प्रेमी थे। कहा जाता है कि उनका बनाया हुआ 'भाषा-भूषण' वास्तव में बिहारी की रचना है। कुछ लोग जोधपुर में दूहा-संग्रह के नाम से उनकी एक और रचना का उल्लेख करते हैं।

बिहारी के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि वह सवत् १६६२ के लगभग वर्षाशन लेने के लिए जयपुर भी गए थे। उस समय वहाँ के महाराज जयसिंह (सं० १६७६-१७२४) अपनी नवविवाहिता रानी के प्रेम में इतने निमग्न थे कि राज्य-काज तक नहीं देखते थे। बिहारी ने जब उनका यह हाल देखा तब उन्होंने मालिन-द्वारा यह दोहा उनके पास भेजा :—

'नहि पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली, कली ही सौं बिध्यो, आगे कौन हवाल॥'

कहते हैं कि महाराज ने इस दोहे को कई बार पढ़ा और इससे वह इतने प्रभावित हुए कि उन्होने राज्य-काज की ओर पुनः ध्यान देना आरम्भ कर दिया। चौहानी रानी तो बिहारी के इस कार्य से इतनी प्रसन्न हुई कि उन्होने उनका बड़ा सत्कार किया और उनका चित्र बनवाकर जयपुराधीश के राज-भवन में लगवा दिया। इस घटना के तीन-चार मास बाद ही रानी अनन्त कुँवरि के गर्भ से राजकुमार रामसिंह का जन्म हुआ और वही आमेर की राजगद्दी के अधिकारी हुए। बिहारी उनके गुरु नियुक्त हुए। इसी समय बिहारी ने सतसई की रचना की। रामसिंह की आज्ञा से बिहारी के दत्तक पुत्र निरंजन कृष्ण अथवा कृष्णलाल ने उनकी सतसई की टीका की।

बिहारी हिन्दू, हिन्दी और हिन्द के पूरे समर्थक थे। जयसिंह के आश्रित कवि होने पर भी उनमे स्वाभिमान की मात्रा का अभाव न था। वह अत्यन्त स्पष्टवादी थे। अपने ७१६ दोहो मे उन्होने जयसिंह की प्रशंसा में ८ या ६ दोहो से अधिक नहीं कहे और इनमे भी उन्होंने महाराज की उचित प्रशंसा की। उनके दोहो में जयसिह के चरित्र की आलोचना भी मिलती है। औरगजेब की ओर से शिवाजी को दबाने के लिए जब वह भेजे गए तब बिहारी ने कहा :—

'स्वारथ सुकृत न श्रम बृथा, देखु विहंग विचारि।
बाजि पराये पानि पर, तू पंछीहु न मारि॥'

इस दोहे का महाराज जयसिह पर गहरा प्रभाव पड़ा। राजकुमार रामसिंह मे देश और जाति के प्रति उदात्त भावनाएँ भरनेवाले ही थे। 'सतसई' समाप्त होने के थोड़े दिनो बाद उन की पत्नी का देहान्त हो गया। इस घटना का उनके जीवन पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह संसार से विरक्त होकर आमेर से वृन्दावन चले गए और अपना शेष जीवन वहीं शान्तिपूर्वक व्यतीत कर सवत् १७२१ मे परमधाम सिधारे।

बिहारी की रचना

बिहारी की केवल एक रचना उपलब्ध है और वह है 'सतसई' (स० १६६२-१७०४)। इसमे उनके ७१६ दोहे संकलित है। इसके अतिरिक्त पं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (सं० १६२३-८६) ने बहुत-सी प्रतियो को मिलाकर लगभग १५० दोहे और छाँटे हैं। सतसई का आरम्भ संवत् १६६२ मे हुआ था। यह बिहारी के कितने दिनो के परिश्रम का फल है, इस सम्बन्ध में कोई बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। वर्तमान अनुसन्धानों से इतना पता चलता है कि सवत् १७०० मे जब राजकुमार रामसिंह को विद्यारम्भ कराया गया तब सतसई बन चुकी थी और उसके ५०० दोहों का सग्रह करके बिहारी ने राजकुमार को पढ़ाने के लिए एक पाठ्य-पुस्तक तैयार की थी। ८ वर्ष मे बिहारी ने केवल ७१६ दोहो की रचना की, यह बात समझ मे नहीं आती। जो भी हो, उनकी अन्य रचनाओं के अभाव में हिन्दी-साहित्य को उनकी इस रचना पर गर्व है।

'देव' के पढ़नेवाले बहुत कम हैं, 'मतिराम' का तो लोग नाममात्र जानते हैं, 'केशवदास' का प्रचार उनकी क्लिष्ट रचना के कारण कम है, 'सूर' और 'तुलसी' भक्त-मण्डली तक सीमित हैं, 'पद्माकर' अपनी लच्छेदार रचना के लिए प्रसिद्ध है, परन्तु बिहारी की रचनाओं का अध्ययन उनकी साहित्य-सामग्री के कारण होता है। उनकी लोकप्रियता इतनी अधिक है कि अबतक सतसई की ३८ टीकाएँ हो चुकी हैं। इसमें से २४ गद्यात्मक और १० पद्यात्मक टीकाएँ हैं। २ अनुवाद संस्कृत मे किए गए हैं, एक पद्यात्मक अनुवाद उर्दू मे और एक फारसी मे है।

बिहारी-सतसई मुक्तक काव्य है। मुक्तको में कोई क्रम नही होता। इसलिए बिहारी सतसई का कोई निश्चित क्रम नहीं है। लोगों का कहना है कि सब से पहले औरंगजेब के पुत्र आजमशाह (मृ० सं० १७६४) ने इसे क्रमबद्ध कराया था। इसलिए वह आजमशाही-क्रम से विख्यात है। बिहारी ने किस क्रम से इन मुक्तको का निर्माण किया था, यह अनिश्चित-सा है। अबतक इसके १३-१४ क्रम मिलते हैं जिनमे से ५-६ प्रसिद्ध है।

बिहारी सतसई का समाप्ति काल १७०४ माना जाता है। इसी वर्ष महाराज जयसिंह औरगजेब के साथ बलख की लड़ाई पर गए थे और वहाँ से विजयी होकर लौटे थे। बिहारी ने इस अवसर पर निम्नलिखित दोहे पढ़े :—

'सामा सेन शयान सुख, सबै साह के साथ।
बाहुबली जयसाहजू, फते तिहारे हाथ॥
यों दल काढे बलख तें, तै जयसाह भुवाल।
उदर अघासुर के परे, ज्यों हरि गाय-गुवाल।
घर घर हिन्दुनि तुरकिनी, देत असीस सराहि।
पतिन राखि चादर चुरी, तै राखी जयसाहि॥'

और अपनी सतसई महाराज को भेंट कर दी।

सतसई के बहुसंख्यक दोहो का सकेत राधाकृष्ण की केलि-क्रीड़ा की ओर है। उनका प्रयोजन है, काव्य-कला का निर्देशन और अलकारो का संप्रदर्शन। आजमशाही-क्रम के अनुसार प्रारभिक दोहो का विषय

सामान्य है। अगले दोहों में नायिका-भेद वर्णन किया गया है। इसके बाद रसो का विवेचन है। इस प्रकार के विवेचन में शृंगार रस की प्रधानता है। बिहारी ने अपने शृंगार की योजना में उसके सयोग तथा वियोग पक्ष का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। तीसरे प्रकरण में 'नख-शिख' तथा 'ऋतु-वर्णन' है। चौथे प्रकरण मे हास्य, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक आदि रसों का विवेचन है। अन्त में नीति और वैराग्य-सम्बन्धी दोहे भी हैं।

बिहारी का समय

बिहारी का समय मुग़ल-साम्राज्य के वैभव का समय था। वस्तुतः वह उसका स्वर्ण-युग था। अकबर की मृत्यु हो चुकी थी। जहाँगीर दिल्ली के राज-सिंहासन पर आसीन था। उसकी शासन-नीति अकबर की शासन-नीति थी। इसलिए मुगल-साम्राज्य को हिन्दू-राजाओं की ओर से किसी प्रकार का भय नहीं था। लड़ाई-झगडे होते अवश्य थे, पर बहुत कम। देशव्यापी विद्रोह दब-से गए थे। किसी में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध तलवार उठा सके। ऐसी स्थिति में विलासिता ने वीरता का स्थान ले लिया। राजदरबार विलास-प्रियता में निमग्न हो गए। खड्ग की झङ्कार की अपेक्षा नूपुर की झङ्कार सुनना ही उनका मुख्य ध्येय हो गया। राजदरबार की इस मनोवृत्ति का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। उस समय हिन्दी के कवि प्रायः राजदरबारों के आश्रित थे। प्रत्येक कवि अपने प्रतिद्वन्द्वी से बाज़ी ले जाना चाहता था और अपने आश्रयदाता को येन-केन-प्रकारेण प्रसन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहता था। इसके लिए उसे संस्कृत और प्राकृत-साहित्य मे अवगाहन कर नये रत्न निकालने पड़ते थे और उन्हें नये रूप मे रखना पड़ता था। इस प्रकार कविता स्फूर्ति का विषय न बन कर एक आवश्यकता की पूर्ति का विषय बन गई थी। भक्ति-काल के राधा और कृष्ण नायक और नायिका के रूप मे प्रस्तुत किए जा रहे थे। रस और अलकार के लक्षण की आड़ में ब्रज की विरहिणियों के अमर्यादित चित्रण हो रहे थे। भक्त-कवियो मे धार्मिक भावना का प्राधान्य था, कविता उनके लिए साधन थी। परन्तु इस युग के कवियों ने कविता को साध्य बनाया और भक्ति उनकी विलासमयी भावनाओं पर सुन्दर

आवरण डालने की वस्तु बन गयी। बिहारी इसी युग की उपज थे।

बिहारी के समय तक लक्ष्य एवं लक्षण-ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। जायसी का 'पद्मावत', सूर का 'सागर' और तुलसी का 'राम-चरित-मानस' ऐसे लक्ष्य ग्रन्थ थे जिन्हें जनता अपना चुकी थी। लक्षण-ग्रन्थों मे केशव की 'कविप्रिया' तथा 'रसिकप्रिया' को यथेष्ट सम्मान मिल चुका था। हिन्दी-काव्य की विभिन्न शैलियाँ भी निर्धारित हो चुकी थीं। शृङ्गार और नीति के मुक्तकों के लिए कवित्त, सवैये और दोहे स्वीकृत हो चुके थे। दोहो की परंपरा बहुत पुरानी थी। संस्कृत-साहित्य में कई सप्तशतियाँ थीं, जिनमें 'आर्या-सप्तशती' का विशेष स्थान था। प्राकृत में 'गाथा सप्तशती' आदि प्रसिद्ध रचनाएँ थीं। हिन्दी में भी 'रहीम-सतसई' और 'तुलसी सतसई' आदि की रचना हो चुकी थी।

बिहारी का समय हिन्दी-साहित्य के काल-विभाजन के अनुसार शृङ्गार-काल कहा जाता है। इस काल के बिहारी अग्रदूत थे। अपने समकालीन कवियों में उनका एक विशेष स्थान था। शाहजहाँ के दरबार मे यद्यपि सुन्दर, दूलह, कुलपति मिश्र आदि का बोलबाला था, तथापि बिहारी की-सी काव्य-प्रतिभा उनमें से किसी मे भी नहीं थी। शाहजहाँ बिहारी को ही अधिक मानते थे। बिहारी का समय बिहारी की काव्य-प्रतिभा के अनुकूल था। उस समय के शान्त और विलासपूर्ण वातावरण मे नायिका-भेद और शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य किसी विषय का रंग ही नहीं जम सकता था। बिहारी का हृदय शृङ्गार से परिपूर्ण था। इसलिए उसी ओर उनकी कवित्व-शक्ति का सहज विकास हो सका।

बिहारी की जानकारी

बिहारी के जीवन से उनके काव्य का अधिक सम्बन्ध है। आरंभ में उन्होंने केशवदास के साथ रहकर विधिवत् काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया। इससे केशव के आचार्यत्व का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा। केशव-दास जबतक जीवित रहे, तब तक उन्होने उनका साथ नही छोड़ा। उनकी मृत्यु के पश्चात् वह ओड़छा त्याग कर अपने पिता के साथ ब्रज चले गए। यहाँ भी उन्होंने कृष्ण-भक्तों के साथ रहकर कृष्ण-साहित्य का विशेष

अध्ययन किया। इससे उन की प्रतिभा को विकसित होने का अच्छा अवसर मिला। ब्रज-भूमि मे अपने प्रारंभिक जीवन का अधिक भाग व्यतीत करने के कारण उन्होंने ब्रजभाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया और ब्रज-वनिताओं के रहन-सहन से उनका अच्छा परिचय हो गया। यही कारण है कि उन की भाषा में अधिक माधुर्य और लोच है और नारी-सौन्दर्य के प्रति उनका सहज आकर्षण है।

बिहारी केशवदास के टक्कर के पंडित नहीं थे, पर जिन विषयो की उन्हें न्यूनाधिक जानकारी थी उनको उन्होंने अपनी मौलिकता से इतना अधिक चमका दिया था कि वह उन विषयों के पंडित जान पड़ते थे। उनकी निरीक्षण-शक्ति अद्भुत थी। उन्होने अपनी इसी शक्ति के प्रयोग से ज्ञान संचय किया था। राजनीति का अध्ययन उन्होने किसी पुस्तक से नहीं किया, ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें किसी ज्योतिष-शास्त्र के देखने की आवश्यकता नहीं हुई। पर इन दोनों विषयों का ज्ञान उनके इस दोहे से :—

'दुसह दुराज प्रजानि को क्यों न बढ़ै अति दन्द।
अधिक अँधेरो जग करै, मिलि पावस रवि चन्द॥'

स्पष्ट हो जाता है। उनके वैद्यक के ज्ञान का परिचय निम्न दोहे से मिलता है। इसमें श्लेष-द्वारा सुदर्शन चूर्ण की योजना देखिए :—

'यह विनसत नग राखि के, जगत बड़ो जस लेहु।
जरी विषम जुर ज्याइये, आइ सुदरसन देहु॥'

बिहारी गणित के आचार्य नहीं थे। एक साधारण विद्यार्थी को गणित का जितना ज्ञान होता है उतना ही बिहारी को भी रहा होगा, परन्तु इस विषय का जितना भी ज्ञान उन्हें था उसे उन्होने अपनी काव्य-कल्पना से इतना आकर्षक बना दिया है कि हिन्दी-संसार को उनके गणितज्ञ होने में सन्देह नही हो सकता। निम्नलिखित दोहों में उनकी गणित-सम्बन्धी कल्पना का चमत्कार देखिए :—

'कहत सबै बेंदी दिये, आँकु दस गुनौ होत।
तिय-लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़त उदोत॥'

× × ×

'कुटिल अलक छुटि परत मुख, बढ़िगौ इतौ उदोतु ।
बंक बिकारी देत ज्यौं, दाम रुपैया होतु ॥'

बिहारी ने पुराण, सांख्य तथा वेदान्त-शास्त्र का गंभीर अध्ययन किया था या नहीं, इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सन्तों तथा महात्माओं के सम्पर्क में रहने के कारण उन्हें उक्त धार्मिक ग्रन्थों के दार्शनिक विचारों का ज्ञान अवश्य प्राप्त हो गया था। इस ज्ञान का उपयोग उन्होने अपनी रचनाओं में भी किया है। एक दोहा लीजिए :—

जगत जनायो जेहि सकल, सो हरि जान्यो नाँहिं ।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँखि न देखी जाँहिं ॥'

वेदान्त के सिद्धान्त को परिपुष्ट करनेवाला यह दोहा भी पढ़िए:—

'यह जग काँचो काँचु सो, मैं समुझ्यो निरधार ।
प्रतिबिंबित लखियत जहाँ, एकै रूप अपार ॥'

वैज्ञानिक सिद्धान्तो की गहरी जानकारी बिहारी को चाहे न रही हो, परन्तु उनके सम्बन्ध मे सामान्य जानकारी जैसी उन्हे थी वैसी उनके समकालीन किसी भी कवि को नहीं थी। अपनी रचनाओं में उन्होंने अपनी इस जानकारी के बल पर जो भाव-सौदर्य उत्पन्न किया है वह अद्वितीय है। रंगो के मिश्रण की कला के वह कितने अच्छे ज्ञाता थे, इसका परिचय उनके निम्न दोहो से मिलता है :—

'अधर धरत हरि के परत, ओठ, दीठि पट-जोति ।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष रंग होति ॥'

× × ×

'मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय ।
जा तन की झाँई परे, स्याम हरित दुति होय ॥'

उक्त दोनो दोहों में बिहारी ने अपने रगो के मिश्रण-सम्बन्धी ज्ञान का जितने सुन्दर ढंग से परिचय दिया है इतने सुन्दर ढग से आज के वैज्ञानिक युग के बड़े-बड़े कवि भी नहीं दे सके हैं। विज्ञान का साधारण

विद्यार्थी जानता है कि दो शीशों के बीच मे जब कोई वस्तु रखी जाती है तब उसके अनेक प्रतिबिम्बि दिखाई पड़ते हैं। इस बहु-प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त के आधार पर बिहारी ने नायिका के शृङ्गार-वर्णन मे कितनी सुन्दर कल्पना की है, यह देखिए और उनके कवित्व-शक्ति की सराहना कीजिए :—

'अँग-अँग प्रतिबिम्ब परि, दरपन-से सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे भूषन जाने जात॥'

एक नहीं, ऐसे अनेक दोहे बिहारी की रचनाओ से प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनसे उनकी वैज्ञानिक रुचि का परिचय मिलता है। प्रमाण के लिए एक दोहा और लीजिए। इसमे जल के नल-सम्बन्धी सिद्धान्त का उपयोग किया गया है :—

'नल अरु नल-नीर की गति एकै कर जोइ।
जेतो नीचे ह्वै चलै तेतो ऊँचो होइ॥'

बिहारी न तो ज्योतिषी थे, न वैद्य और न सन्त अथवा भक्त। किसी विज्ञान की पाठशाला में भी उन्होने शिक्षा नहीं पाई थी। इसलिए उन्हें अनेक विषयो का प्रकाण्ड पण्डित मानना अतिशयोक्ति होगी। परन्तु इसमे सन्देह नही कि जीवन और उससे सम्बन्ध रखनेवाले अनेक विषयों का उन्हे पर्याप्त अनुभव था। उनकी पर्यवेक्षण-शक्ति अद्भुत थी। वह जो कुछ देखते थे उसे इतना पचा लेते थे कि वह उनके रक्त और माँस का अंग बन जाता था। उनकी इस विशेषता का प्रमाण उनके प्रत्येक दोहे से मिलता है।

बिहारी की काव्य-साधना

शृङ्गार-काल (सं० १७००-१९००) की रचनाओं मे बिहारी की 'सतसई' का सर्वोच्च स्थान है। यही उनकी एकमात्र कृति है। इसमे ७१९ दोहे हैं, इसलिए इसका नाम 'सतसई' है। यह 'सतसई' 'तुलसी-सतसई' और 'मतिराम-सतसई' से भिन्न है। 'तुलसी-सतसई' मे 'रामचरित मानस' के दोहे है और 'मतिराम-सतसई' में 'रस-राज' और 'ललित ललाम' के दोहे संगृहीत हैं। परन्तु 'बिहारी-सतसई' बिहारी की स्वतन्त्र रचना है।

'रहीम-सतसई' इसके मुकाबले की रचना कही जा सकती है, परन्तु विषय की दृष्टि से दोनो मे विशेष अन्तर है। 'रहीम-सतसई' नीति-प्रधान है और 'बिहारी-सतसई' शृङ्गार-प्रधान। 'बिहारी-सतसई' को यदि शृङ्गार रस का भी शृङ्गार कहा जाय तो अतियुक्ति न होगी। इसकी देखा-देखी हिन्दी मे अनेक सतसइयों की रचना हुई, परन्तु उन सब की अपेक्षा इसे जो लोकप्रियता मिली वह किसी को भी प्राप्त न हो सकी। इसके दोहों से प्रभावित होकर किसी आलोचक ने यहाँ तक कह दिया :—

'सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत मे छोटे लगै, घाव करैं गंभीर॥'

इसमे सन्देह नहीं कि 'बिहारी-सतसई' हिन्दी-साहित्य के शृंगारी भावों की मंजूषा है। इस मंजूषा मे ऐसे भाव-रत्न हैं जो काव्य-कला की कसौटी पर सोरह आना खरे उतरते हैं। क्या बुद्धि-तत्त्व, क्या कल्पना-तत्त्व, क्या भाव तत्त्व और क्या कला-तत्त्व सभी दृष्टियों से हिन्दी-काव्य में इसका स्थान बेजोड़ है। यही एक ऐसा काव्य-ग्रन्थ है जिस पर कुण्डलियो, छप्पयो, और कवित्तों मे टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। इस पर कृष्ण-कवि ने जो टीका लिखी है उसमे उन्होंने इसकी भाषा और भाव-व्यंजना को लक्ष्य करके कहा है :—

'ब्रजभाषा बरनी कबिन, बहु विधि बुद्धि विसाल।
सबको भूषन सतसई, करी बिहारी लाल॥'

बिहारी ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास के जिस युग मे जन्म लिया उस युग मे कवियों की तीन कोटियाँ थीं—एक तो वे कवि थे जो कला के उद्‌घाटन के लिए भावो का महत्व स्वीकार करते थे, दूसरे वे कवि थे जो भावो के उद्‌घाटन के लिए कला का महत्व स्वीकार करते थे और तीसरे वे कवि थे जो कला की पृष्ठ-भूमि पर भावो के उद्‌घाटन का महत्व स्वीकार करते थे। पहले कोटि के कवियो को यदि आचार्य और दूसरे कोटि के कवियो को यदि केवल कवि कहा जाय तो तीसरे कोटि के कवियों को कवि तथा आचार्य दोनो एक साथ मानना होगा। बिहारी इसी तीसरे कोटि के कवि थे। उनके व्यक्तित्व मे कवित्व और आचार्यत्व का अद्‌भुत मेल

था। आलोचक प्रवर श्री गुलाबराय के शब्दों मे 'यदि लक्षण लिखने को आचार्यत्व की कसौटी माना जाय तो बिहारी आचार्य नहीं थे, किन्तु यदि शास्त्र-ज्ञान को आचार्यत्व का निर्णायक माना जाय तो बिहारी के आचार्यत्व मे किसी प्रकार की कमी न थी।' उनकी रचनाओ मे 'शृंगार-सम्बन्धी काव्य के सभी उत्पादन—संचारी, अनुभाव, हाव-भाव आदि अलंकारों के सूत्र मे गुथे हुए मिलते हैं।'

विषय की दृष्टि से बिहारी के दोहे कई प्रकार के हैं। मोटे तौर पर यदि उनका वर्गीकरण किया जाय तो उनमे (१) विनय-सम्बन्धी दोहे, (२) नीति-सम्बन्धी दोहे, (३) षट-ऋतु-सम्बन्धी दोहे, (४) शिखनख-संबंधी दोहे, (५) नायक एवं नायिका-भेद-संबंधी दोहे, (६) प्रेम-निरूपण-संबंधी दोहे, (७) संयोग शृंगार-संबधी दोहे और (८) वियोग शृंगार संबंधी दोहे मिलेंगे।

(१) **विनय सम्बन्धी दोहे**—बिहारी ने विनय-संबंधी दोहे अधिक नहीं लिखे हैं। वह राधा और कृष्ण के भक्त थे। इसलिए उन्होंने आरंभ में राधा की, फिर कृष्ण के बाल रूप की और अन्त में राधा एवं कृष्ण के युगल-मूर्ति की वन्दना की है। इस प्रसंग में गोवर्धन-धारण, रास-नृत्य और मुरली का वर्णन भी आ गया है। एक उदाहरण लीजिए :—

'तजि तीरथ, हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुराग।
जिहि ब्रज केलि निकुंज मग पग-पग होत प्रयाग ॥'

इस दोहे में तीर्थ आदि को त्याग कर राधा-कृष्ण की युगल-मूर्ति की प्रेमपूर्वक उपासना करने की शिक्षा दी गई है और चरणो की नख-प्रभा से श्वेत, तलवो की आभा से लाल तथा कृष्ण के चरणो के पृष्ठ भाग से श्याम कान्ति की आभा पड़ने से गंगा, सरस्वती एवं यमुना अर्थात् त्रिवेणी का होना सिद्ध किया गया है।

(२) **नीति सम्बन्धी दोहे**—नीति-सबंधी दोहे उपदेशात्मक हैं। ऐसे दोहो मे सज्जन, सम्पत्ति, दुर्जन, कृपण, नीच आदि के लक्षणो का वर्णन है। इसी प्रसंग मे लोकरीतियों और अन्योक्तियो को भी स्थान दिया गया है। लोक-रीति का एक उदाहरण लीजिए :—

'कहै इहै सब स्रुति-स्मृति, इहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक ही, पातक, राजा, रोग ॥'

हिन्दी में दीनदयाल गिरि प्रसिद्ध अन्योक्तिकार माने जाते हैं। उनका 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' हिन्दी का अत्यन्त लोक-प्रिय ग्रन्थ है। इसकी तुलना में बिहारी की अन्योक्तियाँ सख्या मे बहुत कम हैं, परन्तु कम संख्या मे होने पर भी उनका विशेष महत्व है। एक चुभती हुई अन्योक्ति लीजिए :—

'दिन दस आदर पायकै, करिलै आपु बखान।
जौ लौं काग सराध पख, तौ लौ तो सनमान ॥'

(३) षट्-ऋतु सम्बन्धी दोहे—बिहारी ने षट्-ऋतुओ का वर्णन प्राचीन काव्य-परपरा के अनुसार उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत किया है। भारत मे छः ऋतुएँ होती हैं: (१) वसन्त, (२) ग्रीष्म, (३) पावस, (४) शरद, (५) हेमन्त और (६) शिशिर। इन ऋतुओ के वर्णन में बिहारी ने पावस, वसन्त और हेमन्त को विशेष महत्व दिया है। वसन्त के अन्तर्गत फाग और होली तथा पावस के अन्तर्गत हिडोले का वर्णन अत्यन्त सजीव है। पावस-वर्णन से एक उदाहरण लीजिए :—

'पावक-झर तें मेह-झर, दाहक दुसह विशेष।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देख ॥'

ग्रीष्म का प्रभाव इस दोहे मे देखिए : -

'कहलाने एकत बसत, अहि, मयूर, मृग, बाघ।
जगत न तपोबन-सों कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥'

(४) शिख-नख सम्बन्धी दोहे—बिहारी का शिख-नख-वर्णन हिन्दी-काव्य की अनुपम निधि है। शिख-नख-वर्णन दो प्रकार का होता है—एक मे केवल अंगो का और दूसरे मे आभूषण-सहित अगो का वर्णन रहता है। बिहारी ने इन दोनो शैलियों का अपने शिख-नख-वर्णन मे उपयोग किया है, परन्तु उन्होंने पहली शैली को ही विशेष महत्व दिया है। वह सहज सौंदर्य के उपासक थे। इसलिए उन्होने आभूषणो को 'दर्पण के-से मोरचे' कहकर एक तरह से उनकी उपेक्षा की है। उनका यह दोहा लीजिए :—

'तन भूषन, अंजन दगनि, पगन महावर रंग।
नहि सोभा को साज ये, कहिबे हीं को अग ॥'

इसका यह मतलब नहीं कि बिहारी शरीर को सौंदर्य-वृद्धि मे आभूषणो का महत्त्व स्वीकार नहीं करते थे। उन्होने प्रायः सभी आभूषणो का बड़ी रुचि से वर्णन किया है और इस क्षेत्र मे उन्हे अन्य कवियो की अपेक्षा अधिक सफलता मिली भी है। अनवट की शोभा इस दोहे मे देखिए:—

'सोहत अँगुठा पाय के, अनवट जरयौ जराय।
जीत्यौ तरिवन दुति सु दरि, परयो तरनि मनु पाय ॥'

बिहारी ने शरीर की सौंदर्य-वृद्धि मे आभूषणो की अपेक्षा वस्त्रो को अधिक महत्त्व दिया है। एक दोहा लीजिए :—

'सोनजुही-सी जगमगै, अँग-अँग जोबन-जोति।
सुरंग कुसुम्भी चूनरी, दुरँग देह-दुति होति ॥'

यहाँ तक हुआ वस्त्राभूषण-सहित अगो का वर्णन, अब शिख-नख-वर्णन लीजिए। इस प्रसग मे बिहारी ने प्रायः सभी अगो पर कुछ-न-कुछ कहा है, पर सब से अधिक उन्होने नेत्रो के संबंध में ही कहा है। नेत्र-वर्णन-सबधी यह दोहा लीजिए :—

'रस सिगार मजन किये, कजन-भंजन दैन।
अजन-रंजन हू बिना, खंजन-गंजन नैन ॥'

(५) **नायिका-भेद-वर्णन सबधी दोहे**—बिहारी ने नायिका-भेद-वर्णन प्राचीन शास्त्रीय विधि के अनुसार किया है। स्वकीया, नवोढ़ा, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, मध्या, परकीया, खडिता, गर्विता, उत्कंठिता, क्रिया-विदग्धा आदि के वर्णन के साथ उन्होने धृष्ट तथा दक्षिण नायक के भी उदाहरण दिए हैं। स्वीकीया-वर्णन से एक उदाहरण लीजिए :—

'सेद सलिल, रोमांच कुस, गाहि दुलही अरु नाथ।
हियो दियो संग हाथ से, हथलेवा ही हाथ ॥'

(६) **प्रेम-निरूपण-सबंधी दोहे**—बिहारी प्रेमी जीव थे। इसलिए उन्होने अपने कुछ दोहो मे प्रेम का आदर्श भी प्रस्तुत किया है। नेह-नगर का वर्णन करते हुए उन्होने कहा है :—

'छुटन न पैयत छिनकु बसि, नेह-नगर यह चाल ।
मारयौ फिरि-फिर मारिये, खूनी फिरत खुस्याल ॥'

और दाम्पत्य-प्रेम का आदर्श क्या होना चाहिए यह भी बिहारी के शब्दो में जान लीजिए :—

'उनको हित, उनही बनै, कोऊ करौ अनेक ।
फिरत काग-गोलक भयो, दुहूँ देह ज्यौ एक ॥'

(७) संयोग-वर्णन-संबधी दोहे—बिहारी हिन्दी के रसिक कवि थे। इसलिए उन्होने नायक-नायिक के सयोग वर्णन मे अपनी काव्य-प्रतिभा का पूरा परिचय दिया है। उसमें कला-पक्ष के साथ-साथ हृदय-पक्ष भी अपनी सीमा के भीतर झलकता है। इसमे सन्देह नही कि बिहारी ने अपने संयोग-वर्णन में युग और वातावरण के प्रभाव से मर्यादा और औचित्य का उल्लघन किया है, फिर भी वह कल्पना एव भाव-सौष्ठव की दृष्टि से अद्वीतीय है। उसमे यदि एक ओर वर्णन की सजीवता है तो दूसरी ओर भावों के चित्रण मे मनोविज्ञान का गौरव। यही कारण है कि उसमे हमारे मन को समेट लने की अद्भुत शक्ति है। एक उदाहरण लीजिए :—

'ठाढ़ी मन्दिर पै लखै, मोहन-दुति सुकुमारि ।
तन थाके हू ना थके, चख चित चतुरि निहारि ॥'

इस दोहे मे सयोग शृंगार की पूर्ण सामग्री मौजूद है और रूप-छबि की उचित परिभाषा भी है। सयोग-शृङ्गार का एक उदाहरण और लीजिए :—

'मिलि परछाही जोन्ह-सों, रहे दुहुनि के गात ।
हरि-राधा एक संग ही चले गली मे जात ॥'

दम्पति-प्रशंसा मे यह दोहा बेजोड़ हैं। राधा का शरीर चाँदनी मे मिल जाता है और कृष्ण उनकी छाया मे दिखाई नही पड़ते। इसमें कल्पना-कौतूहल तो है ही, साथ ही यह नायक-नायिका के प्रगाढ़ प्रेम का व्यजक भी है।

(८) वियोग-वर्णन-संबंधी दोहे—संयोग-वर्णन की भाँति ही बिहारी का वियोग-वर्णन भी अत्यन्त सजीव एव मार्मिक है। राधा के वियोग मे श्रीकृष्ण की व्याकुलता का चित्र इन पक्तियो मे देखिए :—

'कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीतपट, कहूँ मुकुट, बनमाल ॥'

इस दोहे में दूती नायिका को नायक की विरह-वेदना का परिचय दे रही है। इसमें रति स्थायी भाव है, जड़ता संचारी भाव है, दम्पति आलबन है, सखी उद्दीपन है और बेहाल पड़े अनुभाव है। इस प्रकार इसमें वियोग शृ गार को पूर्ण सामग्री प्रस्तुत है। अब कृष्ण के वियोग में राधा का एक चित्र लीजिए :—

'नेकु न जानी परत यों, परयो बिरह तन छाम।
उठत दिया लौं नादि हरि, लिये तिहारो नाम ॥'

बिहारी ने अपने वियोग वर्णन मे वियोग-दशा की प्रायः सभी अवस्थाओ के चित्र सफलतापूर्वक उतारे है, परन्तु कही-कहीं उन्होंने अत्युक्तियो से इतना अधिक काम लिया है कि वे उपास की मात्रा तक पहुँच गए हैं। ऐसे चित्र स्वाभाविक प्रतीत न होकर अस्वाभाविक-से प्रतीत होते है। उनमे कल्पना-कौतूहल तो है, पर भावो की तन्मयता नहीं है। नायिका की दुर्बलता और उसाँस की प्रबलता दिखाने के लिए व्याधि-दशा का यह वर्णन लीजिए :—

'इत आवति, चलि जात उत, चली छसातक हाथ।
चढी हिंडोरे-सी रहै, लगी उसासन साथ ॥'

इस दोहे के पढ़कर उस वियोगिनी के प्रति किसी के हृदय मे सहानुभूति का लेशमात्र भी सचार नही हो सकता जिसका यह अत्युक्तिपूर्ण चित्र उतारा गया है। स्पष्टतः बिहारो पर यह उर्दू-काव्य का प्रभाव है।

बिहारी की रस-योजना

बिहारी हिन्दी के भाव-प्रवण कवि हैं। उनके काव्य का मुख्य विषय है—रति। यह शृङ्गार का स्थायी भाव है और इसके दो पक्ष हैं : (१) संयोग और (२) वियोग। इन दोनो पक्षो को लेकर बिहारी ने बहुत चुभते दोहे कहे हैं। प्रबन्ध काव्य मे रस-परिपाक के जितने अच्छे अवसर आते हैं उतने मुक्तक मे नहीं आते, फिर भी उनके दोहे रस से भरपूर हैं। उनमें बिहारी ने कहीं प्रत्यक्ष रूप से और कहीं संकेत रूप से संपूर्ण रस-सामग्री

को स्थान देकर 'गागर मे सागर' भरने की सफल चेष्टा की है। संचारी और अनुभावो के वर्णन मे वह अपने युग के अनन्य कवि हैं। आश्चर्य सचारी का एक उदाहरण लीजिए :—

'गोपिन संग निसि सरद की रमत रसिक रसरास।
लहाछेह अति गतिन की सबनि लगे सब पास ॥'

ईर्ष्या सचारी, विच्छित्ति हाव और वैवर्ण्य अनुभाव तीनो का एक साथ मेल इस दोहे मे देखिए :—

'तीज परब सौतिन सजे, भूषन बसन शरीर।
सबै मरगजे मुँह करी, वहै मरगजे चीर ॥'

बिहारी ने चिन्ता, चपलता, त्रास, लज्जा, गर्व, ईर्ष्या, अभिलाषा, शंका, स्मृति, वितर्क, उन्माद, उद्वेग, जडता, आवेग, विषाद, धृति, हर्ष आदि संचारी भावो, स्वेद, रोमांचा, स्तभ आदि अनुभावों और विलास, विच्छित्ति आदि हावो का अच्छा वर्णन किया है। सयोग-शृङ्गार का यह दोहा लीजिए जिसमे 'हास्य' सचारी शृङ्गार का सहायक है और साथ ही 'विलास' हाव की सुन्दर छटा भी दीख पडती है :—

'बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौह करै, भौंहन हँसै, देन कहै, नटि जाय ॥'

शृङ्गार के अतिरिक्त बिहारी ने अन्य रसो को भी गौण रूप से स्थान दिया है। शृङ्गार और शान्त दोनो का आनन्द एक साथ उठाना हो तो यह दोहा लीजिए :—

'या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों-ज्यों बूडै श्याम-रंग, त्यों-त्यों उज्जल होय ॥'

शान्त रस का स्थायी भाव 'निर्वेद' है। इसके अन्तर्गत बिहारी ने कुछ ही दोहे कहे हैं, परन्तु उनमें भी उनका हृदय बोल उठा है। उदाहरण के लिए यह दोहा लीजिए :—

'कीजे चित्त सोई, तरौं जिहि पतितन के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गनन गनौ न गोपीनाथ ॥'

अद्भुत रस का यह दोहा लीजिए जिसमे शृगार उसका सहायक है :—

'दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति ॥'

अब शृंगार मे अद्भुत का मेल देखिए :—

'तिय ! कित कमनैती पढी, बिन ज़िह भौह कमान ।
चल चित बेझो चुकति नहि, बंक बिलोकनि बान ॥'

एक दोहा और लीजिए जिसमे शृङ्गार के साथ वीर रस का पुट है :—

'पहुँचत डटि रन सुभट-लौ, रोकि सकैं सब नाहि ।
लाखन हू की भीर मे, आँख उतै चलि जाहिं ॥'

बिहारी ने कोई लक्षण-ग्रन्थ नही लिखा, फिर भी उनकी 'सतसई' मे शृङ्गार रस के उभय पक्षो के अन्तर्गत हाव, भाव, अनुभाव, शिख-नख, षट्-ऋतु, दूती, नायिका-भेद सभी के वर्णन मिलते है।

बिहारी की अलंकार-योजना

बिहारी ने अपनी कविता मे काव्य के प्रायः सभी अंगो का यथोचित समावेश किया है। भाव-पक्ष की दृष्टि से रस और कला-पक्ष की दृष्टि से अलंकार—यही दनो कविता मे प्राण-प्रतिष्ठा करते है। कोई कवि अपनी कविता मे अलकारो को विशेष महत्व देता है तो कोई रस को। बिहारी ने अपनी कविता मे दोनो का उचित समन्वय किया है। भाव-प्रवण कवि होने के नाते उन्होंने कला-पक्ष को उसी सीमा तक अपनाया है जिस सीमा तक वह उनके भावो के प्रसार मे सहायक है। केशवदास की भांति उन्होने अलंकारो की छटा दिखाने के लिए कविता नही की है। इसलिए उनकी कविता मे भाव-पक्ष मुख्य और अलकार-पक्ष गोण है। अलकार-पक्ष मे उन्होने शब्दालकार और अर्थालकार दोनो को स्थान दिया है।

बिहारी के शब्दालकार पर विचार करते हुए कुछ आलोचको ने उन्हें 'शब्दो का कलाबाज़' कहा है। उनका यह कथन सर्वांश सत्य न होकर किसी सीमा तक अवश्य सत्य है। बिहारी जिस युग मे उत्पन्न हुए थे, वह युग मुख्यतः 'शब्दो के कलाबाजों' का ही युग था। परन्तु काया और काव्य मे सहज सौदर्य के उपासक बिहारी उन 'शब्दो के कलाबाजो'

में नहीं थे। यदि होते तो शब्दालंकार तक ही वह अपनी 'कलाबाजी' को सीमित न रखते, उसे और भी आगे बढ़ाते। परन्तु यह प्रवृत्ति उन्हें पसन्द नहीं थी। युग-प्रभाव के कारण उन्होने कुछ 'कलाबाज़ी' अवश्य दिखाई और उसमें भी वह सफल हुए। उनका यह दोहा लीजिए जिसमें यमक की छटा के साथ-साथ भावगाम्भीर्य भी कम नहो है :—

तो पर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी-समान ॥'

शब्दालंकार-योजना की दृष्टि से केश-वर्णन सम्बन्धी यह दोहा लीजिए :—

'सहज सचिक्कन, स्याम रुचि, सुचि, सुगन्ध, सुकुमार।
गनत न मन पथ-अपथ लखि, बिथुरे-सुथरे बार ॥'

इस दोहे के पूर्वार्द्ध मे वृत्यानुप्रास, और उत्तरार्द्ध मे छेकानुप्रास है। अर्थालंकार की दृष्टि से सपूर्ण दोहे मे स्वभावोक्ति अलंकार है। श्लेष वक्रोक्ति के प्रयोग से इस दोहे में बिहारी ने कितना सुन्दर शिष्ट हास्य उपस्थित किया है, यह भी देख लीजिए :—

चिरजीवो जोरी जुरै क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि, ये बृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥'

अर्थ-गांभीर्य की दृष्टि से बिहारी की अर्थालंकार-योजना अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, काव्यलिंग, असंगत, विभावना, विशेषोक्ति, विरोधाभास, अपह्नुति, मीलित, परिसंख्या, अन्योक्ति, अर्थान्तर-न्यास, भ्रान्ति, सन्देह, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति आदि अनेक प्रकार के अलंकारों का प्रयोग उनकी रचनाओं में हुआ है। परिसंख्या और काव्य-लिंग का एक साथ चमत्कार इस दोहे में देखिए :—

'पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहत, आनन-ओप-उजास ॥'

उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण लीजिए :—

'मोर मुकुट की चन्द्रिकनि यों राजत नँद-नँद।
मनु ससिसेखर के अकस, किय सेखर सतचन्द ॥'

व्याजस्तुति, विरोधाभास तथा यमक की एक साथ छटा इस दोहे में देखिए :—

'लाल तिहारे रूप की, कहौ रीति यह कौन ।
जासों लागै पलक दृग, लागै पलक पलौ न ॥'

रूपक का एक सुन्दर उदाहरण लीजिए :—

'पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाव ।
तरि संसार पयोधि को, हरि नामै करि नाव ॥'

बिहारी ने अन्योक्ति अलकार का बहुत ही सुन्दर प्रयोग किया है। इसके उदाहरण अन्यत्र दिए जा चुके है। यहाँ एक उदाहरण और लीजिए :—

'नहि पावस, ऋतुराज यह, सुनि तरवर मति भूल ।
अपत भये बिनु पाइहै, क्यों नव दल फल-फूल ॥'

बिहारी की भाषा

बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है। वह चलती होने पर भी साहित्यिक है। उसमे वाक्य-रचना सुव्यवस्थित है और शब्दो के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर हुआ है। यह बात बहुत कम कवियो की भाषा में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कई कवियो ने शब्दों को तोड़-मडोर कर उनका रूप विकृत कर लिया है। उन्होंने अपनी रचनाओ मे कही-कही मन-गढ़न्त शब्द भी ठूँस दिए है। बिहारी की भाषा इन दोषो से सर्वथा मुक्त है। उनकी भाषा बड़ी कोमल, सरस, स्वाभाविक, सजी हुई और मुहावरेदार है।

बिहारी का शब्द-चयन भाव व्यंजना के सर्वथा अनुकूल है। अपने भावो के स्पष्टीकरण एव उनके प्रसार के लिए उन्होने अरबी, फारसी, तुर्की, राजस्थानी, बुन्देलखण्डी और आवश्यकता पड़ने पर ठेठ शब्दों को अपनाया है और उन्हें अपनो प्रतिभा की खराद पर चढ़ाकर चमका दिया है। 'लखिबी', 'कोद', 'स्यो', 'रहँटघरी', 'वैरु', 'चटक', 'देखिबी', 'चाला', 'खिसी', 'बीधे', 'गीधे' आदि ठेठ बुन्देलखण्डी शब्द हैं, परन्तु इन शब्दों के प्रयोग से बिहारी ने अपनी रचनाओ मे जो भाव-सौंदर्य एवं चमत्कार उत्पन्न किया है वह बुन्देलखण्ड-निवासी केशवदास की रचनाओं

में नहीं पाया जाता। इसी प्रकार 'गरुर','सबी', 'जिह','ताफता', 'कजाकी', 'किबलनुमा', 'फाज', 'हरौल', 'गोल' आदि विदेशी शब्दो को अपनाने मे भी वह सफल हुए है। उनकी भाषा मे भरती का एक शब्द भी नहीं है। उसमे शब्द नपे-तुले और आवश्यकतानुसार है। इसलिए उनकी रचना से उनका कोई शब्द भी हटाया नही जा सकता। यदि किसी शब्द के स्थान पर उसी भाषा का पर्यायवाची शब्द रख दिया जाय तो यह निश्चय है कि उससे उनकी रचना का साहित्यिक सौंदर्य नष्ट हो जायगा। इस विशेषता के अतिरिक्त उनकी भाषा मे यह भी विशेषता है कि वह अल्पाक्षर होते हुए भी वृहत् अर्थ को सम्भाले हुए है। इससे उनकी रचना मे मनोभावों का प्रतिबिम्ब निर्मल आरसी की भाँति पड़ता है। उनकी भाषा मे अद्वितीय समास-शक्ति है। एक सफल मुक्तककार के लिए जैसी भाषा वाछनीय है, बिहारी ने अपनी रचनाओ में वैसी ही भाषा का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से ब्रजभाषा के मुक्तककारो मे बिहारी अनन्य हैं।

बिहारी के समय से भाषा पर व्याकरण का अनुशासन होने लगा था, परन्तु वह इतना दृढ़ न था। यही कारण है बिहारी की भाषा मे कही-कही लिंग-सम्बन्धी दोष मिलते है। सामान्यतः उनकी भाषा व्याकरणपरक है। जहाँ व्यंगार्थ बहुत गहन नही है वहाँ उनकी भाषा मे प्रसाद गुण मिलता है, परन्तु प्रसाद की अपेक्षा उनकी भाषा मे माधुर्य गुण की मात्रा विशिष्ट है। ध्वनि साम्य के लिए वर्ण-मैत्री तो किसी-न-किसी परिमाण मे सर्वत्र पाई जाती है जिससे तरह-तरह के अनुप्रासो की उत्पत्ति होती है। परन्तु उनकी रचना मे पद-मैत्री के उदाहरण भी कम नही है। भाव के अनुसार उनकी भाषा बदलती रहती है। इसके अतिरिक्त चित्रोपमता उनकी भाषा का प्रधान गुण है। उन्होने बहुत ही सुन्दर शब्द-चित्र उतारे है।

बिहारी की शैली

प्रायः प्रत्येक कवि की अपनी एक स्वतत्र शैली होती है और उसी के द्वारा उसकी पहचान होती है। सूर और तुलसी के पदो को मिलाइए, उनमे भाव एक-से मिलेंगे, पर शैली एक-सी नही होगी और आप तुरन्त कह देगे कि यह पद सूर का है और वह पद तुलसी का है। बिहारी के दोहो के

सम्बन्ध मे भी यही बात कही जा सकती है । उनका कोई दोहा उठा लीजिए, वह न तो उनके पूर्ववर्ती कवियो के दोहो से मेल खायगा और न उनके परवर्ती कवियों के दोहो से । यह विशेषता समान रूप से सब कवियो मे नहीं पाई जाती । कवियो में जिनका व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है वही अपनी रचनाओ मे उच्चकोटि की शैली का विधान कर पाते है । किसी अच्छे कवि की शैली का अनुकरण करनेवाले कवि का व्यक्तित्व निर्बल होता है। इसलिए उसकी रचना न तो महत्त्वपूर्ण होती है और न लोक-प्रिय । शृगार-काल मे अनेक कवियो ने रति-वर्णन किया है, पर उनमे से कुछ ही ऐसे है जिनकी रचनाओ को स्थायित्व प्राप्त हो सका है । बिहारी उन कवियो मे अपनी शैली के कारण सर्वोच्च है ।

बिहारी की कविता मुख्यत: वर्णनात्मक है । वर्णनात्मक कविता पर-व्यंजक होती है । उसमे वाह्य दृश्य का चित्रण अधिक रहता है । इसकी दो शैलियाँ है : (१)प्रबन्ध और (२) मुक्तक । प्रबन्ध-काव्य मे वाह्य दृश्य-चित्रण जितना खरा उतरता है उतना मुक्तक मे नहीं उतरता, परन्तु बिहारी के मुक्तक इसके अपवाद हैं । मुक्तक मे कवित्त, सवैया, कुंडलिया आदि कई प्रकार के छन्दो का प्रयोग सम्भव है और इनमे वर्णन के प्रसार की भी गुंजाइश रहती है । बिहारी ने इनमे से किसी को भी न अपनाकर दोहा जैसे छोटे छन्द को अपनाया है और उसमे उन्होने इतना कह दिया है जितना शृङ्गार-काल के बडे बडे कवि कवित्त अथवा सवैया मे भी नहीं कह सके हैं । इसके तीन कारण है : (१) बिहारी का शब्द-चयन, (२) बिहारी का भाषा की समास-शक्ति (३) बिहारी की कल्पना की समाहार-शक्ति । आप बिहारी का कोई दोहा ले लीजिए, आपको उसमें न तो कोई शिथिल शब्द मिलेगा और न भाषा की समास-शक्ति का ही अभाव होगा । उनकी शैली की यह विशेषता आप को अन्यत्र बहुत कम मिलेगी ।

बिहारी की शैली की तीसरी विशेषता उनके विषय-निर्वाचन से सम्बन्ध रखती है । मुक्तक मे शिक्षा और नीति के उपदेश तथा नख-शिख, नायिका-भेद, षट्ऋतु-वर्णन आदि ही खूब जँचते हैं, क्योकि इनमे पूर्वापर प्रसंग बहुधा सापेक्ष नहीं रहते । इस सम्बन्ध मे सबसे बड़ी बात यह है कि

जब मुक्तक में मानव-जीवन के किसी अंग को लेकर कोई अद्भुत कल्पना की जाती है अथवा किसी प्रकार के व्यंग्य का आश्रय ग्रहण कर उसके बारे मे कुछ कहा जाता है तब उसमे भाव-उद्रेक होता है और प्रभावोत्पादकता आती है। यदि ऐसा न हो सका तो मुक्तक नीरस और प्रभावहीन हो जाता है। बिहारी ने अपने विषय-निर्वाचन में मुक्तक के इस विशेष गुण का बहुत ध्यान रखा है। इसके अतिरिक्त मुक्तक मे प्रसंग-योजना की पटुता पर ही कवि की सफलता आश्रित रहती है। यदि प्रसग रमणीय है और कवि ने उस पर अपने व्यक्तित्व की छाप अंकित कर दी है तो फिर वह रचना अद्वितीय हो जाती है। बिहारी ने अपने-मुक्तकों मे ऐसे अनेक सरस प्रसगो की योजना की है जो जीवनपरक हैं और जिनपर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है।

बिहारी पर यह दोष लगाया जाता है कि उन्होने भावापहरण किया है। यदि ध्यान से देखा जाय तो बिहारी ही क्या, बडे-बड़े कवि इस दोष से मुक्त नही मिलेंगे। भावापहरण दोष है, इसमे सन्देह नहीं। परन्तु यदि कोई कवि किसी अन्य कवि का भाव लेकर उसे अपनी कला से चमका देता है तो वह उस कवि का 'उस्ताद' कहा जायगा। बिहारी ने जिस किसी कवि के जो भाव लिए हैं उन पर उन्होने अपनी उस्तादी का हाथ फेर कर उन्हे अपना बना लिया है। यह विशेषता भावापहरण करनेवाले बहुत कम कवियो मे देखी जाती है। बिहारी अपने विषय के और अपनी कला के 'उस्ताद' हैं। उनकी रचनाओ मे अनुभावो एवं हावों की सुन्दर कलात्मक योजनाओ के साथ उक्तिकौशल की विशिष्टता और कल्पना का सुकुमार माधुर्य सर्वत्र मिलता है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के मत से उनमे ध्यान देने योग्य तीन बाते दिखाई देती हैं—चेष्टाओ और युक्तियां का विधान, सुव्यवस्थित भाषा और विदेशी प्रभाव को भारतीय पद्धति के भीतर ग्रहण करने की क्षमता। बिहारी की रचनाएँ अपने इन्ही तीन गुणो के कारण महान है।

: ८ : भूषण त्रिपाठी

जन्म-स० १६६५ : मृत्यु-सं० १७८८

जीवन-परिचय

कविवर भूषण त्रिपाठी के सबध मे अब तक जो सामग्री उपलब्ध हुई है वह सदिगध है। एक दोहे के आधार पर यह कहा जाता है कि उनका जन्म कानपुर जिला के तहसील घाटमपुर के अन्तर्गत तिकवॉपुर मे हुआ था। उनके पिता के नाम रत्नाकर त्रिपाठी था और वह कश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। अनुमानतः उनका जन्म-सवत् १६६५ माना जाता है।

भूषण त्रिपाठी की प्रारंभिक शिक्षा कैसे संपन्न हुई, यह निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्हे संस्कृत-साहित्य, कोश, व्याकरण और काव्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान था। अपनी रचना 'शिवराज भूषण' के छन्द सख्या २८ में उन्होने लिखा है :—

'कुल सुलंक, चित्रकूट-पति, साहस-सील-समुद्र।
कवि भूषण पदवी दई, हृदय राम-सुत रुद्र॥'

इससे स्पष्ट होता है कि भूषण त्रिपाठी चित्रकूट-पति के आश्रित कवि थे और वीर रस मे रचनाएँ करते थे। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में वह युग शृंगारी भावनाओ का युग था, परन्तु वह उनकी ओर नही झुके। उनके सामने हिन्दू जाति की रक्षा का प्रश्न था। छत्रपति शिवजी (सं० १६८४-१७३७) तथा पन्ना-नरेश छत्रसाल बुन्देला (स० १७०६-१७८६) की वीरता और उनकी राष्ट्र-प्रियता की कहानियॉ उनके कानो तक पहुँच चुकी थीं और वह उनसे प्रभावित भो थे। इसलिए उक्त दोनो वीरो को ही उन्होने अपने काव्य का आलबन बनाया। उनके अतिरिक्त बूँदी-नरेश छत्रसाल हाडा (सं० १६८८-१७१५), छत्रपति शभाजी (स० १७१४-४६), छत्रपति शाहुजी (सं० १७३६-१८०६), मुगल-सम्राट औरंगजेब (सं० १६७५-

१७६३), चित्रकूट-पति हृदय राम सोलंकी (स० १७५०-५६), कुमायूँ-नरेश उद्योतचन्द्र (स० १७३१-५५), गढवाल-श्रीनगर-नरेश फतहशाह (सं० १७४१-७३), रीवाँ-नरेश अवधूतसिंह (स० १७५७-१८१२), जयपुर-नरेश सवाई जयसिह (सं० १७५६-१८१२), असोथर-नरेश भगवन्तराय खीची (सं० १७७०-६७) आदि से उनका परिचय था और इनमे से कई उनके आश्रय-दाता भी थे।

भूषण त्रिपाठी के आदर्श थे छत्रपति शिवाजी। शिवाजी से उनकी कब भेंट हुई, यह तो नही कहा जा सकता, परन्तु यह निश्चित है कि वह शिवाजी के राज्याभिषेक के अवसर (स० १७३१) पर रायगढ मे थे और 'शिवराज-भूषण' की रचना समाप्त कर उन्होंने उसे शिवाजी को समर्पित किया था। वह शिवाजी से बड़े थे; यह भी उनके आशीर्वादात्मक वचन से सिद्ध होता है। रायगढ से भूषण संभवतः पन्ना आए और यहाँ उन्होंने छत्रसाल बुन्देला से भेंट की। यहाँ कुछ समय तक रहकर भूषण त्रिपाठी अपने घर लौट आए और कुछ दिन विश्राम करने के पश्चात् कुमायूँ-नरेश के दरबार मे गए। यहाँ उनका विशेष सम्मान नहीं हुआ। इसलिए वह घूमते-घामते फिर शिवाजी के दरबार मे गए और वहाँ उनके निधन (सं० १७३७) तक रहे। इसके बाद मरहठा साम्राज्य के लिए अनेक झगड़े उठ खडे हुए। ऐसे वातावरण मे भूषण का वहाँ रहना कठिन हो गया। वह अपने घर चले आए। सं० १७६५ मे जब शिवाजी के पौत्र शाहुजी को दिल्ली के कैद से छुटकारा मिला और वह छत्रपति घोषित किए गए तब फिर एक बार भूषण उनसे मिलने गए। उस समय शाहु की राजधानी सतारा थी। सतारा मे भूषण का बहुत अधिक सम्मान हुआ। वहाँ से विदा होकर वह कई राज्यो मे भ्रमण करते रहे। अपने जीवन के अन्तिम दिनों मे वह एक बार फिर पन्ना गए। इस बार छत्रसाल ने उनका और भी अधिक आदर किया। कहा जाता है कि जब वह दरबार से चलने लगे तब उन्होने उन्हे सम्मानित करने के लिए उनकी पालकी का एक डंडा अपने कंधे पर रख लिया। भूषण महाराज की ऐसी नम्रता देखकर 'बस, महाराज ! बस' कह कर पालकी के भीतर से बाहर कूद पड़े और उसी

समय उनकी प्रशंसा मे कुछ कवित पढ़े जो 'छत्रसाल-दशक' मे संगृहीत हैं।

भूषण त्रिपाठी ने अपनी रचना 'शिवराज भूषण' मे अपने समय की जिन ऐतिहासिक घटनाओ का उल्लेख किया है उनकी छानबीन करने से उनकी मृत्यु स १७८८ के लगभग मानी जा सकती है।

भूषण की रचनाएँ

भूषण त्रिपाठी की रचनाओ का ठीक-ठीक पता नही लगता। शिव सिह सेंगर के अनुसार उनके बनाए चार ग्रन्थ बताए जाते हैं : (१) शिव राज भूषण, (२) भूषण हजारा, (३) भूषण उल्लास और (४) दूषण-उल्लास। परन्तु इनम से 'शिवराज भूषण' के अतिरिक्त और किसी ग्रन्थ का पता नही चलता। 'शिवा-बावनी' तथा 'छत्रसाल-दशक' उनके स्वतत्र काव्य-ग्रन्थ नहीं हैं। 'शिवराज भूषण' की समाप्ति का समय सं० १७३६ निश्चित है। अब यदि सं० १७८८ अथवा इससे कुछ पहले भूषण के निधन का समय मान लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि क्या उन्होंने अगले ५० वर्षों मे कोई रचना ही नही की ? ऐसा सहसा विश्वास नही होता। उन्होंने रचनाएँ अवश्य की होगी, परन्तु वे सब लुप्त हैं।

(१) शिवराज भूषण—शिवराज-भूषण मुख्यतः वीररस का अलकार-प्रधान लक्षण-ग्रथ है। इसमे भूषण ने शिवाजी के जीवन की घटनाओ को काव्य का रूप दिया है। घटनाएँ इतिहास की कसौटी पर कसी हुई हैं और उनमे सर्वत्र ओज है। इस प्रकार इतिहास ऐसे नीरस सत्य को भी भूषण ने कविता के सरस रस मे भिगोकर अत्यन्त रोचक और प्रभावशाली बना दिया है। रस की दृष्टि से वीर के अतिरिक्त रौद्र और भयानक रस मिलते है तथा छन्दो की दृष्टि से इसमें मनहरण, छप्पय, रोला, उल्लाला, दोहा, हरिगीतिका, गीतिका, मालती सवैया, किरीटो, माधवी, लीलावती, अमृत ध्वनि आदि मिलते हैं। कुल छन्द सख्या ३८२ है।

(२) शिवा-बावनी—शिवा-बावनी मे ५२ कवित्त सगृहीत हैं। यह कोई स्वतंत्र काव्य-ग्रथ न होकर भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। इसके सभी कवित्त शिवाजी की प्रशंसा मे कहे गए हैं जो रचना-कौशल की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ और मुख्यतः वीर रस से ओतप्रोत हैं। इनका विषय है—

शिवाजी का सैन्य-संचालन, वैरियों और उनकी स्त्रियो पर उनका आतंक, उनका प्राक्रम, उनका उत्साह, उनका कृतित्व आदि। इन विषयो के कारण छन्दो मे पर्याप्त ओज आ गया है। अलंकारो के बधनो के कारण भूषण को 'शिवराज-भूषण' की रचना मे जो सफलता नहीं मिली है वह उन्हें इन कवित्तों की रचना-द्वारा सहज ही प्राप्त हो गई है।

(३) छत्रसाल-दशक—छत्रसाल-दशक मे कुल दस कवित्त मिलते हैं जो छत्रसाल बुन्देला की प्रशसा मे कहे गए है। इनमे से एक दो छन्द ऐसे भी हैं जो भूषण-कृत नहीं जान पड़ते, परन्तु अनेक प्रतियो मे उनका अस्तित्व पाया जाता है।

उक्त ग्रथों के अतिरिक्त भूषण की कुछ फुटकर रचनाएँ भी मिलती हैं जो कई भूषण-ग्रथावलियो मे सगृहीत एवं सपादित हैं। उनकी सख्या भी ५०-६० से कम नही है।

भूषण का समय

भूषण त्रिपाठी भारत के मध्य युगीन इतिहास के उन दिनो की दिव्य विभूति थे जब मुगल साम्राज्य अपने ह्रास की सूचना दे रहा था। बाबर ने जिस साम्राज्य की नीव डाली थी और अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने जिसे अपने सतत प्रयत्नो से भव्य रूप दिया था उसे औरगजेब अपनी धर्मोन्धता एव साम्प्रदायिकता के कारण तहस-नहस कर रहा था। उसकी शासन-नीति अत्यन्त संकुचित एव अनुदार थी। प्रजा के हित-साधनो की ओर से उदासीन होकर वह अपने धार्मिक स्वार्थो की पूति मे ही अपनी सारी शक्ति लगा रहा था। वह सुन्नी मुसलमान था। इसलिए हिन्दू-राज्यों की भाँति ही दक्षिण की शिया-मुस्लिम सलतन्ते भी उसकी आखो मे काँटे की तरह खट रही थीं और वह उनके उन्मूलन में लगा हुआ था। उसकी इस साम्प्रदायिक नीति के कारण उससे न तो शिया-मुसलमान संतुष्ट थे और न हिन्दू। शिया-मुसलमानो ने उसके विरुद्ध कोई आन्दोलन नहीं चलाया, परन्तु हिन्दू चुपचाप न बैठ सके। पंजाब में सिक्खो ने अँगड़ाई ली, बुन्देलखण्ड मे महाराज छत्रसाल बुन्देला ने करवट बदली और दक्षिण भारत मे छत्रपति शिवाजी ने गो, ब्राह्मण

और हिन्दुओ की रक्षा के लिए तलवार उठाई। इस प्रकार धार्मिक घात-प्रतिघात तथा राजनीतिक सत्ता के उस कोलाहलपूर्ण वातावरण मे हिन्दू-विश्वास के अनुसार स्वयं ऐसे कारण उत्पन्न हो गए जिन्होंने हिन्दुओं की तत्कालीन बिखरी हुई शक्ति को रण-चण्डी के उक्त सेवकों मे केन्द्रीभूत कर संगठित कर दिया। उत्तर की ओर से सिक्खों ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया और दक्षिण की ओर से मराठों ने जोर लगाया। फलस्वरूप इन दोनो हिन्दू-शक्तियों के बीच मुगल-साम्राज्य पिसकर चटनी हो गया।

राजनीति के क्षेत्र मे औरंगजेब ने अपनी संकुचित मनोवृत्ति के कारण जैसी धांधली मचा रखी थी वैसी ही शृङ्गारी कवि साहित्यिक क्षेत्र में धांधली मचा रहे थे। ऐतिहासिक दृष्टि से वह सामंती युग का ह्रास-काल था। राजपूतों की तलवारें कुंठित हो चुकी थीं, उनकी रियासतें मुगल-साम्राज्य के अधीनस्थ होकर अपना मस्तिक बेच चुकी थी और विलासता-पूर्ण जीवन व्यतीत कर रही थीं। ऐसे वातावरण मे शृगारी कवियों की तूती बोलती थी। उनका काम था नरेशों की झूठी प्रशंसा करना, नायक-नायिकाओ के प्रेमालिगन की चर्चा कर उनका मनोरंजन करना, शब्दों की कलाबाजी दिखाना और अपना पेट भरना। उन्हे न तो देश की चिन्ता थी और न जन-जीवन के हित की। साहित्य के ऐसे पतित युग मे राष्ट्रीय भावनाओ के विकास की कोई योजना नही थी। भूषण ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। उन्होंने हिन्दी-काव्य को एक सर्वथा नवीन दिशा की ओर उन्मुख किया। वह समय क प्रवाह के साथ बहनेवाले कवि नही थे। वह एक ऐसे कवि थे जिनमे देश और समाज को उन्नत रूप देने की लगन था। इसलिए उन्होने विलासी राजाओ को ललकारा, शृङ्गारी कवियों को चेतावनी दी और काव्य मे शृंगार के स्थान पर वीर-रस को राष्ट्रीय विचारो के प्रचार एव प्रसार का माध्यम बनाया। इस प्रकार उस युग मे ईश्वर की अनन्त शक्ति दो रूपो मे हिन्दू-जाति की रक्षा के लिए अवतरित हुई। उसका पहला रूप था वीर-शिरोमणि शिवाजी और दूसरा रूप था भूषण। एक ने तलवार का आश्रय लिया और दूसरे ने वाणी का। हिन्दू-जाति के उद्धार की इससे सुन्दर योजना उस युग मे बन ही नहीं सकती थी।

भूषण की काव्य-साधना

भूषण हिन्दी-साहित्य के इतिहास के शृंगार-काल (सं० १७००-१६००) के कवि थे। भारत के कई राज-दरबारो से उनका सबध था। परन्तु उन्होने अपने किसी भी आश्रयदाता की अनुचित प्रशसा नहीं की। वह स्वाभिमानो सत्साहित्यकार थे। वाणी का दुर्पयोग करना वह साहित्य की मर्यादा के विरुद्ध समझते थे। इसलिए उनकी दृष्टि न तो उन सामन्तों की ओर गई जो विलासी और शक्तिहीन थे और न उन कवियो की ओर गई जो विलासी सामन्तो की झूठी प्रशंसा मे अपनी काव्य-शक्ति का दुरुपयोग कर रहे थे। अपने युग की काव्य-शैलियाँ उन्हे स्वीकार थीं, परन्तु उनके माध्यम से वह सहमत नही थे। यही शृङ्गार-काल से उनका विरोध था। उन्होने एक लक्षण-ग्रन्थ लिखा और कुछ ऐसी रचनाएँ भी की जिनका समावेश लक्ष्य-काव्य के अन्तर्गत किया जा सकता है, परन्तु यह सब करते हुए भी उन्होने अपने सर्वथा मौलिक दृष्टिकोण का परिचय दिया। यही कारण है कि शृङ्गार-काल के कवियो के बीच उनका व्यक्तित्व सबसे अलग-थलग है और वह अपने समय के युग-प्रवर्तक कवि माने जाते हैं।

(१) **काव्य के विषय**—भूषण की कविता के मुख्यतः दो विषय हैं : (१) युद्ध-वर्णन और (२) वीरो का यश-वर्णन। इनके अतिरिक्त प्रसंगानुसार उसमे देश दशा का भी चित्रण मिलता है। युद्ध-वर्णन मे भूषण ने दो ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश किया है। इनमें से एक का संबध उन युद्धो से है जो शिवाजी तथा दक्षिण की पाँच शिया-सलतन्तो के बीच हुए थे और दूसरे का सबंध उन युद्धो से है जो शिवाजी तथा औरंगजेब के बीच हुए थे। इन दोनो प्रकार के युद्धो के वर्णन मे भूषण ने अपने नायक शिवाजी के अदम्य साहस एवं अनन्त उत्साह के चित्रण के साथ-साथ मारकाटपूर्ण अत्यन्त लोमहर्षक दृश्यो के भी सफल चित्र उतारे है। विशेषता यह है कि उन्होने कही-कहीं अतिशयोक्ति का सहारा लेकर भी ऐतिहासिक सत्य की हत्या नही की है। इसलिए उनकी कविता ऐतिहासिक दृष्टि से मराठा जाति का काव्यमय इतिहास है।

भूषण की कविता का दूसरा विषय है, वीरो का यश-वर्णन। उनके

वीरों की सूची बहुत बड़ी नही हैं। उसमें मुख्यतः दो ही वीर हैं : (१) छत्रपति शिवाजी और (२) छत्रसाल बुन्देला। शिवाजी के कीर्ति-गान मे भूषण ने उनकी दानशीलता, वीरता, धर्म-प्रियता, जातीय भावना, उदारता, आदि का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है। छत्रसाल बुन्देला के यश-वर्णन मे उनकी वीरता को ही स्थान दिया गया है। इनके अतिरिक्त शाहू आदि अन्य आश्रय-दाताओ के संबध मे भी कुछ प्रशस्तियाँ मिलती हैं। इन सभी प्रशस्तियो की रचना मे भूषण ने पूर्ववर्ती कवियो की परिपाटी का ही अनुकरण किया है। शिवाजी की दानशीलता का यह वर्णन लीजिए :—

'साहि-तनै सरजा तव द्वार प्रतिच्छन दान की दुन्दुभि बाजै।
भूषन भिच्छुक भीरन को अति भोजहु ते बढि मौजनि साजै॥
राजन को गन राजन! को गनै? साहिन मैं न इती छबि छाजै।
आजु गरीबनेवाज मही पर तो सो तुही सिवराज बिराजै॥'

भूषण की इस रचना को पढ़कर ऐसा लगता है कि उन्होंने शिवाजी की दानशीलता के वर्णन मे अतिशयोक्ति से अधिक काम लिया है। इसमें शक नही कि भूषण के समय के कवि अपने-अपने आश्रय दाताओ की दानशीलता के वर्णन मे अपनी कवि-कल्पना का भरपूर उपयोग करते थे, परन्तु भूषण इस दोष से मुक्त थे। उनके कई आश्रयदाता थे, परन्तु उन्होने किसी की भी दानशीलता का वर्णन नही किया। शिवाजी की दानशीलता उनकी कवि-कल्पना नही थी। यदुनाथ सरकार-जैसे इतिहास वेत्ताओ ने भी शिवाजी की दानशीलता का उल्लेख किया है और उनके इस गुण पर रीझ कर मुक्त कठ से उनकी सराहना की है। ऐसी स्थिति में भूषण पर यह दोष नही लगाया जा सकता कि उन्होंने शिवाजी की दानशीलता के संबध मे जो कुछ कहा है वह ऐतिहासिक प्रमाण के विरुद्ध है। भूषण इतिहासकार नहीं थे। वह कवि थे। कवि यदि ऐतिहासिक सत्य की रक्षा करते हुए अपने नायक के किसी गुण-विशेष का अतिरंजित वर्णन कर देता है तो इसके लिए उसकी कवि-जन्य-पद-मर्यादा पर किसी प्रकार का आक्षेप नही किया जा सकता। शिवाजी की दानशीलता, शिवाजी की धर्मपरायणता, शिवाजी की वीरता, शिवाजी की उदारता, सब काव्यमय

होते हुए भी ऐतिहासिक सत्य से पोषित एवं प्रमाणित है और यही भूषण के यश-वर्णन की विशेषता है।

(२) वाह्य दृश्य-वर्णन—काव्य में वाह्य दृश्य-चित्रण के अन्तर्गत प्रकृति, रूप, नख-शिख, घटना, उत्सव, राजसी ठाट बाट, नायक की दिन-चर्या, क्रीड़ा, आखेट आदि को स्थान दिया जाता है। भूषण के वाह्य दृश्य वर्णन मे इन सब को समान रूप से स्थान नही दिया गया है। उनके वाह्य दृश्य-वर्णन मे युद्ध, सैन्य-सचालन, भाला, तलवार, तोप, गोला आदि की प्रमुखता तो है ही, साथ ही कहीं-कही नायक की भुजाओं, गढ़ों और प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्र भी मिल जाते हैं। छत्रसाल बुन्देला की बरछी का यह वर्णन लीजिए :—

'भुज भुजगेस की वै-सगिनी भुजंगिनी-सी,
खेदि-खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर पखारनि बीच धँसि जाति मीन लौं,
पैरि पार जात परबाह ज्यौ जलन के॥
रैयाराय चंपति को छत्रसाल महाराज,
भूषन सकत को बखान यों बलन के।
पच्छी पर-छीने ऐसे पर पर छीने बीर,
तेरी बरछी ने बर छीने है खलन के॥'

रायगढ़-दुर्ग का यह वर्णन भी कितना सुन्दर है :—

'साहि-तनय सरजा सिवा की सभा जा मधि है,
मेरुवारी सुर की सभा को निदरति है।
भूषन भनत जाके एक सिखर ते,
केते धौ नदीनद की रेल उतरति है॥
जोन्ह को हँसत जोति हीरा मनि मन्दिरन,
कन्दरन मै छवि कुहू की ऊछरति है।
ऐसो ऊँचो दुरग महाबली को जामैं,
नखताबली सों बहस दीपावली करति है॥'

शवाजी के सैन्य-संचालन का यह आतंकपूर्ण दृश्य लीजिए :—

'साजि चतुरंग वीर-रङ्ग में तुरंग चढि,
सरजा सिवाजी जग जीतन चलत है।
भूषन भनत नाद बिहद नगारन के,
नदी नद मद गैबरन के रलत है॥
ऐल फैल खैल भैल खलक मे गैल-गैल,
गजन की ठैल पैल सैल उसलत है।
तारा सों तरनि धूरि धारा मे लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार-यों हलत है॥'

रायगढ़-वर्णन के अन्तर्गत प्रकृति का यह चित्र भी लीजिए :—

'कहुँ केतकी, कदली, करौदा, कुँद, अरु करवीर है।
कहुँ दाख, दाडिम, सेब, कटहल, तूत अरु जंभीर है॥'

प्राकृतिक दृश्य के चित्रण मे कवि प्रायः दो योजनाओ का प्रयोग करते हैं : (१) स्फुट योजना और (२) संश्लिष्ट योजना। भूषण ने अपने प्रकृति-वर्णन मे संश्लिष्ट-योजना की अपेक्षा स्फुट योजना को ही विशेष महत्व दिया है। इस योजना मे नाम गिनाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इसके विरुद्ध सश्लिष्ट-योजना मे कवि-कल्पना का चमत्कार रहता हैं। प्रकृति-चित्रण मे भूषण की संश्लिष्ट-योजना इन पंक्तियो मे देखिए :—

'मुकुतान की झालरिनि मिलि मनि माल छज्जा छाजही।
संध्या समय मानहु नखत-गन लाल अम्बर राजहीं॥'

परन्तु ऐसी संश्लिष्ट योजनाएँ भूषण की रचनाओ मे बहुत ही कम हैं। भूषण ही क्यो, शृंगार-काल के सभी कवियो की रचनाओ मे इस प्रकार की योजना नही है। केशव, मतिराम, पद्माकर आदि ने अधिकांश स्फुट-योजना से ही काम लिया है। ऐसा लगता है कि प्रकृति के नाना-रूपो मे उनकी वृत्ति केवल रमकर ही रह गई थी, उसके भीतर बैठ कर उसके अग-प्रत्यंग का माधुर्य प्रत्यक्ष करने की ओर उन्मुख नहीं हुई थी। भूषण भी इससे बच नही सके। उन्होने भी स्फुट योजना ही प्रस्तुप्र की, परन्तु इसके साथ ही कही-कही संश्लिष्ट-योजना के उदाहरण देकर उन्होने अपनी मौलिकता का भी परिचय दे दिया।

(३) **राष्ट्रीय भावना**—भूषण हिन्दी के सर्व प्रथम राष्ट्र-कवि माने जाते हैं। यहाँ 'राष्ट्र' शब्द से हमारा वह अभिप्राय नही है जो आजकल समझा जाता है। भूषण का युग आज के युग से सर्वथा भिन्न था। उस समय जन-जीवन में सांस्कृतिक एकता की भावना प्रमुख थी। इसलिए यही उस युग की राष्ट्रीय भावना थी और भूषण इसी अर्थ में हमारे राष्ट्र-कवि थे। वह भारत मे सांस्कृतिक एकता के पक्षपाती थे। राजनीतिक दृष्टि से भारत का कोई भी सम्राट् हो, यदि वह सांस्कृतिक एकता की रक्षा करता है तो वह भूषण के लिए आदर्श है, परन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता तो भूषण उसे क्षमा नहीं कर सकते। भूषण ने औरंजेब और उसका साथ देनेवाले तुर्कों के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा वह अपने इसी दृष्टि कोण से प्रेरित होकर कहा। उनकी दृष्टि में औरंगजेब सांस्कृतिक एकता का शत्रु ही नहीं, ढोंगी और पाखण्डी भी था। उसने अपने पिता को कैद किया था और अपने भाइयो को मौत के घाट उतारा था। हिन्दुओं का ही नहीं, उसने मुसलमानो का भी विरोध किया था। इस प्रकार वह आर्य-सस्कृति को ही नहीं, अपनी पाखण्डपूर्ण नीति से इस्लामी समाज और इस्लामी संस्कृति को भी नष्ट-भ्रष्ट कर रहा था। बाबर, हुमायूँ, अकबर आदि मुगल सम्राटों ने आर्य और इस्लामी संस्कृतियो के समन्वय पर जिस साम्राज्य की स्थापना की थी उसकी जड़े वह कुरेद रहा था। इसलिए भूषण ने न तो उसे क्षमा किया और न उसके उन हिन्दू-साथियों और सह-धर्मियों को जो भारत की सांस्कृतिक एकता को नष्ट करने में उसका हाथ बटा रहे थे। उन्होने शिवाजी की प्रशंसा इसलिए नहीं की कि वह हिन्दू अथवा उनके आश्रयदाता थे, वरन् इसलिए कि वह हिन्दू-संस्कृति के उतने पोषक थे जितने इस्लामी संस्कृति के। शिवाजी ने यदि हिन्दू-मदिरो की रक्षा की तो उन्होने मसजिदों को भी मिस्मार नहीं किया। उन्होने यदि हिन्दुओं की चोटी साफ करनेवाले को मौत के घाट उतारा तो कुरान पर चोट करनेवाले को भी क्षमा नहीं किया। भूषण इसी नीति के पोषक थे और इसी नीति के अनुसरण में वह संपूर्ण देश और समाज का हित समझते थे। औरंगजेब-द्वारा इस नीति का विरोध होते देखकर ही उन्होने कहा था :—

'साँच को न मानै, देवी-देवता न जानै
अरु ऐसी उर आनै मै कहत बात जब की।
और पातसाहन के हुती चाह हिदुन की,
अकबर, साहजहाँ कहै साखि तब की॥
बब्बर के तब्बर हुमायूँ हद्द बाँधि गये,
दो मे एक करी ना कुरान बेद-ढब की।
काशी हूकी कला जाती, मथुरा मसीत होती,
सिवाजी न होते तो सुनति होति सब की॥'

भूषण का यह विचार इस्लामी संस्कृति का विरोधी नहीं है। कहा जाता है कि उन्होने म्लेच्छ-वंश की भूरि-भूरि निन्दा की है, परन्तु गंभीर दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि उन्होने म्लेच्छ-वश का प्रयोग संपूर्ण मुसलमानों के लिए न कर एक मात्र उस विशिष्ट वर्ग के लिए किया है जो औरंगजेबी नीति का पोषक था। औरंगजेबी नीति के पोषक मुसलमान ही नही, हिन्दू-नरेश भी थे। भूषण ने उन हिन्दू-नरेशो की भी वैसी ही खरी आलोचना की है जैसी औरगजेब और उसकी हॉ-मे-हॉ मिलानेवाले मुसलमानो की। भूषण की रचनाओ का अध्ययन करते समय हमे उनके इस दृष्टिकोण को कभी न भूलना चाहिए।

भूषण की रचनाओ में सास्कृतिक एकता की भावना के साथ-साथ जातीय एकता की भावना भी पाई जाती है। यह उनके लिए स्वाभाविक है। हिन्दुओं के सामाजिक एव राजनीतिक पतन से वह दुखी थे, इसमें शक नहीं। उनका क्षोभ इन शब्दों मे देखिए :—

'आपस की फूट ही तो सारे हिन्दुआन टूटे।
टूट्यो कुल रावन अनीति अति करते।'

कितनी सत्य और स्पष्ट आलोचना है यह अपने समाज की। हिन्दी-साहित्य के आदि युग से भूषण तक किसी कवि ने हिन्दू-जाति के ह्रास का कारण इस रूप मे अनुभव नही किया। भूषण हिन्दी के पहले कवि थे। जिन्होने अपने पतन के मूल कारण को पहचाना और उसे दूर करने के लिए सबको सचेत किया। उन्होने हिन्दू-नरेशो को सुझाया कि उनकी आपसी फूट के

कारण ही उनका पतन हो रहा है। मध्य युग के उस विषाक्त वातावरण में उनकी यह चेतावनी जितनी महत्त्वपूर्ण थी उतनी ही महत्वपूर्ण वह हमारे लिए आज भी है।

यहाँ एक शंका उठ खड़ी होती है और वह यह कि क्या भूषण की जातीय भावना उनकी सांस्कृतिक एकता की भावना मे बाधक नहीं है? इसका स्पष्ट उत्तर है—'नही।' और यह इसलिए कि भूषण ने अपनी रचनाओ मे सर्वत्र हिन्दू जाति की रक्षा का ही उल्लेख किया है, उसके प्रसार के प्रसाधनो आदि की कोई योजना नही बनाई है। उन्होने हिन्दुओं के पतन के मूल कारण को पहचान कर भी उन्हे उस रूप मे इस्लामी सस्कृति को कुचलने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया है जिस रूप मे औरंग-जेब और म्लेच्छ-वशवाले हिन्दू-संस्कृति को नष्ट करने के लिए हिन्दुओ के मन्दिरो और देवी-देवताओ का अपमान कर रहे थे। उनकी जातीय भावना हिन्दू-जाति की आन्तरिक त्रुटियो को दूर करने तक ही सीमित थी, वह इतनी उग्र नहीं थी कि दूसरो पर चोट करती। वह जिस सास्कृतिक एकता के स्वप्न को सत्य करना चाहते थे उसके लिए हिन्दू-जाति का स्वस्थ रहना उतना ही आवश्यक था जितना म्लेच्छ-वंश का। सच्ची सांस्कृतिक एकता तो दोनो जातियों के स्वस्थ रहने पर ही पनप सकती थी। इसलिए भूषण ने अपनी रचनाओं में जातीय भावना को स्थान देकर कोई अपराध नहीं किया। उनकी जातीय भावना उनके सांस्कृतिक एकता की सर्वथा पोषक है, उसकी विरोधी नही है।

(४) **चरित्र-चित्रण**—भूषण की रचनाओं मे कई पात्रो को स्थान मिला है, परन्तु उनमे से दो ही पात्र प्रमुख हैं: (१) नायक के रूप में शिवाजी और (२) प्रतिनायक के रूप मे औरंगजेब। इस प्रकार भूषण के दोनो पात्र इतिहास-प्रसिद्ध हैं। इतिहास-प्रसिद्ध पात्रो के चरित्र-चित्रण में कवि प्रायः ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा कर देते हैं, परन्तु भूषण ने कहीं भी ऐसा नहीं किया है। उन्होने जिन घटनाओ के बीच रखकर दोनो का चरित्र-चित्रण किया है वे इतिहास से पुष्ट एवं प्रमाणित है। इस सबध में हमें इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि भूषण ने प्रबन्ध-काव्य में

दोनो का चरित्र-चित्रण न कर, मुक्तक में किया है। प्रबन्ध-काव्य मे चरित्र चित्रण की सश्लिष्ट-योजना होती है और मुक्तक में स्फुट। भूषण का चरित्र-चित्रण है तो स्फुट ही, परन्तु उसमे विशेषता यह है कि उन्होने अपने अनेक मुक्तक में नायक और प्रतिनाय, दोनो का चरित्र एक साथ झलका दिया है। शिवाजी धीरोदात्त है, मराठा-साम्राज्य के सस्थापक हैं, हिन्दू जाति और धर्म के रक्षक है, सांस्कृतिक एकता के पोषक हैं, और साथ ही वीर, साहसी, उदार, दानी, स्वाभिमानी, युद्ध-कुशल तथा प्रजा-हितैषी हैं। इसके विरुद्ध प्रतिनायक औरंगजेब धृष्ट है, मुगल-साम्राज्य का उन्मूलक है, सास्कृतिक एकता का विरोधी है और साथ ही ढोगी, धर्मा ध, प्रजा के हितो के प्रति उदासीन, छली, हठी, दभी, अनुदार, द्वेषी तथा लोक-विरोधी है। इस प्रकार भूषण ने नायक और प्रतिनायक, दोनो के चरित्र मे परस्पर विरोधी गुणो को झलका कर अपनी कला का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। उनके चरित्र-चित्रण मे अतिरंजना है अवश्य, पर वह ऐतिहासिक प्रमाणो के कारण उभर नहीं पाई है। शिवाजी के स्वाभिमान का चित्रण इन पंक्तियों मे देखिए :—

'सबन के ऊपर ही ठाढो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो जाय जारिन के नियरे।
जानि गैर मिसिल, गुसैल गुसा धारि उर,
कीन्हों न सलाम, न बचन बोले सियरे॥
भूषन भनत महाबीर बलकन लागो,
सारी पातसाही के उडाय गये जियरे।
तमक ते लाल मुख सिवा को निरखि,
भये सियाह मुँह नौरंग, सिपाह-मुख पियरे॥'

भूषण ने शिवाजी के चरित्र-चित्रण मे उनके यश और आतंक के प्रभाव को अधिक स्थान दिया है। इसलिए ऐसे अवसरो पर उन्हे अपनी कल्पना की बाग ढीली कर देनी पड़ी है। शिवाजी के आतंक के संबंध मे उनकी यह कल्पना देखिए :—

'चित्त अनचैन, आँसू उमगत नैन देखि,
बीबी कहै बैन—मियाँ ! कहियत काहि नै ।
भूषन भनत बूझे आए दरबार ते,
कँपत बार बार, क्यों सम्हार तन नाहिनै ?
सीनो धक धकत, पसीनो आयो देह सब,
हीनो भयो रूप, न चितौत बाएँ-दाहिनै ।
शिवाजी की सक मानि, गए हौ सुखाय,
तुम्है जानियत दक्खिन को सूबा करो साहिनै ॥'

भूषण की इस कल्पना का कोई-न-कोई ऐतिहासिक आधार है। इसलिए इसे पढ़कर पाठक पूरी तरह प्रभावित हो उठता है, परन्तु कहीं-कहीं यह भी हास्यास्पद हो गया है। देखिए :—

'ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी,
ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती है।
कंदमूल भोग करै, कन्दमूल भोग करैं,
तीन बेर खाती ते वै बीन बेर खाती है ॥
भूषन सिथिल अंग, भूखन सिथिल अंग,
बिजन डुलाती ते वै बिजन डुलाती है।
भूषन भनत सिवराज बीर तेरे त्रास,
नगन जडाती ते वै नगन जडाती है ॥'

भूषण ने शिवाजी के यश-वर्णन मे भी इसी प्रकार अपनी कवि-कल्पना का चमत्कार दिखाया है। उदाहरण के लिए उनका यह छन्द लीजिए :—

'इन्द्र निज हेरत फिरत गज इन्द्र अरु,
इन्द्र को अनुज हेरै दुगध नदीस को।
भूषन भनत सुरसरिता कों हंस हेरै,
विधि हेरै हंस को, चकोर रजनीस को ॥
साहि-तनै सिवराज करनी करी है जु तैं,
होत है अचंभो देव कोटियो तैतीस को।

पावत न हेरे, तेरे जस मैं हिराने निज—
गिरि को गिरीस हेरै गिरिजा गिरीस को ।।'

प्रतिनायक औरंगजेब के चरित्र-चित्रण मे भूषण ने विशेष सावधानी बरती है। 'बूट जितना अधिक काला होगा, पैर की गोराई उतनी ही अधिक झलकेगी'—इस सिद्धान्त के अनुसार औरंगजेब के जीवन के उन्ही अंशो पर पूरी चोट की गई है जो लोक-विरोधी और पाखण्डपूर्ण हैं। ऐसा करने मे भूषण ने ऐतिहासिक मर्यादा का पूरा ध्यान रखा है। उदाहरण के लिए उनके ये छन्द लीजिए :—

'किबले की ठौर बाप बादसाह साहजहाँ,
ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है ।
बडो भाई दारा वाको पकरिके कैद कियो,
मेहरहू नाहि माँ को जायो सगो भाई है ।।
बन्धु तौ मुराद बक्स बादि चूक करिबे को,
बीच दै कुरान खुदा की कसम खाई है ।
भूषन सुकवि कहै सुनौ नवरंगजेब,
ऐते काम कीन्हे फेरि पातसाही पाई है ॥'

× × ×

'हाथ तसबीह लिए प्रात उठै बन्दगी को,
आपही कपट रूप कपट सुजप के ।
आगरे मे जाय दारा चौक मे चुनाय दीन्हों,
छत्र हू छिनायो मानो मरे बढे बप के ।।
कीन्हों है सगोत घात सो मै नाहि कहौ फेरि,
पील पै तोरायो चार चुगुल के गप के ।
भूषन भनत छरछंदी मतिमंद महा,
सौ-सौ चूहे खाय कै बिलारी बैठी तप के ॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि औरंगजेब का चरित्र-चित्रण यथार्थ और इतिहास-पोषित है। उसमे कवि-कल्पना का सहारा वहीं लिया गया है

जहाँ भूषण ने शिवाजी की वीरता की गहरी छाप अंकित करने के लिए औरगजेब के चरित्र में कायरता का समावेश किया है। देखिए :—

'सिवा की बडाई और हमारी लघुताई क्यों
कहत बार-बार ?'—कहि पातसाह गरजा।
'सुनिये, खुमान हरि तुरुक गुमान महि—
देवन जेवायो—कबि भूपन यों गरजा॥
तुम वाको पायकै जरूर रन छोरो, वह
रावेर वजीर छोरि देत करि परजा।
मालुम तिहारो होत याहि मे निबेरो रन,
कायर सो कायर औ सरजा सो सरजा॥'

भूषण ने कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं लिखा, फिर भी मुक्तक में उनकी चरित्र-चित्रण-शैली अत्यन्त सजीव और सफल है। सब से बड़ी बात यह है कि उन्होंने अपने सभी पात्रो को तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओ के बीच रख कर समझा और परखा है। इस प्रकार शृङ्गार-काल मे वही एक कवि है जिन्होंने अपनी रचनाओ मे ऐतिहासिक सत्य की पूरी रक्षा की है।

भूषण की अलंकार-योजना

'शिवराज-भूषण' भूषण का अलकार-ग्रन्थ है। इसमें ११६ अलंकारों के लक्षण एव उदाहरण मिलते है, परन्तु भूषण ने अन्त मे दी हुई अपनी सूची के अनुसार केवल १०५ अलकारो का ही वर्णन स्वीकार किया है। शेष चौदह अलकारो के वर्णन उन्होने दिए तो हैं, परन्तु उन्हे मुख्य अलंकारो मे नहीं माना है। ऐसे अलकारो मे लुप्तोपमा, न्यानाधिक रूपक, गुप्तोत्प्रेक्षा आदि के नाम आते हैं।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि भूषण ने १०५ अलंकारो के लक्षण एवं उदाहरण देते हुए भी कई प्रसिद्ध अलंकारों की उपेक्षा की है। ऐसा उन्होने क्यों किया ?—इस प्रश्न के दो ही उत्तर हो सकते हैं : एक तो यह कि वह काव्य-शास्त्र के पडित नही थे और दूसरा यह कि जिस रस को आधार मान कर उन्होने अपनी अलकार-योजना बनाई उसमें वे ही अलकार उस समय तक स्वीकृत थे जिनके लक्षण और उदाहरण उन्होने दिए

हैं। हमे यह दूसरा उत्तर ही युक्ति-सगत प्रतीत होता है। 'शिवराज-भूषण' उन्होने अपनी जो अलंकार-योजना प्रस्तुत की है और उसमें उन्होने अलकार के जो लक्षण और उदाहरण दिए हैं उनके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वह काव्य-शास्त्र के आचार्य नही थे। यदि होते, तो वह 'शिवराज-भूषण की रचना मे संपूर्ण अलंकारो के लक्षण और उनके उदाहरण देते तथा क्रम से अलंकारों का वर्णन करते। इसके अतिरिक्त वह अपने उदाहरणों मे केशव आदि की भाति अलकारो की छटा दिखाते, न कि अपनी भावुकता उनके उदाहरणो मे उनकी भावुकता यह प्रमाणित करती है कि वह आचार्य नहीं, कवि ही थे। शृगार-काल मे जन्म लेने के कारण उन्होने 'शिवराज भूषण' की रचना कर युग-परम्परा का निर्वाह मात्र किया है।

भूषण ने 'शिवराज-भूषण' मे जिन अलंकारो के लक्षण एवं उदाहरण दिए है उनके अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि उन्होने उनकी रचना समय-समय पर की है और अन्त मे ग्रन्थ-निर्माण के समय उन्हे यथा स्थान जोड़ दिया है। यह भी संभव है कि उन्होंने शिवाजी के जीवन से संबंधित भिन्न-भिन्न घटनाओं से प्रभावित होकर स्वतन्त्र रूप से छन्द लिख डाले हो और बादको उन छदो मे पाए जाने-वाले अलंकारों के लक्षण लिख कर उन्होने एक रीति-ग्रंथ का निर्माण कर लिया हो। जो भी हो, इसमे सन्देह नहीं भूषण का यह रीति-ग्रन्थ सदोष है। इसमे कई अलंकारो के जो लक्षण दिए गए हैं वे अपूर्ण एवं अशुद्ध है और उदाहरण भी लक्षणों के अनुसार ठीक नहीं हैं। यदि 'शिवराज-भूषण' में वर्णित अलंकारो के नाम और उनके लक्षण हटा दिए जांय तो उनके उदाहरणो को पढ़ कर कोई पाठक यह नही कह सकता कि उनकी रचना अलंकार-विशेष का उदाहरण देने के लिए की गई है। इसका एक कारण है और वह यह कि उनके उदाहरणो में कला की अपेक्षा स्वाभाविकता की छटा अधिक है। उनमे भावावेग इतना तीव्र है कि वह हमे उनकी अलंकार-योजना पर विचार करने का अवसर ही नही देता। हम उन्हे पढ़कर भावावेग मे बह जाते हैं, अलंकार क्या है, कैसे हैं—इसकी चिन्ता हमें नहीं होती।

भूषण ने पहले अर्थालंकार के लक्षण और उदाहरण दिए हैं और

फिर शब्दालकार के। अर्थालकारो में उपमा, प्रतीप, रूपक, भ्रम, सन्देह, अपह्नुति, व्यतिरेक, विभावना आदि और शब्दालंकारो मे अनुप्रास, यमक आदि के सुन्दर उदाहरण मिलते है। पूर्णोपमा अलंकार का यह उदाहरण लीजिए :-

'गढन गॅजाय, गढ़धरन सजायकरि,
छॉडे कत धरम दुवार दै भिखारी से।
साहिके सपूत पूत बीर सिवराज सिह,
केते गढधारी किए बन बनचारी-से॥
भूषन बखानै केते दीन्हे बदीखाने,
सेख-सैयद हजारी गहे रैयत बजारी-से।
महतों से मुगल, महाजन से महराज,
डॉड़ि लीन्हे पकरि पठान पटवारी से॥'

भूषण अनुप्रास-प्रेमी थे। इसलिए उनकी अधिकांश रचनाओं में अनुप्रास की छटा मिलती है। इस उदाहरण मे उनकी अनुप्रास-प्रियता देखिए:—

'डाढी के रखैयन की डाढ़ी-सी रहत छाती,
बाढी मरजाद जैसी हद्द हिन्दुवाने की।
कढि गई रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की॥
भूषन भनत दिल्ली-पति दिल धकधका,
सुनि-सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चण्डी बिन चोटी के चबाय मुँड,
खोटी भई सम्पति चकत्ता के घराने की॥'

भूषण की रस योजना

भूषण की रचनाएँ वीर रस-प्रधान हैं। आरम्भ मे शृंगार-काव्य के प्रभाव से उन्होने शृङ्गार रस को अपनाया, पर आगे चलकर उन्होने वीर रस मे कविताएँ लिखीं। यही उनकी काव्य-प्रतिभा एव देश और समाज के प्रति उनकी जागरुकता का प्रमाण है। वीर रस का स्थायी भाव है 'उत्साह'। इसके आलंबन-विभाव जीतने योग्य रावणादि होते हैं और

उनकी चेष्टाएँ आदि उद्दीपन-विभाव का काम करती हैं। युद्ध के सहाय धनुष, बाण, तोप, तलवार, बरछी, आदि के अन्वेषणादि इसके अनुभाव औ धैर्य, गर्व, स्मृति, स्वेद, तर्क, रोमांच आदि इसके संचारी भाव होते हैं इसके देवता महेन्द्र है और इसका वर्ण क्षत्रिय तथा रंग सुवर्ण जैसा है शृङ्गार, शान्त तथा भयानक इस रस के विरोधी है। दया, धर्म, युद्ध तथ दान मे जो उत्साह दिखाया जाता है उसके कारण इसके चार भेद मा गए हैं: (१) दया वीर, (२) धर्म-वीर, (३) युद्ध-वीर और (४) दान-वीर इन चारो के अलग-अलग लक्षण इस प्रकार मिलते हे :—

(१) दया-वीर—दया-वीर के लक्षण इस प्रकार है :—

स्थायी भाव—दया मे उत्साह।

आलंबन—दया के पात्र भिखारी आदि।

उद्दीपन—दीन दशा।

अनुभाव—सान्त्वना के वाक्य आदि।

संचारी—धृति, मति, रोमाच आदि।

उदाहरण

'जाहि पास जात सो तौ राखि न सकत याते,
तेरे पास अचल सुप्रीति नाधियतु है।
भूषन भनत सिवराज तव कित्ति सम,
और की न कित्ति कहिबे को काँधियतु है॥
इन्द्र को अनुज तै उपेन्द्र अवतार यातें,
तेरों बाहु बल लै सलाह साधियतु है।
पायतर आय नित निडर बचायबे को,
कोटि बाँधियतु मानो पग बाँधियतु है॥'

(२) धर्म-वीर—धर्म-वीर के लक्षण इस प्रकार हैं :—

स्थायी भाव—धर्म में उत्साह।

आलंबन—धर्म तथा ग्रथ आदि।

उद्दीपन—यज्ञ, अनुष्ठान, व्रत आदि।

अनुभाव—धर्माचरण, धर्मार्थ-कष्ट-सहन आदि।

संचारी—धृत, मति आदि।

उदाहरण

'वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिंदुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे मे जनेऊ राख्यो, माला राखी गर मैं॥
मीडि राखे मुगल, मरोडि राखे पातसाह,
बैरी पीस राखे, बरदान राख्यो कर मैं।
राजन की हद्द राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यो घर मैं॥'

(३) युद्ध-वीर—युद्ध-वीर के लक्षण इस प्रकार हैं :—

स्थायी भाव—युद्ध मे उत्साह।

आलंबन—शत्रु आदि।

उद्दीपन—शत्रु-चेष्टाएँ आदि।

अनुभाव—गर्वोक्ति।

सचारी—गर्व, तर्क, धृति, स्मृति, रोमाच आदि।

उदाहरण

'कोटि गढ ढाहियतु एकै पातसाहन के,
एकै पातसाहन के देश दाहियतु है।
भूषन भनत महाराज सिवराज एकै,
साहन की फौज पर खग्ग वाहियतु है॥
क्यों न होंहि बैरिन की बैरि-वधू बैरी सुनि,
दौरनि तिहारे कहौ क्यों निबाहियतु है।
रावरे नगारे सुनि बैर वारे नगरन,
नैन वारे नदन निवारे चाहियतु है॥'

(४) दान-वीर—दान-वीर के लक्षण इस प्रकार है :—

स्थायी भाव—त्याग मे उत्साह।

आलबन—दान योग्य ब्राह्मण आदि।

उद्दीपन—अवसर तथा पात्रो के गुण आदि।
अनुभाव—सर्वस्व-परित्याग।
सचारी—हर्ष, गर्व, मति आदि।

उदाहरण

'साहि-तनै सरजा की कीरति सों चारों ओर,
चाँदनी बितान छिति छोर छाइयतु है।
भूपन भनत ऐसो भूप भौंसिला हैं,
जाके द्वार भिच्छुक सदाई भाइयतु है॥
महादानि सिवाजी खुमान था जहान पर,
दान के प्रमान जाके यों गनाइयतु है।
रजत की हौस किये हेम पाइयतु जासों,
हयन की हौस किये हाथी पाइयतु है॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि भूषण की रचनाओ में वीर रस का परिपाक अत्यन्त सुन्दर हुआ है। वीर रस के काव्य में सर्वाधिक महत्त्व युद्ध-वीरता को ही दिया जाता है। भूषण ने भी यही किया है। उन्होने छत्रपति शिवाजी और छत्रसाल बुन्देला के अनेक वीरतापूर्ण चित्र उतारे हैं। देखिए, वीररसपूर्ण यह चित्र कितना ओजस्वी है :—

'छूटत कमान अरु गोली तीर बानन के;
मुसकिल होत मुरचान हू की ओट मैं।
ताहि समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दावा बांधि परा हल्ला बीरभट जोट मैं॥
भूषन भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहौ,
किम्मत यहाँ लगि है जाकी भट झोट मैं।
ताव दै दै मूँछन, कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरिमुख घाव दै दै, कूदे परैं कोट मैं॥'

वीर रस के परिपाक मे प्राचीन कवियों ने प्रायः ऊहात्मक शैली का अनुसरण किया हैं। भूषण ने भी इस शैली को अपनाया है, परन्तु उन्होंने

इस का प्रचुर प्रयोग नहीं किया है। उनकी अतिरंजित शैली के दो उदाहरण लीजिए :—

'दल के दरारन तें कमठ करारे फूटे,
केरा के-से पात बिहराने फन शेष के।'

× × ×

'तारा सो तरनि धूरि-धारा में लगत,
जिमि थारा पर पारा पारावार यों हलत है।'

कहीं-कहीं अतिरंजना के प्रवाह मे पड़कर भूषण बहक भी गए हैं :—

'बैरि-नारि-दृग-जलन सों बूड़ि जाति अरि-गाँव।'

वीर रस के अतिरिक्त भूषण ने रौद्र और भयानक रसों के भी अत्यन्त सफल चित्र उतारे हैं। शिवाजी के प्रताप से भयभीत शत्रुओ और उनकी स्त्रियों का चित्र उतारने मे उन्हे अधिक सफलता मिली है। रौद्र रस के भी कई छंद बहुत सुन्दर हैं। रौद्र रस के आधार पर भयानक का यह चित्र लीजिए :—

'प्रेतिनी पिसाच रु निसाचर-निसाचरि हू,
मिलि-मिलि आपुस मै गावत बधाई है।
भैरों भूत, प्रेत, भूरि भूधर भयंकर-से,
जुत्थ-जुत्थ जोगिनी जमात जुरि आई है॥
किलकि-किलकि कै कुतूहल करति काली,
डिम-डिम डमरू दिगम्बर बजाई है।
सिवा पूछै सिव सों समाज आजु कहाँ चली,
काहू पै सिवा नरेस भृकुटी चढाई है॥'

भूषण की छंद-योजना

भूषण ने 'शिवराज-भूषण' में कुल बारह प्रकार के छंदो का प्रयोग किया है जिनमे से अधिकांश मात्रिक और शेष वर्णवृत्त हैं। मात्रिक छन्दों में छप्पय, रोला, उल्लाला, दोहा, हरिगीतिका, लीलावती, गीतिका तथा अमृतध्वनि और वर्णवृत्त में मनहरण, किरीटी, मालती तथा माधवी को स्थान दिया गया है। भूषण ने विषय के अनुकूल ही छन्दों का चुनाव

किया है। दोहो मे अलंकारों के लक्षण दिए गए हैं और युद्ध-वर्णन में वीर-गाथा-काल की परम्परा के अनुसार अमृतध्वनि और मनहरण का प्रयोग किया गया है। लामहर्षक युद्ध की भयंकरता दिखाने के लिए अमृतध्वनि छंद अधिक उपयुक्त होता है। पर जहाँ साधारण आक्रमण आदि का वर्णन करना अभीष्ट होता है वहाँ अन्य छदो से भी काम लिया जा सकता है। आतक-वर्णन, यश-वर्णन तथा प्रशस्ति आदि मे मनमहरण का प्रयोग किया जाता है। यह मुक्तक दंडक है। इसको घनाक्षरी अथवा कवित्त भी कहते है। भूषण ने इसी छन्द का अधिक प्रयोग किया है।

भूषण की शैली

भूषण के वर्ण्य-विषय है—युद्ध, शिवाजी का प्रताप, शिवाजी की धर्म-परायणता, शिवाजी की दानशीलता, शिवाजी का आतक, शत्रु-स्त्रियो की दुर्दशा आदि। इन्ही विषयो के वर्णन मे उनकी शैली का प्रादुर्भाव हुआ है। विषय की दृष्टि से उनकी शैली व्यास-प्रधान वर्णनात्मक शैली है। इसमे ओज और प्रसाद गुण का आधिक्य है। लक्षणा और व्यंजना के फेर मे न पड़कर भूषण ने शब्दो की अमिधा शक्ति से अधिक काम लिया है। इसलिए उनकी यह शैली अत्यन्त स्वाभाविक, सरल और प्रभावोत्पादक हैं। कहीं-कही शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने के कारण शैली के प्रवाह मे बाधा अवश्य पड़ी है, परन्तु विषय की रोचकता के कारण उसका अनुभव नही होता।

काव्य-निरूपण की दृष्टि से भूषण की शैली मुक्तक है। मुक्तक दो प्रकार का होता है: (१) प्रबन्ध-मुक्तक और (२) भाव-मुक्तक। प्रबन्ध मुक्तक मे भाव, घटना अथवा कथा, के आश्रित रहते है और भाव-मुक्तक मे भावो का वेग रहता है। भूषण ने अधिकांश प्रबन्ध-मुक्तक ही लिखे है। उनके प्रबन्ध-मुक्तक दो प्रकार के हैं: एक तो वे जिनमे घटनाओं का आश्रय अधिक लिया गया है और दूसरे वे जिनमें घटनाओ अथवा विशिष्ट पात्रों की ओर संकेत कर नायक के गुणो का उत्कर्ष प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार के मुक्तको मे आतंक-वर्णन, यश-वर्णन, दान-वर्णन आदि आते हैं। यश-वर्णन और आतंक-वर्णन की दृष्टि से भूषण की रचनाएँ बेजोड़

हैं। केवल यश-वर्णन के लिए भूषण से पहले किसी कवि ने इतना बड़ा ग्रथ नहीं लिखा। भूषण के यश-वर्णन मे एक अनूठापन भी है और वह यह कि उन्होंने नायक के उत्कर्ष के साथ-साथ प्रतिनायक के उत्कर्ष को भी बड़ी सावधानी से चित्रित किया है। यदि वह अपने प्रतिनायक को साधारण व्यक्ति के रूप में चित्रित करते तो न तो नायक के चरित्र का मनोवांछित विकास हो पाता और न शैली मे ही बल आता। तुलसी का रावण जिस प्रकार विद्वान, बली और कूटनीतिज्ञ है उसी प्रकार भूषण का नायक भयंकर है। ऐसे भयकर व्यक्ति से लोहा लेनेवाले को राम की भाति शक्ति-सम्पन्न और महायोद्धा होना चाहिए। भूषण इस रहस्य से भली भांति परिचित हैं। इसलिए यश-वर्णन मे उनकी शैली निखर उठी है।

यश-वर्णन की भाँति ही भूषण का आतंक-वर्णन ओजस्वी, प्रभावोत्पादक और सजीव है। इसका मुख्य कारण भूषण की कवि-कल्पना नहीं, अपितु उनका निजी वास्तविक ज्ञान है। उन्होंने जो कुछ देखा, उसी का चित्रण उन्होने किया है। जहाँ उन्होने आतक से भयभीत शत्रु-नारियों की दुर्दशा का चित्रण किया है वहाँ उनका उद्देश्य नायक के आतक का प्रभाव मात्र दिखाना है। उनकी यह शैली प्राचीन काव्य-परम्परा से पोषित और काव्योचित है। इससे शैली मे बल आया है और कवि को अपना उद्देश्य चरितार्थ करने मे सफलता मिली है।

भूषण की शैली की एक विशेषता और है और वह है चित्रोपमता। भूषण दृश्य-चित्रण मे बहुत कुशल हैं। युद्ध-वर्णन में उनकी यह कला अधिक प्रस्फुटित हुई है। अपनी इस कला-द्वारा उन्होंने अपने वर्णित विषय का अत्यन्त सुन्दर चित्र उतारा है। देखिए :—

'चकित चकत्ता चौंकि-चौंकि उठै बार-बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है।'

× × ×

'ताव दै दै मूँछन, कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरि-मुख घाव दै दै, कूदे परैं कोट मै।'

× × ×

'रन-भूमि लेटे अधकटे अरसेटे परे,
रुधिर लपेटे पठनेटे फरकत है।'

भूषण की भाषा

भूषण की भाषा ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा-व्यवहार की दृष्टि से कवियो की तीन कोटियाँ हैं : एक तो वे जिन्होने ब्रज के सपर्क मे रहकर अपनी रचनाओं में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है, दूसरे वे जिन्होने ब्रज-भाषा का गभीर अध्ययन कर उसका प्रयोग किया है और तीसरे वे जिन्होंने युग-परंपरा पालन मात्र के लिए ब्रजभाषा को अपनाया है। भूषण इसी तीसरी कोटि मे आते है। उन्होने न तो ब्रज के संपर्क मे रहकर ब्रजभाषा सीखी है और न उससे दूर रहकर उसकी शब्दावली का अध्ययन किया है। इसलिए उनकी ब्रजभाषा उखड़ी-पुखड़ी, अशुद्ध और असयत है।

भूषण की ब्रजभाषा मे ओज अधिक है। अपनी भाषा में इस गुण की सप्रतिष्ठा करने के लिए उन्होंने ब्रजभाषा के अतिरिक्त राजस्थानी, बुन्देलखण्डी, प्राकृत और विदेशी शब्दो का सहारा लिया है। इस संबंध में हमें यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि जिस समय भूषण दक्षिण भारत में अपनी रचनाएँ कर रहे थे उस समय वहाँ उर्दू भाषा जन्म लेकर अपने विकास का पथ खोज रही थी। इसके अतिरिक्त मुसलमानो के अत्यधिक संपर्क के कारण उनकी भाषा अर्थात् फारसी और अरबी के अनेक शब्द जनता की बोलियो में घुल-मिल गए थे। नमाज, जसन, गाजी, रोजा, हजार, हासिल, गुसलखाना, तसबीह, जाबता, गरूर, हरमखाना, खिलवत खाना आदि ऐसे अनेक शब्द थे जिनकी उपेक्षा उस समय नहीं की जा सकती थी। भूषण ने भी इन्ही शब्दो को अपनाया है, परन्तु एक विशेषता के साथ। विशेषता यह है कि उन्होने फारसी-अरबी शब्दो का प्रयोग मुख्यतः तद्भव रूप में किया है और वहीं किया है जहाँ उन्होने मुसलमान-पात्रो का चरित्र-चित्रण किया है। शिवाजी के यश-वर्णन, दान-वर्णन, शील-वर्णन आदि मे उनकी ब्रजभाषा फारसी-अरबी के प्रभाव से प्रायः मुक्त है। उदाहरण लीजिए :—

'मनिमय महल सिवराज के इमि रायगढ मे राजहीं।
लखि जच्छ, किन्नर, सुर-असुर, गन्धर्व हँसनि साजहीं ॥'

अब उनकी फारसी-अरबी शब्दावली से प्रभावित ब्रजभाषा का यह रूप लीजिए :—

'भूषन सिवाजी गाजी खग्ग से खपाये खल,
खाने-खाने खलन के खेरे भए खीस है।
खडगी खजाने खरगोस खिलवत खाने,
खीसे खोले खस खान खाँसत खबीस है ॥'

भूषण की भाषा पर कहीं-कहीं खड़ीबोली का भी प्रभाव है। एक उदाहरण लीजिए :—

'बचेगा न समुहाने, बहलोल खाँ अयाने,
भूषण बखाने दिल आनि मेरा वरजा।
तुझते सवाई तेरा भाई सलहेरि पास,
कैद किया साथ का न कोई बीर गरजा ॥
साहिन के साहि उसी औरंग के लीन्हे गढ,
जिसका तू चाकर और जिसको तू परजा।
साहि का ललन दिल्ली-दल का दलन,
अफजल का मलन सिवराज आया सरजा ॥'

उक्त खड़ीबोली से प्रभावित ब्रजभाषा मे क्रिया-पद, सर्वनाम तथा विभक्तियो के रूप खड़ीबोली के हैं। इस से सर्वथा भिन्न उनकी ब्रजभाषा का यह चौथा रूप लीजिए :—

'दिल्लिय दलन दबाय करि सिवसरजा निरसंक।
लूटि लियो सूरति सहर बंकक्करि अति डंक ॥
बंकक्करि अति डंकक्करि अस संकक्करि खल।
सोचच्चकित भरोंचच्चलिय विमोचच्चख जल ॥
तट्ठट्ठइमन कट्ठट्ठिक सोइ रट्ठट् ठिल्लिय।
सद्दद्दिस दिसि भद्दद्दबि भइ रद्द द्दिल्लिय ॥'

यह भूषण की डिंगल-प्रधान ब्रजभाषा है जिसका प्रयोग पुस्तक

अन्त के केवल चार अमृतध्वनि छन्दो में किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भूषण की रचनाओ में उनकी भाषा के चार रूप हैं : (१) शुद्ध ब्रजभाषा, (२) फारसी-अरबी प्रधान ब्रजभाषा, (३) खड़ी बोली प्रधान ब्रजभाषा और (४) डिंगल-प्रधान ब्रजभाषा। ब्रजभाषा के इन सभी रूपों में उनका शब्द-चयन स्वस्थ नही है। लगता है, उन्होने दक्षिण के लोगों के लिए एक विशेष प्रकार की भाषा का निर्माण किया है। अपने इस प्रयत्न मे उन्हे सफलता अवश्य मिली है, पर इससे वह अपनी ब्रजभाषा का सहज माधुर्य खो बैठे हैं।

एक बात और है जो भूषण की ब्रजभाषा के पक्ष मे कही जा सकती है। भूषण का युग शृङ्गार रस का युग था। इस रस के प्रयोग मे ब्रजभाषा अच्छी तरह खरादी और माँजी जा चुकी थी। वीर रस में रचनाएँ होती अवश्य थी; परन्तु बहुत कम। इस रस से सबधित अन्य रसो मे भी इनी-गिनी रचनाएँ होती थी। यदि यह सिद्धान्त सत्य है कि रस के अनुकूल भाषा होनी चाहिए तो यह मानना होगा कि भूषण के सामने वीर रस के उपयुक्त ब्रजभाषा नही थी। ऐसी स्थिति मे उन्हे दक्षिण भारत के वातावरण के अनुकूल और साथ ही वीर रस के उपयुक्त भाषा का निर्माण करना पड़ा। यह सच है कि वह उबड़-खाबड है और उसमे शब्दो का तोड़-मरोड़ भी है, परन्तु वह है वीर रस के उपयुक्त और उसमें पर्याप्त ओज है। उसमें यथा स्थान लोकोक्तियो एव मुहावरो के सुन्दर प्रयोग भी मिलते हैं। **'तारे लागे फिरन सितारे, गढ़धर के'**, **'तारे सम तारे मूँदि गये तुरकन के'**, आदि अच्छे मुहावरे हैं। इसी प्रकार **'सौ-सौ चूहे खाय के बिलारी बैठी तप के'**, **'काल्ह के जोगो कलींदे को खप्पर'** आदि अत्यन्त चुटीली और सार्थक लोकोक्तियाँ उनकी भाषा मे मिलती है। इन विशेषताओ के कारण उनकी भाषा खिचड़ी होते हुए भी ओजपूर्ण, चुटीली, प्रभावोत्पादक और अपने उद्देश्य में सफल है।

: ६ :

देवदत्त द्विवेदी

जन्म-सं० १७३० : मृत्यु-सं० १८२४

जीवन-परिचय

देवदत्त का जन्म सं १७३० में हुआ था। उनके पिता पं० बिहारी लाल दुबे काश्यप गोत्री कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इटावा के लालपुरा में रहते थे। यही रहकर देवदत्त ने 'भाव-विलास और अष्टयाम की रचना की। कहा जाता है कि २६ वर्ष की अवस्था मे वह यहाँ से कुसमरा चले गये। कुसमरा इटावा-फरुखाबाद की सड़क पर इटावा मे लगभग ३० मील दूर है। यहाँ देव के समय के कुछ चिह्न अब भी मिलते हैं।

देवदत्त की शिक्षा के सम्बन्ध मे कोई बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती, परन्तु सरस्वती के प्रसाद से उन्हों ने सोरह वर्ष की अवस्था मे ही 'भाव-विलास' और 'अष्टयाम' की रचना की थी। इससे स्पष्ट होता है कि वह अपने समय के प्रतिभा-संपन्न कवि थे। उस समय औरंजेब का तृतीय पुत्र आजमशाह बड़ा गुणज्ञ और साहित्यानुरागी था। देव ने आरम्भ में उन्हीं का आश्रय ग्रहण किया और उन्हे अपना 'भाव-विलास' और 'अष्ट याम' सुनाया। इससे आजमशाह के दरबार मे उनकी धाक जम गई। इस दरबार से उनका संपर्क कुछ दिनों बाद ही छूट गया और उन्हो ने रेवाड़ी से आगे चर्खी-दादरी के राजा सीताराम (स० १७५०-१८००) के भतीजे भवानीदत्त वैश्य का आश्रय ग्रहण किया। भवानीदत्त वैश्य भी काव्य-रसिक थे। अपने पितृव्य राजा सीताराम के साथ दिल्ली-दरबार मे वह आया-जाया करते थे। इसी अवसर पर देवदत्त से उनका चरिचय हुआ। देवदत्त उनके साथ चर्खी-दादरी आकर रहने लगे। परन्तु यहाँ से भी उन्हें शीघ्र ही नाता तोड़ना पड़ा।

देवदत्त के तीसरे आश्रय-दातादा फफूँद के कुशल सिंह थे। कुशल सिंह सेगर क्षत्रिय थे। फफूँद उनके रियासत की राजधानी थी। देवदत्त

उनके आश्रय मे लगभग सं० १७६५ तक रहे। इसके पश्चात् वह कई वर्षो तक अच्छे आश्रय-दाता की खोज मे इधर-उधर भटकते रहे। अन्त मे स० १७८३ क आस-पास राजा भोगीलाल से उनकी भेंट हुई। राजा भोगीलाल कही के राजा नही थे, पर वह धनी और गुणज्ञ अवश्य थे। उनसे देवदत्त की खूब निभी। उन्हे पाकर देवदत्त अपने सभी आश्रय-दाताओ को भूल गये, परन्तु दुर्भाग्यवश वह उनके साथ भी अधिक दिनो तक न रह सके। इस समय तक वह काफी प्रौढ़ हो चुके थे। फिर भी उन्हे आश्रय-दाता की आवश्यकता तो थी ही। कहा जाता है कि इस समय उन्होने मर्दनसिंह के पुत्र उद्योतसिंह का आश्रय ग्रहण किया। उद्योतसिंह वैस छत्रिय थे और इटावा के निकट ब्योंड़िया खेरा के जागीदार थे। 'सुजान विनोद' से यह भी ज्ञात होता है कि भवानीदत्त के भाई लाला पातीराम के पुत्र सुजानमणि भी उनके आश्रय-दाता थे।

देवदत्त के अतिम आश्रय दाता थे अबाद उल्ला खाँ के पुत्र पिहानी-निवासी अकबर अली खॉ। अकबर अली खाँ प्रतापी, वीर और काव्य-प्रेमी थे। अपनी आर्थिक परिस्थितियो से विवश होकर ही देवदत्त ने उनका आश्रय ग्रहण किया था। उस समय उनकी अवस्था लगभग ९४ वर्ष की थी। अपनी इतनी अधिक अवस्था मे उन्होने अपने घर से दूर रहना उचित नहीं समझा। इसलिए वह उचित पुरस्कार प्राप्त कर कुसमरा लौट आये और वही स० १८२४ मे उनका स्वर्गवास हुआ।

देव की रचनाएँ

जनश्रुति के अनुसार देवदत्त के ग्रन्थो की संख्या ५२ अथवा ७२ बताई जाती हैं, परन्तु आजकल उनके कुल १८ ग्रथ प्राप्य हैं। इनमे से भी केवल १२-१३ ग्रन्थ ही मुद्रित हैं। 'भाव-विलास' (सं० १७४६) उनका पहला ग्रन्थ है। इसमे पॉच विलास हैं जिनमें से प्रथम चार मे केवल शृंगार रस का ही सर्वांग विवेचन किया गया है। पॉचवे विलास मे अलकारों का वर्णन है। देपदत्त ने कुल ३९ अलंकार माने हैं। अष्टयाम (सं० १७४६) उनकी दूसरी रचना है। इसमे नायक-नायिका के अष्टयाम अर्थात् चौसठ घड़ी के विविध विलास का क्रमबद्ध विवरण है। तीसरा ग्रन्थ भवानी-विलास

है। यह अनुमानतः स० १७५०-५५ के बीच की रचना है। इसका विषय नायिका-भेद है जो आठ विलासो मे विभाजित किया गया है। भवानीदत्त वैश्य के नाम पर इसका नाम 'भवानी-विलास' रखा गया है। **शिवाष्टक** (सं० १७५५) चौथा ग्रन्थ है। इसमे शिवजी की स्तुति के केवल ८ कवित्त हैं। यह देवदत्त की सबसे हलकी रचना है। **प्रेम तरंग** (सं० १७६०) भी नायिका-भेद संबंधी ग्रन्थ है, परन्तु इसकी जो प्रति प्राप्य है वह अपूर्ण है। **कुशल-विलास** कुशलसिंह के आश्रय-काल की रचना है। इसका वर्ण्य-विषय भी नायिका-भेद ही है। **जाति विलास** (स० १७८०) मे जाति, वास तथा देश के क्रम से नायिका-भेद का वर्णन है। **रस-विलास** (सं० १७८३) भोगीलाल के आश्रय-काल की रचना है। इसमे भी नायिका-भेद है। अधिकांश छद 'भावानी विलास' और 'जाति-विलास' से लिए गए हैं। **प्रेमचन्द्रिका** मे प्रेम का वर्णन है। यह देव का अत्यन्त सरस ग्रथ है। **सुजान-विनोद** (सं० १७९५) मे ऋतुओ के अनुसार नायिका-भेद का वर्णन है। यह देव का प्रौढ़तम ग्रन्थ है। **राग-रत्नाकर** संगीत का लक्षण-ग्रन्थ है। **शब्द-रसायन** (सं० १८००) रीति-ग्रन्थ है। इसकी रचना से देव के आचार्यत्व का आभास मिलता है। यह उनका सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। **देव-चरित्र** एक खण्ड काव्य है जिसमे कृष्ण-चरित्र का वर्णन है। **देव-माया-प्रपंच नाटक** 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की शैली पर लिखा गया पद्य-बद्ध नाट्य रूपक है। **देव-शतक** में देव के दार्शनिक भाव है जो उनकी अनुभूति के सयोग से काव्यमय हो गए हैं। **सुख-सागर-तरंग** का वर्ण्य-विषय सागोपाग शृंगार है जिसके अन्तर्गत नायिका-भेद का विस्तृत वर्णन है। इन ग्रंथो के अतिरिक्त उनके कुछ और ग्रन्थ कहे जाते है, परन्तु वे अप्रामाणित और सदिग्ध है।

देव का समय

इस प्रकार हम देखते है कि देव अपने समय के अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। साहित्यिक दृष्टि से उनका समय उनकी काव्य-प्रतिभा के सर्वथा अनुकूल था। उनके समय तक शृंगार-काल की विभिन्न शैलियाँ परिपक्व हो चुकी थीं और ब्रजभाषा का साहित्यिक रूप स्थिर हो चुका था। केशव, बिहारी, मतिराम, भूषण आदि के आचार्यत्व की छाप हिन्दी-साहित्य

पर लग चुकी थी और रीति-ग्रन्थों की मर्यादाएँ निश्चित हो चुकी थीं। अलंकारों और रसो की खूब छान-बीन हो चुकी थी। इसलिए देव का कार्य अपने पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा सरल था। उनके सामने भक्त और शृंगार-काल की उत्कृष्ट शैलियाँ थीं, उच्च भाव थे, गंभीर विचार थे। उनकी प्रतिभा ने इस साहित्यिक-सामग्री का भलीभाँति उपयोग किया और इस पर अपनी मौलिकता एवं अध्ययन की गहरी छाप लगाई। उनकी मृत्यु के बाद उनके-जैसा प्रतिभाशाली कवि हिन्दी को फिर नहीं मिला।

परन्तु साहित्यिक क्षेत्र मे इतना महत्व प्राप्त करते हुए भी देवदत्त को अपनी जीवन-परिस्थितियों से कभी सन्तोष नहीं हुआ। उन्हें आए दिन नए-नए आश्रयदाता की खोज में इधर-उधर भटकना पड़ा। १६ वर्ष की अल्पावस्था से ६४ वर्ष की अवस्था तक वह बराबर ऐसे राजा का आश्रय खोजते रहे जो उनकी काव्य-प्रतिभा को समादृत कर उन्हे आर्थिक झंझटों से मुक्त करे, परन्तु उनके दुर्भाग्य से उन्हे उनके मनोनुकूल कोई आश्रय-दाता नहीं मिला। कहा जा सकता है कि वह स्वाभिमानी और मनमौजी थे। परन्तु उनके मन की ये वृत्तियाँ ही उनके मार्ग में बाधक नहीं थी। राजनीतिक दृष्टि से भी उनका समय अत्यन्त असन्तोषजनक था। हिन्दी के साहित्यिक रंगमंच पर उनका अविर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब मुगल-साम्राज्य अपने उतार पर था। औरंगजेब की राजनीतिक एवं कट्टर धर्म-नीति के कारण हिन्दू तथा शिया-संप्रदाय के मुसलमानो मे इतना क्षोभ उत्पन्न हो गया था कि उसे दमन करना कठिन हो गया था। पंजाब में सिक्खो और दक्षिण मे मराठो की विद्रोह-भावना उग्र रूप धारण कर चुकी थी। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रो में राजसिंहासन के लिए जो गृह-युद्ध हुआ उसने राजनीतिक परिस्थितियो को और भी भयंकर बना दिया। केन्द्रीय शक्ति के अभाव में सब को अपनी-अपनी जान के लाले पड़ गये। यह देखकर यूरोपीय शक्तियो को उभरने का अवसर मिला जिससे सारा वातावरण और भी विषाक्त हो उठा। ऐसी राजनीतिक परिस्थिति में हिन्दी-साहित्य की उन्नति के सभी द्वार बन्द हो गये। देवदत्त को इसीलिए भटकना पड़ा। केशव, बिहारी, भूषण, पद्माकर आदि

देवदत्त की अपेक्षा अधिक सौभाग्यशाली थे। उनका समय मुगल-साम्राज्य के उत्कर्ष का समय था। भूषण यद्यपि औरगजेब के समय में ही हुए थे तथापि महाराष्ट्र-प्राण शिवाजी का सहयोग एवं आश्रय उन्हे प्राप्त था। परन्तु देव के समय मे कोई ऐसा राजा नहीं था जो काव्य-प्रेमी होने के साथ-साथ दानी भी हो। फलतः देवदत्त के साथ ही साहित्यिक क्षेत्र से आश्रय-दाताओ की परम्परा भी उठ गई।

देव का व्यक्तित्व

देवदत्त की जीवन-परिस्थितियाँ तत्कालीन विषाक्त राजनीतिक वाता-वरण के कारण उनकी प्रतिभा के विकास के लिए भले ही उपयुक्त न रही हो, परन्तु इससे वह कभी हताश नही हुए। वह सरस्वती के भक्त और अपने समय के वाक्‌सिद्ध कवीश्वर थे। उनका स्वाभिमान सदैव जाग्रत रहता था। उनकी जीवन-दृष्टि गभीर और पैनी थी। वह बड़ी सज-धज से रहते थे। वह स्वयं रूपवान थे और जीवन मे सौदर्य की खोज करते रहते थे। उनकी प्रकृति स्पष्टतः शृङ्गारिक थी, परन्तु उनमे ओछी प्रकार की शृंगा-रिकता नहीं थी। उनमे राग के साथ वैराग्य की गहरी भावना भी थी। राधा-कृष्ण के प्रति उनका सच्चा अनुराग था। अपने विषय के वह पूर्ण पंडित भी थे। काव्य-शास्त्र के अतिरिक्त ज्योतिष, वेदान्त, संगीत, आयुर्वेद और वैष्णव-साहित्य के वह अच्छे ज्ञाता थे। पौराणिक कथाओ में उनकी विशेष आस्था थी। मानव-प्रकृति मे भी उनकी गहरी पैठ थी। लोक व्यवहार मे भी वह निपुण थे। वह हर तरह के लोगो के संपर्क में आ चुके थे। इसलिए वह मानव-गुण के सच्चे पारखी भी थे। धन के लोभ से उन्होने कभी किसी की प्रशंसा नही की और न किसी की प्रशंसा मे उन्होने किसी ग्रन्थ की ही रचना की। वह भारती के सच्चे उपासक थे। वह धन कमाकर सम्पन्न बनने के लिए आश्रय-दाता की खोज मे नहीं रहते थे, वह उनकी खोज करते थे अपनी जीवन-परिस्थितियो को अपनी काव्य-प्रतिभा के उपयुक्त बनाने के लिए। इसलिए वह बहुत दिनों तक किसी के यहाँ टिक भी नहीं सके। यदि किसी आश्रय-दाता ने उनकी किसी रचना पर प्रसन्न हो कर उन्हे इतना पुरस्कार दे दिया जो कुछ दिनों तक उनके

जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त हो गया तो वह चुपचाप अपने घर लौट आए या फिर किसी लम्बी-यात्रा पर निकल पड़े। ऐसा था उनका व्यक्तित्व ! आर्थिक दृष्टि से उन्हे जो भी कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ी हो, पर इसमे शक नहीं कि उन्होने उन कठिनाइयो से आक्रान्त होकर कभी घुटने नहीं टेके। वह आजन्म पुरुषार्थी बने रहे।

देव की काव्य-साधना

शृङ्गार-कालीन ब्रजभाषा के कवियो की शृंखला मे देवदत्त एक अंतिम कड़ी थे। इसलिए हमे उनकी रचनाओ मे उनके समय की संपूर्ण सामग्री एक साथ मिल जाती है। मोटे तौर पर उनकी रचनाओ के तीन पक्ष हैं : (१) शृङ्गारिक पक्ष (२) दार्शनिक पक्ष और (३) आचार्य-पक्ष। शृंगारिक पक्ष के अन्तर्गत 'अष्टयाम', 'जाति-विलास,' 'रस-विलास,' 'सुजान-विनोद', 'सुख-सागर तरंग' 'देव-चरित,' 'प्रेम-चन्द्रिका' आदि की गणना की जा सकती हैं। इसी प्रकार 'देव-माया-प्रपच' तथा 'देव शतक' में दार्शनिक पक्ष को स्थान मिला है। 'भवानी-विलास', 'भाव-विलास' और 'शब्दर-सायन' साधारणतः रीति-ग्रंथ है। शैली की दृष्टि से 'देव-माया प्रपंच' नाट्य रुपक, 'देव चरित्र' खण्ड काव्य और शेष सभी मुक्तक हैं।

(१) प्रेम-निरूपण—देवदत्त मुख्यतः शृंगार और प्रेम के कवि हैं। उनकी रचनाओं का सन्देश प्रेम का सन्देश है। अपनी 'प्रेम-चन्द्रिका' मे उन्होने प्रेम का अत्यन्त सजीव वर्णन किया है। उसमे प्रेम का लक्षण, उसका स्वरूप, उसका महात्म्य, उसके विविध भेद आदि विषयो पर उनकी सहज प्रतिभा का चमत्कार देखने योग्य है। परन्तु वह उस प्रेम के गायक नही है जो वासना जन्य होता है। अपनी रचनाओं मे उन्होने विशुद्ध प्रेम को ही अधिक महत्त्व दिया है। इस प्रकार के प्रेम मे उषाकाल की प्रभा का प्रभाव होता है और इसका आदर्श होता है दो आत्माओ का एक हो जाना। स्वार्थ का अभाव ही इसकी विजय है। यह सुन्दर, सत्य, सर्वव्यापी और अविनाशी भी है। देव कहते है :—

'मोहि मोहि मन भयो मोहन को राधिकामय,
राधिका हू मोहि-मोहि मोहनमयी भई।'

× × ×

'यों ही मेरो मन मेरे काम को रह्यो न 'देव'
स्याम-रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग मै।'

× × ×

'साँवरे लाल को खाँवरो रूप मे,
नैनन को कजरा करि राखौ।'

देव के प्रेम का लक्षण है :—

'सुख-दुख मे है एक सम, तन मन बचननि प्रीति।
सहज बढै हित चित नयो, जहाँ सुप्रेम प्रतीति॥'

देव ने प्रेम को पाँच भागो मे विभाजित किया है: (१) सानुराग, (२) सौहार्द्र, (३) भक्ति, (४) वात्सल्य और (५) कार्पण्य। इन सब भागो का उन्होने सोदाहरण अनूठा वर्णन किया है। विषयजन्य-प्रेम-वर्णन भी उनकी मे मिलता है, रचनाओ परन्तु ऐसे प्रेम को वह विष के समान मानते हैं:—

'विषयी जन व्याकुल विषय देखै विषु न पियूष।
सीठी मुख मीठी जिन्हे जूठी ओठ मयूष॥'

देव पवित्र दाम्पत्य-प्रेम के समर्थक हैं। उन्होने पुरुषो को पर-नारी-विहार से विरत कराने के लिए पर-नारी-संयोग की तुलना कठिन योग से की है। उनका यह कहना कि 'भूलेहु न भोग, बडी बिपति वियोग विथा, जोग हू ते कठिन सँयोग परनारी को' इस बात का यथेष्ठ प्रमाण है कि वह अपने प्रेम-वर्णन मे कामुकता के विरोधी है। उन्होने जिस प्रकार पुरुषो को पर-नरी-संयोग से सचेत किया है, उसी प्रकार वह नारी-समाज को भी पातिव्रत धर्म का पालन करने के लिए आदेश देते हैं। नारी-जाति के लिए परकीयत्व कलंक है। देव उसके घोर विरोधी है। उन्होने अपने नायिका भेद मे आचार्यत्व के नाते ही परकीया के प्रेम का वर्णन किया है। उनके मतानुसार उत्तम शृङ्गार रस का आधार स्वकीया नायिका है और उसी का प्रेम शुद्ध सानुराग प्रेम है। स्वकीया मे भी वह मुग्धा मे ही आदर्श प्रेम पाते हैं। मध्या और प्रौढ़ा का प्रेम आदर्श प्रेम नही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि देव का प्रेम-वर्णन भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तो के अनुकूल है। उसमे

अस्वाभाविकता नही, उछल-कूद नही, उफान नही । वह है संयत, सीमि और मर्यादापूर्ण ।

देव ने प्रेम के सहायक मन और नेत्र का भी आकर्षक वर्णन किय है । वह मानवी प्राकृति के सच्चे पारखी थे । उन्होने मन और नेत्र कं विविध गतियो पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया था । इसीलिए वह उनवे चित्रण में सफल भी हुए । वह अपने मन के सच्चे मित्र थे । इसलिए वह कहते हैं:—

'मोहि मिल्यौ जब तैं मन-मीत, तजी तब तै सबतैं मै मिताई ।'

देव अपने इसी मन-मीत के कारण किसी आश्रयदाता के मित्र नहीं बने । ऐसा स्वाभिमानी था उनका मन । फिर भी उन्होने अपने मन को कभी माणिक के रूप मे और कभी दलाल के रूप मे चित्रित किया है । उन्होंने उसको चेतावनी भी दी है और उसकी कोमलता की मोम, नवनीत एवं घृत से तुलना की है । उन्होने उसकी चचलता, विषय-तन्मयता आदि वृत्तियों का भी सजीव चित्रण किया है । विषयासक्त मन की उन्होने घोर निन्दा की है । इस प्रकार उन्होने मन के विविध रूपो पर प्रकाश डाल कर अपनी प्रगाढ़ काव्य-चातुरी का परिचय दिया है ।

नेत्रों के वर्णन मे भी उनकी काव्य प्रतिभा का हमे ज्वलन्त उदाहरण मिलता है । कविगण प्रायः जिन-जिन पदार्थों से नेत्र की उपमा देते है उन सभी से उन्होने एक ही स्थान पर उपमा दे दी है । उन्होंने अपने नेत्र-वर्णन मे आँखो से सखी का भी काम लिया है । उनकी अँखियाँ कहीं मधुमक्खिका है तो कही मतग:—

'सखियां ह्वै मेरी अँखियां न सींचतीं, तौ,
याही रतियाँ मै जाती छतियाँ छ्टूक ह्वै ।'

× × ×

'बेगि ही बूड़ि गई पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी ।'

× × ×

'देव' दुख मोचन सकोच न सकत चलि,
लोचन अचल ये मतंग मतवारे है ।'

(२) **बाह्य दृश्य-चित्रण**—देव का विचार-क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। उनके काव्य की इति-श्री संयोग और वियोग के वर्णन से ही नहीं हो जाती। उनकी रचनओं से हमे उनके संसार-ज्ञान का भी यथेष्ट परिचय मिलता है। इसका कारण है उनकी बहुदर्शिता। उनका दृष्टि-क्षेत्र उनके परवर्ती कवियों की अपेक्षा अत्यन्त विस्तृत था। उन्होने भारत के विभिन्न प्रान्तो का भ्रमण किया था। इसलिए उनका तत्सम्बंधी अनुभव काल्पनिक न होकर वास्तविक था। नारी के बाह्य सौन्दर्य से प्रभावित होकर उन्होने प्रत्येक देश की युवतियों का जैसा मोहक वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने अपनी यात्राओ मे केवल धनी लोगो के प्रसादों मे ही सौन्दर्य नहीं देखा, निर्धन की झोपड़ियो मे भी उसकी आभा देखी। वह समदर्शी थे। निम्न-श्रेणी की जातियों मे भी वह एक सत्कवि के समान कविता-सामग्री प्राप्त कर सकते थे। इसीलिए उन्होने जहाँ कश्मीर की सुन्दरी का वर्णन किया वहाँ एक कहारिन के हाव-भाव भी उनकी पैनी दृष्टि से न बच सके।

ऋतुओ का वर्णन भी देव की रचनाओ मे हुआ है। उनका ऋतु-वर्णन काव्य-परम्परा के अनुकूल और अत्यन्त उत्कृष्ट है। उनके 'अष्टयाम' में घड़ी पहर तक का विशद विवेचन किया गया है। उत्सवो का वर्णन भी हमे उनकी रचनाओ में मिलता है। उन्होंने प्रकृति के चित्र भी बड़ी सफलतापूर्वक अंकित किए हैं। बाह्य जगत के इन विशद व्यापारो के साथ-साथ उनकी दृष्टि साधारण बातों के ओर भी गई है। पतंग उड़ाना, फिरकी का नाचना, आतशबाजी का छूटना, बरात का सत्कार, हिन्दू घरो के रीति-रिवाज आदि का उन्हे अच्छा ज्ञान है। उनकी निरीक्षण-शक्ति अद्‌भुत है। अपनी इस शक्ति के बल पर उन्होंने रूप, हाव-भाव, अनुभाव आदि के अत्यन्त सुन्दर चित्र अकित किए हैं। कुछ सुन्दर चित्र लीजिए :—

'नैननि हँसाइ, नेकु नीबी उकसाइ, हँसि,
ससि-मुखी सकुचि, सरोबर ते निकसी।'

× × ×

'एक कर आली कर ऊपर ही धरे, हरे—
हरे पग धरै 'देव' चलै चित चोरि-चोरि।
दूजे हाथ साथ लै सुनावति वचन, राज—
हंसन चुगावति मुकुत-माल तोरि-तोरि ॥'

शृङ्गार-काल के कवियो ने प्रकृति को मुख्यतः उद्दीपन के रूप ही चित्रित किया है। इसलिए उनकी दृष्टि षट् ऋतु और बारहमासे आगे नही बढ़ सकी। देवदत्त ने भी 'सुजान-विनोद' और 'सुख-साग तरग' मे षट् ऋतुओ और बारहमासे का वर्णन शृङ्गार-कालीन परंपरा अनुसार ही किया है, परन्तु उन्होंने इस परंपरा से मुक्त होकर कही-कह प्रकृति के सहज सौंदर्य के चित्र भी उतारे है। उदाहरण के लिए पंक्तियाँ लीजिए :—

'रंगराती हरी हहराती लता
झुकि जाती समीर के झूकनि सों।'

× × ×

'सुधा के सरोवर-सों अम्बर उदति ससि,
मुदित मराल मनु पैरिबे को पैठ्यो है।
बेला के बिमल फूल फूलत समूल मानो,
गगन ते उडि उडुगण-गण बैठ्यो है ॥'

(३) दार्शनिक विचार—देवदत्त की रचनाओ मे दार्शनिक तत्त्व भी मिलते हैं। अपनी उठती जवानी मे उन्होंने शृङ्गार को अपनाया, पर जीवन की सध्या मे उन्होने वैराग्य के गीत गाए हैं। उनकी कविता मे ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान और मत-मतान्तरो के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण भी मिलता है। अपने 'देव चरित्र' मे उन्होने ईश्वर के अवतार और साकारोपासना का विशद विवेचन किया है। 'देव-माया-प्रपच-नाटक' भी उनकी एक दार्शनिक रचना है। 'वैराग्य शतक' मे निराकारोपासना और वेदान्त का निदर्शन भलीभाँति किया गया है। ईश्वर का विराट रूप उनकी इस रचना मे देखने योग्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर की आराधना करते हुए भी वह आत्मिक सत्ता की ओर बढ़े हैं। वह संसार को उपदेश देते हैं कि पार्थिव

सौन्दर्य पर स्वर्गीय सौन्दर्य की छाप अवश्य होनी चाहिए। उनकी रचनाओं में जगत् की अनित्यता का उपदेश है, और श्रान्त जीव को पार्थिव सौन्दर्य की आराधना से हटाकर लोकोत्तर सौंदर्य में लीन कर देने की शक्ति है।

देवदत्त का वैराग्य उनके सहज आत्म-चिन्तन का परिणाम नहीं है। वह परिस्थिति-जन्य है। अपनी जीवन-परिस्थितियो से ऊबकर ही वह वैराग्य की ओर झुके दिखाई देते है। निम्न पंक्तियों मे उनकी खीज देखिए। अपने मन को धिक्कारते हुए वह कहते है :—

'ऐसो जो हौ जानतो कि जैहै तू विषै के संग'
ऐरे मन मेरे हाथ-पाँव तेरे तोरतो।
आज लौं हौ कत नर-नाहन की नाहीं सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो॥
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि'
चाबुक चिताउनीनि मारि मुँह मोरतो।
भारो प्रेम-पाथर नगारो दै, गेर तें बांधि,
राधावर-बिरद के बारिध मे बोरतो॥'

मन को इस प्रकार धिक्कारने का एक उदाहरण और लीजिए :—

'हाय कहा कहौं चंचल या मन की गति मे मति मेरी भुलायनी।
हौ समुझाय कियो रस-भोग न 'देव' तऊ तिसना बिनसानी॥
दाडिम, दाख, रसाल, सिता, मधु, ऊख पिये औ पियूष-से पानी।
पै न तऊ तरुनी-तिय के अधरान के पीवे की प्यास बुझानी॥'

देवदत्त का आत्म-चिन्तन परिस्थिति-जन्य होते हुए भी गंभीर और गहन है। माया-मोह से अंधा होकर विषयो के पीछे दौडनेवाले मन को उनकी यह फटकार देखिए :—

'आपुन काल के जाल परयो अरु चाहत और की राज-सिरी को।'

देवदत्त की रचनाओ मे दार्शनिक विचारो के अतिरिक्त भक्ति-भावना को भी स्थान मिला है। उन्होने राधा-कृष्ण और सीता-राम दोनों का गुणगान किया है। उदाहरणार्थ उनका यह छद लीजिए :—

'धाए फिरौ ब्रज मैं, बधाए नित नन्द जू के,
गोपिन सधाए नचौ गोपन की भीर मैं।
'देव' मति मूढ तुम्हे ढूँढै कहाँ पावै, चढे—
पारथ के रथ, पैठे जमुना के नीर मैं॥
आंकुस ह्वै दौरि हरनाकुस को फारयो उर,
साथी न पुकारयो, हते हाथ हिय तीर मै।
बिदुर की भाजी, बेर भीलनी के खाय,
बिप्र-चाउर चबाय, दुरे द्रौपदी के चीर मैं॥'

विभिन्न मत-मतातरो के विचारो का वर्णन 'देव-माया-प्रपंच' नाटक में अधिक है। 'वैराग्य-शतक' मे भगवान के विश्व-रूप एवं वेदान्त-तत्त्व का स्पष्टीकरण हुआ है। 'देव-चरित्र' मे राधा-कृष्ण की परम मनोरम झाँकियाँ अकित की गई हैं। भगवान राम उनकी दिव्य-दृष्टि मे क्या है—यह भी देख लीजिए :—

'तुही पंच तत्त्व, तुही सत्त्व, रज-तम तुही,
थावर औ जंगम जितेक भयो भव मैं।
तेरे ये बिलास लौटि तोही मैं समाने, कछू—
जान्यो न परत, पहिचान्यो जब-जब मैं॥
देख्यो नही जात, तुही देखियत जहाँ-तहाँ,
दूसरो न देख्यो, 'देव' तुही देख्यो अब मैं।
सबकी अमर-मूरि, मारि सब धूरि करै,
दूरि सबही ते, भरपूरि रह्यो सब मैं॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि देव के काव्य की अपनी एक दिशा है जो शृगार-कालीन प्रभाव ग्रहण करते हुए भी शृंगार-काल से भिन्न है। सच तो यह है कि उन्होने अपने काव्य मे भक्ति-काल और शृंगार-काल दोनो के प्रभावो को एक साथ समन्वित किया है। जीवन के सभी पहलुओ का चित्रण उनकी रचनाओ में नहीं है, परन्तु हमें यह मानने मे संकोच नहीं होता कि उन्होंने जीवन के जिस पहलू को स्पर्श किया है उसका उन्होंने

भव्य चित्र उतारा है। उनका काव्य जीवनपरक काव्य है जिसमे कबीर से पद्माकर तक की सभी भाव-धाराऍ सजग हो उठी हैं।

देव का आचार्यत्त्व

देवदत्त अपने समय के आचार्य भी हैं। काव्य-कला के सच्चे पारखी होने के नाते उनके आचार्यत्व मे अपनापन है। इसमे सन्देह नहीं कि उन्होने अपने आचार्यत्व को प्रतिष्ठापित करने के लिए संस्कृत-साहित्य से सामग्री ग्रहण की है, परन्तु उसे उन्होने अपनी मौलिकता की खराद पर चढ़ाकर उसपर अपनी मुद्रा अंकित कर दी है। उनकी रचनाओं मे संस्कृत-साहित्य की जो भी सामग्री मिलती है वह है अपने सहज सौंदर्य के कारण। देव ने अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए कोरे अनुवाद रूप मे उसे नही अपनाया है। 'शब्द-रसायन' उनके आचार्यत्व का यथेष्ट प्रमाण है। इस ग्रन्थ मे उन्होने शब्द-शक्ति पर विचार किया है, परन्तु उनकी विचार-शैली प्राचीन आचार्यो से भिन्न है। सस्कृत-साहित्य मे आचार्यो ने शब्द की तीन शक्तियॉ मानी हैं जिनके नाम हैं : (१) अभिधा (२) लक्षणा और (३) व्यञ्जना। देव ने इनके साथ 'तात्पर्य्य वृत्ति' का भी उल्लेख किया है। 'तात्पर्य्य वृत्ति' का अर्थ है, वाक्य के भिन्न पदो के वाच्यार्थ को एक मे सम्मिलित कर देना। प्रकारान्तर से यह भी अभिधा शक्ति है, परन्तु यह वाक्यगत है। इसी प्रकार उन्होने नव रस के स्थान पर छः रस ही माने हे, परन्तु रसराज शृङ्गार ही को माना है। इसके अतिरिक्त उन्होने रस के सम, शत्रु और मित्र की कल्पना भी की है। अपने 'भवानी-विलास' नामक ग्रन्थ मे उन्होने वीर रस के तीन ही भेद किए है : (१) युद्धवीर, (६) दयावीर और (३) दानवीर। धर्मवीर की गणना उन्होंने नहीं की है। सस्कृत के आचाय तैंतीस सचारी भाव मानते है, परन्तु देव चौंतीस। उनका चौंतीसवॉ सचारी भाव है, छल। अपने 'भाव-विलास' मे उन्होने दो प्रकार के रसो की कल्पना की है : (१) लौकिक और (२) अलौकिक। अलौकिक रसो को उन्होने स्वप्न, मनोरथ तथा उपनायक और लौकिक रसो को परम्परागत नव भेदो में विभक्त किया है। शृङ्गार रस के भी उन्होने भेद-विभेद किए है।

इसी प्रकार देव की अलङ्कार-योजना भी सस्कृत-साहित्य के

आचार्यों से भिन्न है। अपने 'भाव विलास, मे उन्होने ३६ अलङ्कारों और अपने 'शब्द- रसायन' मे ७० अलङ्कारो का ही अस्तित्व स्वीकार किया है, उपमा अलकार का निरूपण उन्होंने सविस्तर और अन्य अलकारों का सक्षेप मे। उन्होने अपने पिगल मे छन्दों का निरूपण भी बड़ी सुन्दरता से किया है। चित्र-काव्य के अन्य अग मेरु, मर्कटी, पताका आदि से भी उनका परिचय है।

शृङ्गार-कालीन परम्परा के अनुसार उन्होंने नायिका-भेद भी लिखा है। 'सुख-सागर-तरङ्ग', 'सुजान-विनोद', 'भाव-विलास', 'भवानी-विलास', 'कुशल-विलास', 'प्रेमतरङ्ग', 'रस-विलास' आदि मे उन्होने नायिकाओं का वर्णन अपने निजी ढङ्ग से किया है। उनके नायिका भेद मे वास्तविकता अधिक और कल्पना कम है। उनकी दृष्टि मे नायिका वह स्त्री है जो यौवन, रूप, कुल, प्रेम, शील, गुण, वैभव और भूषण से सम्पन्न हो। ऐसी स्त्री ही अष्टांगवती नायिका कहलाती हैं। इस दृष्टि से उनकी आदर्श नायिका है—स्वकीया। परकीया मे कुल और शील का अभाव रहता है तथा सामान्या मे शील, कुल, प्रेम और वैभव का। 'भवानी-विलास' मे उन्होंने लिखा है :—

'भूषन, जोबन, रूप, गुन, विभव, शील, कुल, प्रेम।
आठौ अग स्वकियाहि के, परकिय बिन कुल-नेम॥
सामान्या बिन सील, कुल, प्रेम विभौ पहिचान।
भूषन, जोबन, रूप, गुन सहित उत्तमा जान॥'

देवदत्त का नायिका-भेद-वर्णन अत्यन्त समृद्ध है। शृङ्गार-काल के अन्य कवियो ने जहाँ कर्म, काल, गुण, वयः क्रम, दशा और जाति के अनुसार नायिका-भेद का वर्णन किया है वहाँ देवदत्त ने इनके अतिरिक्त देश, प्रकृति, सत्व और अश के आधार का भी ग्रहण किया है। इस प्रकार उनका नायिका-भेद वर्णन परम्परागत न होकर मौलिक है और इससे उनके आचार्यत्व का प्रमाण मिलता है।

देव की रस-योजना

देवदत्त अपने समय के रसवादी आचार्य हैं। उनकी रस-योजना उनकी अपनी योजना है। अपने ग्रन्थ 'भाव-विलास' मे उन्होने जीवन के

चार पदार्थों में सबसे प्रथम स्थान 'धर्म' को दिया है। 'धर्म' से 'अर्थ' की उत्पत्ति होती है और 'अर्थ' से 'सुख' की। उनकी दृष्टि में 'सुख' का सर्वस्व है 'रस' जिसका कारण भाव है। 'रस' नौ होते हैं, परन्तु उन्होंने 'भाव-विलास' मे केवल शृगार का ही विशद विवेचन किया है। इस दृष्टि से शृङ्गार-काल के वह प्रतिनिधि आचार्य हैं। शृङ्गार रस का जितना विस्तृत विवेचन उन्होने किया है उतना अन्य किसी कवि ने नहीं किया है। उनका शृङ्गार-विवेचन स्वीकृत शास्त्र-मत के अनुकूल ही है। यदि कुछ अन्तर है तो केवल इतना कि जहाॅ सस्कृत के आचार्यों ने उग्रता, आलस्य, मरण और जुगुप्सा सचारियों को शृङ्गार का पोषक नहीं स्वीकार किया है वहाॅ देव ने उन्हे उसके संचारियो के अन्तर्गत मान लिया है। इस प्रकार नौ रसो मे उन्होने तीन रस – शृङ्गार, वीर और शान्त—ही मुख्य माने हैं और शेष रसो को इन्हीं के अन्तर्गत स्वीकार किया है। उक्त तीन रसो में भी उनकी दृष्टि से शृङ्गार मुख्य है और इसके अन्तर्गत ही शेष दो का अन्तर्भाव हो जाता है।

शृङ्गार का रस-राजत्व सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपना तर्क भी प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि संसार मे सर्वत्र 'काम' की ही महत्ता है। साधना, मुक्ति और योग—इन तीनो का मूल 'काम' ही है। 'काम' से उनका अभिप्राय विषय-भोग नही, अपितु प्रेम है। इसलिए उन्होने प्रेम को ही शृगार का मूल माना है और कहा है कि जब तक दम्पति मे प्रेम वर्तमान रहता है तभी तक शृङ्गार का परिपाक सम्भव है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रेम-युक्त कामुकता ही वास्तविक 'रति' है। इसके अभाव मे जो शृङ्गार है वह वास्तविक शृङ्गार नहीं, अपितु शृंगाराभास है। प्रेम-हीन कामुकता की उन्होने निन्दा की है और कहा है :—

'प्रेम-हीन त्रिय वेश्या है सिंगाराभास।'

इस प्रकार देवदत्त की शृङ्गार-भावना शुद्ध शृङ्गार-कालीन नहीं है। शृंगार-काल के कवियो तथा आचार्यो ने जहाँ 'रति' से वासना-प्रधान प्रेम का अर्थ ग्रहण किया है वहाॅ देवदत्त ने उसे सात्विक मे अपनाया है। क्या संयोग और क्या वियोग—शृङ्गार के दोनो पक्षो के वर्णन मे उनका

यही दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। ऐसी स्थिति मे यदि शृङ्गार-कालीन कवियों से उनकी तुलना की जाय तो वह न तो बिहारी के वर्ग में आएँगे और न घनानन्द के वर्ग मे। बल्कि उनका स्थान बिहारी और घनानन्द के बीच का स्थान होगा। अपनी इस स्थिति के कारण वह शृंगार-कालीन कवियो मे अनन्य है। उनके सयोग-वर्णन का एक उदाहरण लीजिए :—

'लागि प्रेम-डोरि खोरि सकरी ह्वै कढी आइ,
नेह सों निहोरि जोरि आली मनमानती।
उनते उताल 'देव' आये नन्दलाल, इत—
सौंहे भई बाल नव लाल सुख सानती॥
कान्ह कह्यो टेरिकै 'कहाँ ते आई, को है तुम ?
लागती हमारे जान कोई पहिचानती।'
प्यारी कह्यो फेरि मुख, हेरि जु चलेई जाहु,
हमै तुम जानत, तुम्है हूँ हम जानती॥'

राधा-कृष्ण के मिलन मे परिहास को कैसी सुन्दर योजना है। देव का मिलन-वर्णन अत्यन्त शुद्ध-सात्विक और संयत है। उसमे छीना-झपटी और वासना-जन्य कामुकता का अभाव है। इसी प्रकार उनका विरह-वर्णन भी मर्यादानुकूल है :—

'बरुनी-बघंबर मै गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगोहे भेष रखियाँ।
बूडी जल ही मै, दिन-जामिनि हूँ जागैं, भौहै
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ॥
अँसुवा फटकि-माल, लाल डोरी-सेलही पौन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग-सखियाँ।
दीजिए दरस 'देव' कीजिए संजोगिनि, ये
जोगिनि ह्वै बैठी है वियोगिनि की अँखियाँ॥'

देव की अलंकार-योजना

हम पहले बता चुके हैं कि देवदत्त ने अपनो रचना 'भाव-विलास' में केवल ३६ अलकारो का संक्षेप मे वर्णन किया है। उनका यह अलंकार-

वर्णन प्रायः दण्डी के मतानुसार है। आगे चलकर 'शब्द-रसायन' में उन्होने ४० मुख्य तथा ३० गौण अर्थात् कुल ७० अलकारो को स्थान दिया है। इन मुख्य और गौण अलंकारों के अतिरिक्त उन्होंने कुछ और भी भेद किए हैं। शब्दालकारो मे उन्होने अनुप्रास, यमक और चित्र को ही स्थान दिया है और इनमे से 'चित्र' के अनेक भेद किए है। इस अलकार को उन्होने हेय भी माना है और इसकी क्लिष्टता पर आक्षेप करते हुए इसे 'प्रेत काव्य' अथवा 'मृतक-काव्य' कहा है। अर्थालकारो मे उन्होने उपमा और स्वभावोक्ति को मुख्य माना है।

देवदत्त केशव की भाँति अलकारवादी कवि नही थे। कविता-कामिनी को आलंकृत रूप में देखने की अपेक्षा उसे रस-युक्त रूप मे देखना वह अधिक पसन्द करते थे। शब्दालकारो मे अनुप्रास और यमक तथा अर्थालंकारो मे उपमा और स्वभावोक्ति को महत्त्व देकर उन्होने जहाँ अलंकारो की एक बड़ी भारी सख्या मे कमी की वहाँ उन्होने हमें यह भी बताया कि काव्य में दो ही तत्व मुख्य हैं—एक रस और दूसरा व्यग्य। यही कारण है कि हमे देव की रचनाओ में अलकारो की वह छटा नहीं देख पड़ती जो केशव आदि की रचनाओ मे मिलती है। केशव मे पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा है, देव मे इस वृत्ति का सर्वथा अभाव है। देव न तो वक्रोक्ति के समर्थक हैं और न अतिशयोक्ति के पोषक। वह समर्थक हैं भावों की सीधी अभिव्यक्ति के जो रसवाद का प्राण है। इसलिए उन्होने अपनी रचनाओ मे अलकारो का प्रयोग अभिव्यंजना के प्रसाधन के रूप में ही किया है। निम्न पक्तियो में अनुप्रास की छटा देखिए :—

'सहर-सहर सोंधो, सीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरि कै घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो 'देव'
छहर-छहर छोटी बूँदनि छहरिया॥'

देवदत्त ने चमत्कार-मूलक अलकारो का बहुत ही कम प्रयोग किया हैं। निम्न छद में विरोधाभास-द्वारा जो चमत्कार उत्पन्न किया गया हैं वह स्थूल न होकर अत्यन्त सूक्ष्म है :—

'कातिक की राति पूनो इन्दु परगास दूनो,
आस-पास पावस अमावस खगी रहे।
ग्रीषम की ऊषमा, मयूष मान कीनी, मुख—
देखे सनमुख निसि-सिसिर लगी रहे॥
बरसै जुन्हाई सुधा-बसुधा सहस धार--
कौमुदी न सूखे ज्यों-ज्यों जामिनी जगी रहे।
दोऊ पच्छ उज्ज्वल बिराजै राजहंसी 'देव'
स्याम-रंग-रंगी जगमगी उमगी रहे।'

रूपक का एक उत्कृष्ट उदाहरण हम अन्यत्र दे चुके हैं। उपमाओ के विधान मे देव अपने वर्ग के कवियों मे बहुत बढे-चढे हैं। उनकी उपमाएँ बड़ी अनूठी और सुन्दर हीती है। दो उपाहरण लीजिए :—

'बड़े-बड़े नैननि सों आँसू भरि-भरि ढरि,
गोरो-गोरो मुख आजु ओरो-सो बिलानो जात।'

× × ×

'जगरमगर आपु आवति दिवारी-सी।'

देव की छन्द-योजना

सस्कृत-आचार्यो की भाँति हिन्दी-आचार्यो ने भी अपनी-अपनी रचनाओं मे पिगल का विवेचन नहीं किया है। परन्तु देव इसके अपवाद हैं। देव ने 'शब्द-रसायन' के अन्तिम भाग मे छन्द को कविता-कामिनी की गति मानते हुए लघु, गुरु, गण, देवता, फल आदि का वर्णन किया है। इसके बाद उन्होने छन्दो को वर्णिक एव मात्रिक दो भागो में विभाजित कर वर्ण-वृत्त के तीन भेद माने हैं: (१) गद्य, (२) पद्य और (३) दण्डक। मात्रिक छन्दो मे दोहा, चौपाई आदि का वर्णन मिलता है।

देवदत्त ने अपने पिंगल-वर्णज मे कहीं-कहीं मौलिकता भी दिखाई है। सब से पहली बात तो यह कि जिस छन्द का जो लक्षण उन्होने वर्णन किया हैं उसका उदाहरण भी उन्होने उसी छंद में दिया है। दूसरी बात यह कि उन्होने 'भगण' के आधार पर सवैया के लक्षण दिए है। इनके अतिरिक्त उन्होने सवैया और घनाक्षरी के कुछ नवीन भेद भी किए हैं,

जैसे—अलसा, सुधा, मंजरी और ललित। इसी प्रकार उन्होंने ३१-३२ वर्णों के अतिरिक्त ३३ वर्णों की भी एक घनाक्षरी को स्थान दिया हैं जो उनके नाम से 'देव-घनाक्षरी' प्रसिद्ध है। इससे स्पष्ट है कि देव आचार्य ही नहीं, एक कलाकार भी थे।

'शब्द-रसायन' के अतिरिक्त देव ने अपनी अन्य रचनाओ मे प्रायः कवित्त, सवैया और दोहा छदों का प्रयोग किया है। पिंगल के पडित होते हुए भी उन्ह ने केशव की भाँति इस क्षेत्र मे भी अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा को स्थान नहीं दिया है। उनकी छद-योजना विषय के अनुकूल सुन्दर और उचित है। उनके छन्दो में प्रवाह है, गति है, लय है और इस क्षेत्र मे उन्होने जो नवीन प्रयोग किए हैं वे सर्वथा मौलिक और उनकी कलाकारिता के स्पष्ट प्रमाण हैं।

देव की शैली

शैली से ही कवि अथवा लेखक की परख होती है। उसमे उसका जितना ही अधिक अपनापन रहता है उतना ही अधिक उसका पाठक अथवा श्रोता के हृदय पर प्रभाव पड़ता है। वह उसकी कला का भी मापदण्ड है। उसकी रुचि और उस रुचि से उद्भूत उसकी कला ही उसकी शैली को जन्म देती है। यही कारण है कि एक कवि अथवा लेखक की शैली दूसरे से नही मिलती। शृगार-कालीन कवियो में केशव, मतिराम, पद्माकर, देव—सब की अपनी-अपनी शैली है और उनके व्यक्तित्व के अनुसार उसकी अलग-अलग विशेषताएँ है। देव की शैली की भी कुछ ऐसी विशेषताएँ जो सामान्यतः उनके पूर्ववर्ती कवियो की शैली मे नहीं मिलतीं।

साधारणतः किसी बात के कथन की तीन विधियाँ हैं : (१) **वक्रोक्ति**, (२) **अतिशयोक्ति** और (३) **स्वभावोक्ति**। शृंगार-काल के कवियो ने प्रथम दो को अधिक और तीसरी को कम अपनाया है। देव ने तीसरी को अधिक और प्रथम दो को कम अपनाया है। वह रसवादी थे। रस के उचित परिपाक में स्वभावोक्ति से जो सहायता मिलती है वह न तो वक्रोक्ति-द्वारा प्राप्त हो सकती है और न अतिशयोक्ति-द्वारा। अतिशयोक्ति का प्रयोग देव ने बहुत ही कम किया है और जहाँ किया भी है वहाँ वह सूक्ष्म है। स्वभावोक्ति ही

उनकी अधिकांश रचनाओ का शृंगार है। इसलिए उनकी शैली मे स्वाभाविक माधुर्य है।

भाषा की दृष्टि से देव की शैली मे शब्दाडबर कम है। उन्होने अपनी रचनाओ में भाषा पर उतना बल नही दिया जितना भाव और उसकी अभिव्यजना के प्रसाधन पर। यही कारण है कि उनकी भाषा मे तो खटकने-वाले दोष मिल भी जाते है, परन्तु उनकी शैली निर्दोष है। वास्तव में भाव-शबलता ही उनकी शैली का विशेष गुण है। उसमे श्रुति-कटु शब्द नही के बराबर हैं। उसमें ऐसे शब्द अथवा शब्द-समूह मिलते हैं जो ध्वनि मात्र से ही अपना अर्थ स्पष्ट कर देते हैं। शैली मे यह विशेषता व्यंजनों की मैत्री और अनुकरण-मूलक शब्दो के प्रयोग-द्वारा उत्पन्न की जाती है। देव ने भी अपनी शैली में इन दोनो प्रसाधनो-द्वारा अर्थ-ध्वनन का चमत्कार उत्पन्न किया है। इसके अतिरिक्त उनकी शब्द-योजना मे उज्ज्वल वर्णों का भी प्राचुर्य है। इससे उनकी शैली मे शब्द-गत मसृणता भी पाई जाती है। एक उदाहरण लीजिए :—

'कंजनि कलिनमई, कुंजनि अलिनमई,
गोकुल की गलिन नलिनमई कै गई।'

देवदत्त ने अपनी शैली मे शब्द-शक्तियो का भी विधान बड़े कौशल से किया है। शब्द-शक्तियो मे उन्होने ने अभिधा को सर्वोत्तम माना है, किन्तु इसके साथ ही उन्होने लक्षणा और व्यंजना को भी उचित स्थान दिया है। लक्षणा और व्यजना का आश्रय पाकर ही कला मुखर होती है। देव ने अपनी काव्य-कला को इन दोनो शब्द-शक्तियों-द्वारा भली भांति मुखर किया है। तीन उदाहरण लीजिए :—

'मदन मरोरे कोरे अंग कुम्हिलाने जात।'

× × ×

'बिछियान की जीभैं न लागती हैं।'

× × ×

'देव तुम्हें मोहि अन्तर पारत, हार उतारि इतै धरि राखौ।'

देव ने अपनी शैली में मुहावरे और कहावतों-द्वारा भी विशेष

चमत्कार उत्पन्न किया है। इस संबध मे उनकी रचना से कुछ उदाहरण लीजिए :—

'चाह्यो कह्यो बहुतेरों पै 'देव,'
कहा कहिए कहि आवत नाहीं।'

× × ×

'लाल के रंग में भीजि रही,
सु गुलाल के रंग मे चाहति भीज्यो।'

× × ×

'मन-मनिका दै हरि-हीरा गाँठ बाँध्यो हम,
तिन्है तुम बनिज बतावत हौ कौडी को।'

देव की भाषा

देव की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है, परन्तु वह शुद्ध ब्रजभाषा नहीं है। उसमे संस्कृत के तत्सम शब्द प्रचुर मात्रा मे मिलते है। ऐसे शब्दों के प्रयोग मे उनका उद्देश्य पाण्डित्य-प्रदशन न होकर भाषा की श्री-वृद्धि करना मात्र है। सस्कृत के क्लिष्ट तत्समो का प्रयोग उन्होंने कम ही किया है। इसके साथ ही उन्होंने उन्हे ब्रजभाषा के अनुकूल बनाने की भी चेष्टा की है। इस प्रकार उनकी भाषा मे संस्कृत के तत्सम दो रूपों में मिलते हैं : एक तो विशुद्ध तत्सम के रूप मे और दूसरे ब्रज से प्रभावित तत्सम के रूप में। विशेष, भाषण, भूषण, दीप, समीप, दर्प, सुधा आदि यदि पहले प्रकार के तत्सम हैं तो सहस, बिधि, प्रकास आदि दूसरे प्रकार के। ऐसे शब्दो को तद्भव शब्द कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश के अधिकृत शब्द भी उनकी भाषा मे मिलते हैं। नाह, बिज्जु, लोयन, मयन, जूह आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। आजकल इनकी भी गणना तद्भव के अन्तर्गत ही होती है। अरबी-फारसी के शब्द देव की भाषा में कम हैं। गुलाब, महल, कमान, मखमल, जहाज, मखतूल आदि शब्द उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र ही मिलते हैं। इनके अलावा राजस्थानी, कन्नौजी, अवधी और बुन्देलखण्डी के शब्द भी उन्होने आवश्यकतानुसार अपनाए हैं।

देव ने अपनी शब्द-योजना में तुक तथा अनुप्रास अथवा यमक के

आग्रह के कारण शब्दो को विकृत भी किया है। इससे कही-कहीं उनके शब्दो का अर्थ लगाना ही कठिन हो गया है। उदाहरण के लिए उनकी यह पंक्ति लीजिए :—

'तौलियत मानिक ते तुला सों हिरन के।'

यहाँ 'हिरन' से देव का तात्पर्य 'हिरण्य' से है। इसी प्रकार उन्होने तुला से 'तुलही', कंदुक से 'कद', अभिलाषिणी से 'अभिखया' बना लिया है। शृङ्गार-काल के अन्य-कवियो की अपेक्षा देव मे इस प्रकार के अर्थहीन और विकृत शब्द बनाने की प्रवृत्ति अधिक है। इससे उनकी भाषा मे कही-कही शिथिलता आ गई है जिसके कारण रस-परिपाक मे बाधा पड़ी है।

देव की भाषा-व्याकरणपरक भी नही है। उसमे कहीं वचन और लिङ्ग के दोष है तो कही कारक-चिह्नो के प्रयोग मे मनमानी की गई है। कर्ता-कारक के चिह्न 'ने' के प्रयोग मे देव ने विशेष रूप से असावधानी बरती है। इसी प्रकार उन्होने कहीं-कहीं भाववाचक संज्ञाओ को भी बहु-वचन मे प्रयुक्त कर भाषा की व्याकरणपरकता पर आघात किया है। इतना ही नहीं, कही स्त्रीलिंग के साथ क्रिया-पद पुल्लिङ्ग है और कहीं पुल्लिङ्ग के साथ क्रिया-पद स्त्रीलिग। इन दोषो के अतिरिक्त उनकी वाक्य-रचना मे अन्वय-दोष भी मिलता है। इन सब व्याकरण-संबधी दोषो के कारण उनकी भाषा शिथिल अवश्य हो गई है, परन्तु वह इतनी शिथिल नहीं है कि उससे अभिव्यजना-सौष्ठव ही नष्ट हो जाय। हम अन्यत्र बता चुके हैं कि देव ने भाषा-सौष्ठव पर उतना अधिक ध्यान नही दिया है जितना अभिव्यंजना-सौष्ठव पर। अपनी इस रुचि विशेष के कारण ही उन्होंने अपनी भाषा में यत्र-तत्र व्याकरण की भद्दी भूले की है। वह ब्रज-भाषा-व्याकरण के पंडित थे और उसका रहस्य भी वह समझते थे। ब्रजभाषा पर भी उनका पूरा अधिकार था। प्रसंग के अनुकूल वह अपनी भाषा का रूप-परिवर्तन करना जानते थे। उनका शब्द-भण्डार व्यापक था और वह अपनी भाषा मे लक्षणा तथा व्यंजना का प्रयोग आसानी से कर सकते थे। कठिन-से-कठिन तुको के निर्वाह में भी उनका शब्द-भाण्डार उनका सहायक था। उन्हें अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए शब्द नहीं

खोजने पड़ते थे। ऐसे भाषा मर्मज्ञ की रचनाओं मे यदि कुछ व्याकरण-संबंधी त्रुटियाँ हमे मिल जायँ तो उनके बल पर ही हमे अपना निर्णय नहीं दे देना चाहिए। हमे यह समझ लेना चाहिए कि काव्य-भाषा गद्य-भाषा से सर्वथा भिन्न होती है। इसलिए उसमे व्याकरण-संबंधी-नियमो का पालन कठोरतापूर्वक नही किया जा सकता। देव ने अपनी रचनाओं मे सर्वत्र व्याकरण-सबधी नियमो का उल्लघन नही किया है। उनकी अनेक रचनाएँ ऐसी है जिनमे भाषा का सपूर्ण सौंदर्य एक साथ झलक उठा है। उदाहरण के लिए निम्न छद लीजिए :—

'राधिका कान्ह को ध्यान धरै,
तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यों अँसुआ बरसै बरसाने को—
पाती लिखै, लिखि राधे को ध्यावै॥
राधै ह्वै जाय घरीक में 'देव',
सुप्रेम की पाती लै छाती लगावै।
आपने आपुही मै अरुझै,
सुरझै, बिरुझै, समुझै, समुझावै॥'

देव और बिहारी : तुलनात्मक अध्ययन

देव के काव्य के सम्बन्ध मे इतना कहने के पश्चात् अब हम उनके काव्य की बिहारी के काव्य से तुलना करेंगे और यह देखेंगे कि इन महाकवियो के दृष्टिकोण, रचना-शैली एवं काव्य-कुशलता मे क्या अन्तर है। कवि की हैसियत से देव बिहारी से ही टक्कर ले सकते हैं। दानो ही शृङ्गार-काल के कवि हैं। देव के पहले केशवदास, मतिराम, भूषण, बिहारी, सेनापति, घनानन्द आदि कवि हो चुके थे। उनकी कविताओं का आदर्श हिन्दी-जगत् पर स्थापित हो चुका था और उनकी रचनाएँ समादृत हो चुकी थीं। इसलिए देव को उन कलाकारो की रचनाओं से पूरा लाभ उठाने का अवसर मिला। बिहारी के सामने काव्य का इतना ऊँचा आदर्श नहीं था। इसलिए वह उसका उपयोग भी न कर सके। उन्हे अपनी काव्य-भूमि स्वय जोतनी-बोनी पड़ी। तात्पर्य यह कि देव की स्थिति बिहारी की स्थिति की

अपेक्षा अधिक सुविधाजनक थी। इसलिए उनकी रचनाओ मे हमे अधिक भाव-साम्य मिलता है। हम यह नही कहते कि उन्होने चोरी की। किसी कवि के भावो को ग्रहण करना चोरी नही है। चोरी है, उनको ज्यो-का-त्यो अपना लेना। देव की मौलिकता की विशेषता इसी मे है कि उन्होने दूसरे के भावो को पचाकर उन्हे अपना बना लिया है। बिहारी ने भी ऐसा ही किया है, परन्तु कहीं-कही देव इस दिशा मे उनसे आगे है।

देव की रचनाओ मे मानव-प्रकृति का जैसा सुन्दर चित्रण हमे मिलता है वैसा बिहारी मे नही है। मानव-प्रकृति का अध्ययन बिहारी की अपेक्षा देव मे अधिक है। देव का ज्ञान अनुभव-जन्य है, बिहारी का शास्त्रीय। देव ने दुनिया देखी है। उन्होने भारत के प्रमुख प्रान्तो का भ्रमण किया है और वहाँ के बाह्य एवं आन्तरिक सौंदर्य से प्रभावित हुए हैं। संसार के अन्य साधारण व्यापारो का भी उन्हे अच्छा ज्ञान है। इसी-लिए उनके काव्य-विषय अधिक है।

देव का प्रेम-निरूपण बिहारी की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट है। बिहारी के प्रेम-निरूपण मे परकीया की छटा अधिक है, देव के प्रेम-निरूपण में स्वकीया का महत्व है। देव ने परकीया के प्रेम की निन्दा की है। राधा और कृष्ण दोनो कवियो की रचनाओ के प्रमुख आलम्बन हैं, परन्तु बिहारी की रचना मे जहाँ राधा और कृष्ण का प्रेम परकीया का रूप धारण कर लेता है, वहाँ देव की रचनाओ मे उनका प्रेम दाम्पत्य जीवन तक ही सीमित रहता है। परकीया का प्रेम भी उनकी रचनाओ मे है, परन्तु वहाँ उन्होने केवल शृङ्गार-कालीन परम्परा का अनुसरण किया है। उनका आदर्श प्रेम दाम्पत्य-प्रेम ही है। इसीलिए उन्होने राधा-कृष्ण के साथ-साथ माता सीता और राम की भी वन्दना की है। बिहारी की अपेक्षा देव का प्रेम-निरूपण अत्यन्त विशुद्ध और उज्ज्वल है। उनके प्रेम की व्यजना में सतियो के प्रेम की गूँज है। वह इन्द्रिय-जन्य सुखो को तुच्छ समझते है। बिहारी मे इन्द्रिय-जन्य सुख अधिक है।

देव और बिहारी दोनो उच्च कोटि के शृङ्गारी कवि हैं, परन्तु दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। देव का दृष्टिकोण विशुद्ध रागात्मक है,

बिहारी चमत्कार के उपासक है। देव की रचनाओं मे सयोग-शृङ्गार का चित्रण प्रशसनीय हुआ है। उन्होने शृङ्गार का, आनन्द का बड़ा मोहक वर्णन किया है। उनके वियोग-शृङ्गार मे वह बात नहीं आने पाई है। बिहारी ने वियोग-शृङ्गार की बडी ही सुन्दर तस्वीर उतारी है। उनके वियोग-शृङ्गार की ज्वाला मे हृदय को पिघलाने की अद्भुत शक्ति है। इसमे सन्देह नही कि उनके इस प्रकार के चित्रण मे कल्पना का आधिक्य होने के कारण कही-कही अस्वाभाविकता अधिक आ गई है, परन्तु इस दिशा मे उनकी काव्य-कला का स्फुरण प्रशंसनीय हुआ है। देव का वियोग-शृङ्गार उनके सयोग-शृङ्गार के आगे दब-सा गया है। उनका मान-वर्णन अवश्य उत्कृष्ट है। **'बड़े-बड़े नयननि सों आँसू भरि-भर डारि, गोरो-गोरो मुख आज ओरो-सो बिलानो जात'** मे थोड़ी अत्युक्ति अवश्य है, परन्तु इस वर्णन मे जो काव्य-सौदर्य और तन्मयता है वह अत्युक्ति को सामने नहीं आने देती।

देव और बिहारी दोनो सौदर्य के कवि है। बिहारी ने नख-शिख के सौन्दर्य के अतिरिक्त व्यापक सौन्दर्य का भी अच्छा वर्णन किया है, परन्तु वह अपने इस प्रकार के वर्णन मे अलंकारो के पक्षपाती नही है। उनकी रचनाओ मे आभूषणो का स्थान बहुत नीचा है। कृत्रिम मंडन के वह समर्थक नही हैं। शरीर की सहज शोभा के आगे अलकारों की शोभा उनकी रचनाओ मे मन्द है—**'दृग-पग पोंछन को किये भूषण पायंदाज'** मे भूषण का जो स्थान है उससे अलकारो के सम्बन्ध मे बिहारी का आदर्श स्पष्ट है। उनका यह दोहा लीजिए :—

'तन भूषन, अंजन दृगन, पगन महावर-रंग।
नहिं सोभा को साज यह, कहिबे ही को अंग॥'

कहने का तात्पर्य यह कि बिहारी स्वाभाविक सौन्दर्य के पक्षपाती है। देव भी बिहारी के समान ही स्वाभाविक सौन्दर्य के समर्थक हैं, परन्तु उन्होने अपनी कविता-कामिनी को अलकारो से भी सजाने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए उनका यह छन्द लीजिए :—

'माखन सो मन, दूध-सो जोबन, है दधि से अधिकै उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छाछ, समेत-सुधा बसुधा सब सीठी।
नैनन नेह चुवै, कवि देव, बुझावत बैन वियोग-अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै, कहौ क्यों न लगै मनमोहनै मीठी॥'

-इसमे रसीली ग्वालिन के सहज सौन्दर्य के साथ-साथ कविता-कामिनो का शृङ्गार भी देखने योग्य है। देव की रचनाओ मे आन्तरिक और बाह्य दोना प्रकार के सौदर्य की छटा एक साथ देखने को मिलती है। बिहारी मे केवल बाह्य सौदर्य है। आन्तरिक सौदर्य की ओर उनकी इतनी दृष्टि नहीं गई है जितनी देव की। देव मे आन्तरिक सौन्दर्य का चित्रण बाह्य सौदर्य की अपेक्षा अधिक है।

रीति-कालीन कवि होने के नाते देव और बिहारी दोनो ने अपनी कविता-कामिनी को अलंकारो से सजाने की चेष्टा की है। बिहारी की रचनाओ मे अत्युक्तियाँ अधिक हैं। नाक, कान, तर्यौना, मुक्तन, आदि शब्दो के श्लेष से उन्होने बहुत लाभ उठाया है। देव की रचनाओ मे अनुप्रास, उपमा और स्वाभावोक्ति अधिक है। बिहारी मे भावो और कल्पनाओ की छटा अधिक है, देव मे भाव, कल्पना और अलकार तीनो का सुन्दर सम्मिलन है। देव ने स्वभावोक्ति और उपमा अलकारों को मुख्य मानते हुए भी अन्य प्रकार के अलंकारो का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। उनकी कथन-शैली सांगोपाग है। बिहारी के पास सागोपाग वर्णन के लिए स्थान नही है, पर मुख्य बाते वह छोड़ना भी नही चाहते। ऐसी दशा मे उन्होने संकेतो का सहारा लिया है। देव भी संकेतो से काम लेते है, पर बिहारी की अपेक्षा कम।

देव और बिहारी दोनो अपने समय के आचार्य हैं। पर देव का आचार्यत्व बिहारी के आचायत्व से श्रेष्ठ है। देव का काव्यांग-वर्णन इतना उत्कृष्ट है कि शृङ्गार-काल का कोई भी कवि उनकी समता नही कर सकता। बिहारी ने भावो के भेद और उदाहरण अवश्य सुन्दर लिखे हैं, किन्तु उनमे आचार्यत्व की ध्वनि नही है। बिहारी पहले कवि और फिर आचार्य है। देव आचार्य और कवि दोनों एक साथ है। उनकी अलंकार

और रस-योजनाएँ भी महत्वपूर्ण हैं। छन्द-शास्त्र पर भी जितना अधिकार देव का ह उतना बिहारी का नहीं है। बिहारी ने केवल दोहो मे अपने काव्य की रचना की है। देव ने शृगार-कालीन सभी छन्दो को अपनाया है। बिहारी की अपेक्षा देव को अपने छन्दो मे भाव भरने के लिए अधिक परिश्रम करना पड़ा है। इन बातों से उनके आचार्यत्व का यथेष्ट प्रमाण मिल जाता है।

रचनाओ की सख्या की दृष्टि स देव बिहारी से बहुत आगे हैं। इसमे सन्देह नहीं कि बिहारी-सतसई हिन्दी-जगत मे देव की रचनाओ की अपेक्षा अधिक लोक-प्रिय है, परन्तु केवल इसी आधार पर देव की रचनाओं का मूल्य घटाया नहा जा सकता। देव ने बिहारी से दस-गुना अधिक लिखा है और जितना लिखा है वह सब-का-सब बिहारी की रचनाओ से किसी भी दृष्टि से कम महत्व का नहीं है। बिहारी ने एक सतसई लिखी ७१६ दाहो का, देव ने लगभग १५-२० काव्य-ग्रन्थ लिखे। सतसई इसलिए लोक-प्रिय हो गई कि वह प्राप्त थी, देव की अधिकांश रचनाएँ तो अब तक अप्राप्य हैं। उनकी रचनाएं समुद्र के समान विस्तृत हैं। उनका ओर-छोर खोजना, फिर उन्हें मथकर सार निकालना सरल काम नहीं है। इसलिए कवियो और साहित्य-प्रेमियो ने देव को जहाँ का तहाँ रहने दिया। बिहारी प्राप्त थे, उनमे आनन्द की सामग्री थी, इसलिए कलाकार और टीकाकार उन्हे लेकर आगे बढ गये। यदि यह बात न होती तो १६ वर्ष की अवस्था मे 'भाव-विलास', अपने यौवन-काल मे 'शब्द-रसायन' और वृद्धावस्था में 'नीति-शतक' एव 'वैराग्य-शतक' लिखनेवाला कवि कभी भुलाया नहीं जा सकता था। देव वस्तुतः पक्षपात के कारण नहीं, वरन् उपेक्षा के कारण हिन्दी मे लोक-प्रिय न हो सके। देव का साहित्य मधुर जल का सागर है, बिहारी का साहित्य सरोवर। दोनों मे गोता लगाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक अपनी सीमा के भीतर बड़ा है। परन्तु जहाँ देव की रचनाओं से देव की प्रतिभा का विकास सिद्ध होता है, वहाँ बिहारी की रचनाएँ एक ही केन्द्र पर सीमित हैं। उन्होने कुछ नीति के दोहे अवश्य कहे हैं, पर उनमें 'वैराग्य-शतक' और 'नीति-शतक' की-सी विचार-धारा नहीं है।

शैली की दृष्टि से बिहारी की रचनाएँ समास-प्रधान हैं तो देव की रचनाएँ व्यास-प्रधान। बिहारी ने जो भाव एक दोहे मे भर दिए हैं, उन्हें व्यक्त करने के लिए देव को कवित्त और सवैयो की शरण लेनी पड़ी है। इससे बिहारी की रचनाओ में जहाँ हमे भाषागत कला देखने को मिलती है वहाँ देव की रचनाओं मे हमे अभिव्यजना के प्रसाधन का चमत्कार दीख पडता है। देव और बिहारी दोनो की भाषा ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा मे अनुप्रास और यमक की छटा देव की विशेषता है। इस से उन्हे जिस भाव को लेकर कई पक्तियाँ लिखनी पड़ी है उसे बिहारी ने अपनी भाषा की अभिव्यजना के बल पर दो ही पंक्तिया मे अदा कर दिया हैं। देव ने मैदान मे दौड़ लगाई है, बिहारी एक सकरी गली से गुजरे है। मैदान मे दौड़ लगाने के कारण देव ने अपनी भाषा पर उतना ध्यान नही दिया है जितना बिहारी ने। बिहारी की अपेक्षा देव की भाषा मे शब्दो का तोड़-मरोड और व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ अधिक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शृङ्गार-कालीन वाटिका के देव और बिहारी दोनो दो सुन्दर पुष्प है और दोनो अपनी-अपनी सुगन्ध के अनुसार आकर्षक और मोहक है। साहित्य-प्रेमी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उनका महत्त्व आँकते है। जिसे जो भाता है वह उसका प्रशंसक हो जाता है, परन्तु काव्य-कला और आचार्यत्व की दृष्टि से देव बिहारी से आगे है, इसमे किसी को सन्देह नही हो सकता।

देव और केशव: तुलनात्मक अध्ययन

अब हमे देव के आचार्यत्व और कवित्व की तुलना एक ऐसे कलाकार से करेंगे जो उसी समय का है और हिन्दी-साहित्य मे अपने पांडित्य-प्रदर्शन के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ हमारा तात्पर्य केशव से है। देव की भाँति केशव भी शृङ्गारी कवि हैं और काव्य-कला के आचार्य भी है। केशव पहले हुए हैं और देव उनके बाद। जिस समय देव ने कविता करना प्रारंभ किया, उस समय केशव को स्वर्गवासी हुए लगभग ७० वर्ष बीत चुके थे। इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दी-साहित्य में केशव के काव्य की अच्छी ख्याति हो चुकी थी और हिन्दी-संसार पर उनके पांडित्य का सिक्का जम चुका था।

वह थे भी इस योग्य। संस्कृत-भाषा के वह अद्वितीय पडित थे। उन्होंने जिस समय कविता करना आरभ किया, उस समय सूर, तुलसी, कबीर आदि की रचनाएँ ही हिन्दी-साहित्य का सर्वस्व थी, काव्य-कला का कोई ग्रन्थ नहीं था। केशव ने अपने पाण्डित्य से इस अभाव को दूर किया। उन्होंने स्वय संस्कृत-साहित्य का आश्रय लेकर इस मार्ग को प्रशस्त किया और 'रसिक-प्रिया' तथा 'कवि-प्रिया' की रचना की। उनकी 'कवि-प्रिया' कालान्तर मे हिन्दी-कवियो की पथ-प्रदर्शिका बनी। उसे पढ़कर कितने ही कवि हो गये। देव को यह गौरव प्राप्त न हो सका। उनका आविर्भाव ऐसे समय मे हुआ था जब हिन्दी-साहित्य के पुनीत क्षेत्र मे सूर और तुलसी अपनी भक्ति-भावना का परिचय दे चुके थे और केशवदास तथा मतिराम आदि के आचार्यत्व की धूम थी। इसलिए केशव की अपेक्षा देव का मार्ग अत्यन्त प्रशस्त था। उन्हे संस्कृत-साहित्य की ओर झुकने की अधिक आवश्यकता नही हुई। संस्कृत-साहित्य का उन्होने उतना ही अध्ययन किया जितना उनके आचार्यत्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त था। उन्होने अपने इस अध्ययन पर मौलिकता की छाप अकित कर उसे हिन्दी-संसार के सामने उपस्थित किया। केशव ऐसा न कर सके। उनके लिए ऐसा अवसर भी नही था। उनकी मौलिकता तो केवल इसी बात तक सीमित रह सकी कि उन्होंने सस्कृत-साहित्य की रीतियो को ज्यो-का-त्यों हिन्दी-साहित्य मे उतार दिया। उनकी 'रामचन्द्रिका' मे एक नही, अनेक पद्य ऐसे हैं जो 'प्रसन्न-राघव' के अनुवाद मात्र है। इन रचनाओ को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उनमे मौलिक होने की विशेष क्षमता ही नही थी। यदि रीति-ग्रन्थो मे उन्हे मौलिक होने का अवसर नही था, तो कम-से-कम वह अपने महाकाव्य मे मौलिक हो सकते थे। परन्तु वहाँ भी उन्होंने इस सबध मे अपना कोई प्रशंसनीय परिचय नही दिया। देव मे यह बात नही थी। उनमे मौलिकता अधिक थी। केशव मे आचार्यत्व-गुण विशिष्ट है तो देव मे कवित्व-गुण। इसके लिए देव केशव के ऋणी हैं। उन्होने केशव की महत्ता को मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे केशव को अनुकरणीय महाकवि माना है और उनके प्रभाव को भी ग्रहण किया है। उन्होने केशव की रचनाओं

से उक्तियाँ ली हैं, भाव लिए है और काव्य-सामग्री को भी अपनाया है। फिर भी वह केशव से भिन्न है।

केशव का काव्य अलकार-प्रधान है। अलंकार-निर्वाह उनके काव्य का मुख्य लक्ष्य है। इसके विपरीत देव का काव्य रस-प्रधान है। उनका लक्ष्य रस का परिपाक है। रसो मे शृङ्गार उनका प्रधान विषय है। रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, उपमा, स्वभावोक्ति आदि अलंकार उनकी रचनाओं मे भी मिलते है, पर वे सब हैं रस-परिपाक मे सहायक। उनकी रचनाओ मे अलकार साधन हैं, साध्य नही। केशव अपने अलंकार-विधान मे रस-परिपाक की चिन्ता नहीं करते। इस प्रकार एक काव्य मे अलकार-योजना का समर्थक है तो दूसरा रस-योजना का। यही कारण है कि देव की रचनाएँ केशव की रचनाओ की अपेक्षा अधिक सरस और मधुर है।

केशव और देव दोनो का विचार-क्षेत्र विस्तृत है। केशव की 'विज्ञान-गीता' और देव के नीति एवं वैराग्य-शतक इस बात को प्रमाणित करते है कि दोनो ने धार्मिक एव शास्त्रीय विषयो पर भी बड़ी गंभीर दृष्टि से विचार किया है। केशव को रामचन्द का इष्ट था, देव को कृष्ण का। देव ने राम और सीता की भी वन्दना की है। ध्यान देने से यह भी ज्ञात होगा कि दार्शनिक क्षेत्र मे देव की दृष्टि केशव की अपेक्षा अधिक पैनी थी। इसलिए अपने इष्ट देव के प्रति उनको भक्ति-भावना भी अपेक्षाकृत उच्च कोटि को थी।

केशव अपनी रचनाओ मे अधिक ऐतिहासिक है; देव भावात्मक। देव की रचनाएँ सगीतमय भी है। केशव के भाव नियमो का समर्थन करते चलते हैं; देव के भाव स्वच्छन्द है। नियम उनका आवश्यकतानुसार पथ-प्रदर्शन करते हैं, उनको अपनी परिधि मे सीमित नहीं करते। केशव ने महाकाव्य और मुक्तक को रचना की है, देव ने प्रायः मुक्तक की। केशव पहले आचार्य है और फिर कवि। देव कवि और आचार्य दोनों एक साथ हैं। केशव की छन्द-योजना भी देव की छन्द योजना की अपेक्षा अधिक विस्तृत है।

केशव और देव दोनो ब्रजभाषा के कवि हैं। केशव ने अपनी भाषा

मे सस्कृत और बुन्देलखडी शब्दो को अत्यधिक स्थान दिया है। इससे उनकी कविता मे ब्रजभाषा की सहज माधुरी लुप्तप्राय हो गई है। उसमें प्राण नही, उसका केवल ढॉचा रह गया है। उनकी भाषा मे सस्कृत-साहित्य के प्रभाव से मीलित वर्ण तथा टवर्ग भी प्रयुक्त हुए हैं। देव की भाषा में यह बात नहीं है। इससे उनकी भाषा मे ओज, माधुर्य और प्रसाद तीनो का समावेश हो सका है। केशव की भाषा क्लिष्ट भी है। सस्कृत के पण्डित होने के कारण उनकी भाषा व्याकरण-सगत है। उन्होने शब्दो का रूप-परिवर्तन भी कम किया है। देवकी भाषा न तो उतनी व्याकरण-सगत है और न रूप-परिवर्तन से उतनी अछूती। देव की भाषा सरल अवश्य है। केशव की भाषा मे पांडित्य की आभा अधिक है। उसमे उनका प्रयत्न है, स्वाभाविकता नहीं है। इसलिए प्रवाह भी कम है। देव की भाषा में अपेक्षाकृत प्रवाह अधिक है। वह साहित्यिक ब्रजभाषा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देव अपने युग के महान कलाकार केशव और महाकवि बिहारी दोनों से सफलतापूर्वक टक्कर ले सकते हैं। उनमे यदि केशव का निखरा हुआ आचार्यत्व है; तो बिहारी का परिमार्जित काव्य-कौशल भी है। वह अपने काव्य में दोनों का प्रतिनिधित्व बड़ी सफलतापूर्वक करते है। उन्होने अपनी रचनाओं मे दोनों को पचाकर ऐसा रूप धारण कर लिया है कि वह किसी से मिलते-जुलते नजर नहीं आते। उनका मार्ग भिन्न है, उनके विषय भिन्न है। उनकी शैली किसी की शैली से मेल नही खाती, उनकी भाषा किसी की भाषा से समता नहीं रखती। उनकी रचनाओ में विकास और काव्य-प्रतिभा की अद्भुत आभा है। उन्होने जिस विषय को उठाया है उसे अपनी सहज प्रतिभा से चमका दिया है। उनकी दिव्य-दृष्टि भी सराहनीय है। अपने यौवन मे वह रसिक हैं और अपनी वृद्धावस्था में वह वेदान्ती। सक्षेप में देव शृङ्गार-कालीन आकाश के ध्रुव हैं।

घनानंद

जन्म-सं० १७४६ : मृत्यु-सं० १८१७

जीवन-परिचय

वृन्दावन-निवासी घनानद की जीवनी हिन्दी के अनेक कवियों की जीवनी की भाँति अज्ञात और अधिकांशतः किंवदंतियो पर आधारित है। कहा जाता है कि वह भटनागर कायस्थ थे और बादशाह मुहम्मदशाह 'रंगीले' (सं० १७७६-१८०५) के मीर मुन्शी थे। बचपन से ही वह विद्या-प्रेमी थे। फारसी का उन्हे अच्छा ज्ञान था। इसी कारण राजदरबार मे उनका प्रवेश हुआ और वह उन्नति करते चले गए।

घनानंद कब और कहाँ पैदा हुए, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अब तक उनके बारे में जो खोजें हुई है उनके आधार पर यह माना जाता है कि स० १७४६ के लगभग वह दिल्लो मे उत्पन्न हुए थे। बचपन में उन्हे रासलीला देखने का बहुत शौक था। राजदरबार मे मीर मुंशी होने पर तो उनका यह शौक इतना बढ़ा कि वह अपने व्यय से रासलीला कराने लगे। कभी-कभो वह स्वयं भी रासलोला मे भाग लेते थे। इससे ब्रजभाषा बोलने और लिखने का उन्हें अच्छा अभ्यास हो गया। फारसी के कवि तो थे ही, अब वह ब्रजभाषा मे भी कविता करने लगे।

रासलीला के सम्पर्क से ही घनानंद के हृदय में कृष्ण-भक्ति की ओर श्रद्धा उत्पन्न हुई और यह श्रद्धा यहाँ तक बढ़ी कि धीरे-धीरे उन्हे संसार से वैराग्य हो गया। अंत मे वह दिल्ली छोड़कर वृन्दावन चले गए और वहाँ निम्बार्क-सम्प्रदाय के किसी साधु से दीक्षा लेकर कृष्ण की उपासना मे मग्न हो गए। वह प्रायः वंशीवट के आस-पास ही रहा करते थे। कभी-कभी तो वह समाधि ही में कई दिन बिता देते थे।

घनानंद के वैराग्य लेने के संबन्ध मे यह कहा जाता है कि वह सुजान

नाम की एक मुसलमान वेश्या पर आसक्त थे। सगीत-कला में उसका नाम था और वह मोहम्मदशाह रँगीले के दरबार मे भी आती-जाती थी। कुछ तो उसके संपर्क से और कुछ रास-लीला के शौक़ से घनानन्द भी एक अच्छे गायक हो गए थे। एक दिन किसी तरह यह बात मोहम्मदशाह रँगीले को मालूम हो गई। सम्राट तो थे ही। हुक्म हुआ—घनानन्द को हाजिर करो। घनानन्द आए। सम्राट ने उनसे गाने के लिए कहा। परन्तु उन्होने गाना स्वीकार नही किया। इसी बीच किसी ने सम्राट से कहा—"हुजूर! अगर सुजान उनसे गाने के लिए कहे तो यह इन्कार नही करेंगे।" बादशाह सलामत ने सुजान से कहा। सुजान ने घनानन्द से कहा। प्रेम के पुजारी घनानन्द सुजान का कहना नहीं टाल सके। सुजान की ओर मुँह और बादशाह सलामत की ओर पीठ करके वह बैठ गए और गाना सुनाने लगे। गाना सुनते-सुनते दरबारी मत्र-मुग्ध हो गए। बादशाह सलामत ने घनानन्द के गाने की बड़ी प्रशसा की, पर उनकी अशिष्टता के लिए उन्हें क्षमा न कर सके। उन्होने तुरन्त उन्हे दिल्ली से निर्वासित कर दिया।

घनानन्द अपनी टेक के आदमी थे। मीर मुशी रहे या न रहें, पर टेक तो रहनी ही चाहिए। यह सोचकर वह सुजान के घर पहुँचे। उन्होने उसे शाही हुक्म सुनाया और तुरन्त दिल्ली से बाहर होने के लिए कहा। परन्तु वेश्या किसको होती है! उसने साफ इन्कार कर दिया। उस की इन्कार से घनानन्द के दिल को ऐसी ठेस लगी कि वह उसे जन्म भर नही भूल सके। दिल्ली से वह वृन्दावन गए और वहीं राधा-माधव की उपासना में अपने दिन काटने लगे। वहीं अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण के समय वह मारे गए। अमरशाह अब्दाली का दूसरा आक्रमण मथुरा पर सं० १८१७ के लगभग हुआ। इसलिए घनानन्द की मृत्यु इसी के आस पास हुई।

घनानंद की रचनाएँ

घनानद की रचनाओ के सबंध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी ने सं० २००० तक की अपनी खोज-रिपोर्ट मे घनानंद के सत्तरह ग्रथों का उल्लेख किया है। इनमे से कुछ ही प्रमाणित हैं। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपनी रचना 'घनआनद'

मे घनानद की जिन रचनाओ का समावेश किया है उनके नाम है : (१) सुजानहित, (२) कृपाकद, (३) वियोग-बेलि, (४) इश्कलता, (५) यमुना-यश, (६) प्रीति-पावस, (७) प्रेम-पत्रिका (८) प्रेम-सरोवर, (९) ब्रज-विलास, (१०) सरस वसत, (११) अनुभव-चद्रिका, (१२) रगबधाई, (१३) प्रेम-पद्धति, (१४) बृषभानुपूर-सुषमा-वर्णन, (१५) गोकुल-गीत, (१६) नाम माधुरी, (१७) गिरिपूजन (१८) विचार-सार (१९) दान घटा, (२०) भावना प्रकाश, (२१) कृष्ण-कौमुदी, (२२) धाम-चमत्कार, (२३) प्रिया-प्रसाद (२४) वृदावन-मुद्रा, (२५) ब्रज स्वरूप, (२६) गोकुल चरित्र, (२७) प्रेम पहेली, (२८) रसनायश, (२९) गोकुल-विनोद, (३०) ब्रज-प्रसाद, (३१) मुरलिका-मोद, (३२) मनोरथ-मजरी (३३) ब्रज-व्यवहार, (३४) गिरि-गाथा, (३५) पदावली, (३६) प्रकीर्णक के अन्तर्गत स्फुट छद, (३७) छदाष्टक, (३८) त्रिभगी और (३९) परमहंस-वशावली। इन रचनाओं मे 'सुजान-हित' और 'पदावली' बडे काव्य-ग्रथ हैं। 'सुजानहित' मे कुल ५०७ छद हैं और 'पदावली' मे १०५७ छद। इनके अतिरिक्त शेष छोटे-छोटे ग्रथ हैं।

शृङ्गार काल और घनानंद

घनानंद की उक्त रचनाओ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वह शृंगार-काल के रीति-मुक्त कवि थे। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने शृगार-काल की काव्य-प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए उसका जो विभाजन किया है उसके अनुसार उसमे काव्य-धारा के दो रूप मिलते है : (१) **रीतिबद्ध काव्य-धारा** और (२) **रीतिमुक्त या स्वच्छंद काव्य-धारा**। रीतिबद्ध काव्य-धारा भी दो रूपो मे विभाजित है : (१) **लक्षणबद्ध काव्य** और (२) **लक्ष्यमात्र काव्य**। इसी प्रकार रीति-मुक्त काव्य धारा के दो रूप दिए गए हैं : (१) **रहस्योन्मुख काव्य** और (२) **शुद्ध प्रेम-काव्य**। घनानद की सपूर्ण रचनाएँ रीत-मुक्त काव्य-धारा के इसी दूसरे विभाजन के अन्तर्गत आती है। आदि से अन्त तक उनका काव्य शुद्ध प्रेम-काव्य है। उन्होंने अन्य शृगार-कालीन कवियो की भाति किसी राजदरबार मे रहकर कविता नही की। वह स्वच्छद प्रकृति के कवि थे। यही शृंगार-काल के रीतिबद्ध-कवियो से उनका विरोध था। रीतिबद्ध कवि अपनी काव्य

रचना में अधिक शास्त्रीय थे। वे एक बंधे बंधाए मार्ग पर चलने के आदी थे। काव्य-रीतियों के अनुसार चलना ही उनका परम उद्देश्य था। वे किसी शास्त्रीय नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। केशवदास, पद्माकर, मतिराम, बिहारी, भूषण, देवदत्त आदि सब किसी-न-किसी रूप में रीति-बद्ध काव्य-धारा के पोषक और समर्थक थे, परन्तु स्वच्छंद काव्य-धारा के कवियों ने उनके बंधे-बंधाए मार्ग का अनुसरण नहीं किया। उनकी कला उनकी अपनी कला थी, उनके वर्ण्य-विषय उनके अपने वर्ण्य-विषय थे। उनका मार्ग रीतिबद्ध काव्य-धारा के कवियों से सर्वथा भिन्न था। रसखान, घनानंद, ठाकुर, बोधा आदि इसी परंपरा के कवि थे।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि रसखान और घनानन्द की भांति ही केशवदास, पद्माकर, बिहारी और मतिराम भी तो प्रेम के ही गायक थे। इस प्रश्न का उत्तर यदि संक्षेप में दिया जा सके तो कहा जायगा कि प्रेम-निरूपण के क्षेत्र में दोनों वर्ग के कवि एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थे। रीतिबद्ध काव्य-धारा के कवि प्रेम के बाह्य पक्ष के कवि थे। परन्तु उनका बाह्य पक्ष निरूपण भी स्वच्छंद नहीं था। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के मतानुसार साहित्य की परंपरा में प्रेम-व्यापार के जो लक्षण निश्चित कर दिए गए थे उनसे आगे उनकी दृष्टि मार्ग न पा सकी। बाह्य पक्ष की रमणीयता के दर्शन के लिए जो अन्तर्दृष्टि की व्याप्ति और सूक्ष्मता अपेक्षित होती है वह उनकी रचनाओं में मंद पड़ गई थी। उनमें शारीरिक सुख का आग्रह तो था, पर मानस-संसर्ग की रमणीयता उनमें नहीं थी। प्रेम के बाह्य पक्ष के चित्रण में उनके प्रिय विषय थे : नख-शिख-नायिका भेद, विपरीत-रति, सुरतांत, दूती, सखी, अभिसारिका की साज-सज्जा, गुप्ता की गोपन विधियाँ, विदग्धा के विदग्धालाप, गुरुजनों के बीच प्रेम-संकेतों का सविस्तर उल्लेख, लोक-भय अथवा लोक-लज्जा के आधार पर प्रेम के बहुत से बंधे-बंधाए खेल, छल-कपट से भरे खिलवाड़, सौतों की असूया, मान के त्रिविध रूप, खंडिता की व्यंग-भरी उक्तियाँ, हावों की भावभंगी, प्रेम-मार्ग की वक्रता आदि। इन्हीं और इनसे संबंधित अन्य अनेक विषयों के निरूपण में ही उन्होंने अपनी काव्य-कला का चरमोत्कर्ष प्रस्तुत किया था। संक्षेप में इसी बात को हम यों

भी कह सकते है कि उनके प्रेम-निरूपण मे नायक-नायिका के बीच मानस संसर्ग की अपेक्षा बुद्धि विलास ही अधिक था। ऐसा करने के लिए वे मजबूर भी थे। वे दरबारी कवि थे। अपनी जीविका बनाए रखने के लिए उन्हे अपने आश्रय दाताओ का सस्ते ढंग से मनोरजन करना पड़ता था। नायिका के कपोल, नायिका के बाल, नायिका के कुच, नायिका की कमर, नायिक के नेत्र आदि के वर्णन मे जो कवि अधिक-से-अधिक अपनी बुद्धि-विलास का प्रदर्शन कर सकता था वही अपनो जीविका सुरक्षित रख सकता था। ऐसे पराधीन कवियो से प्रेम के उस पक्ष के चित्रण की आशा नही की जा सकती थी जिसकी पूर्ति रीति-मुक्त काव्य धारा के कवियो ने की।

रीति-मुक्त काव्य-धारा के कवि किसी के आश्रय मे नहा थे। उन्होने स्वतत्र रह कर अपनी प्रेमानुभूतियो का चित्रण किया। वे स्वयं प्रेमी थे और प्रेम के रहस्य से परिचित थे। वे जानते थे प्रेम करना, प्रेम मे तपना और प्रेम मे तड़पना। इसलिए उनकी प्रेमानुभूति वास्तविक प्रभानुभूति थी। रीतिबद्ध काव्य-धारा के कवियो की भांति उनका प्रेम मौखिक प्रेम नही था। प्रेम की चोटो को उन्होने स्वय अनुभव किया था। इसलिए उनका मार्ग भी उन रीतिबद्ध-कवियो से सर्वथा भिन्न था जो कृत्रिम प्रेम के गीत गाकर अपनी रोटी कमाने के साथ-साथ अपने आश्रय-दाताओं का मन बहला रहे थे। यही कारण था कि उन्होंने शृंगार-काल मे जन्म लेकर भी शृंगार-काल की प्रचलित काव्य-परपराओ से मुक्त होकर अपने काव्य का अपने ढंग से शृंगार किया। वे मनमौजी थे, हृदय की तड़पन और कसक के गायक थे। प्रेम के क्षेत्र मे उनका आदर्श था, चातक। प० विश्वनाथ प्रसाद के शब्दों मे—'तुलसीदास ने चातक के जिस एकांगी प्रेम की उच्चता और तीव्रता का विधान अपनी 'दोहावली' के अन्तर्गत चातक चौतीसी' मे किया है, प्रेम का वही उदात्त रूप इनमे भी दिखाई देता है। चातक वज्र गिरने पर भी बादल को प्यार करना नही छोड़ता :—

'उपल बरसि, गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥'

रीति-मुक्त कवि इसी प्रेम के पथिक थे। उनका प्रेम एकनिष्ठ था।

जिस पर उनकी निगाह जम गई, जम गई, फिर उससे हटनेवाली नहीं थी। आचार्यों के मत से इस प्रकार के एकनिष्ठ प्रेम की दो धाराएँ होती हैं : **(१) वस्तु-विशिष्ठ प्रेम और (२) प्राणी-विशिष्ठ प्रेम**। वस्तु-विशिष्ट प्रेम प्रिय के रूप आदि से सबंधित रहता है। यहीं से एकनिष्ठ प्रेम का आरभ होता है। धीरे-धीरे जब वस्तु-विशिष्ठ प्रेम इतना सबल और आग्रहपूर्ण हो जाता है कि प्रिय को बिना देखे चैन नहीं पड़ता और उसके सानिध्य की आकाङ्क्षा बराबर वेगवती होती रहती है तब प्राणी-विशिष्ठ प्रेम का उदय होता है। इस मज़िल पर पहुँचकर प्रेमी प्रिय के हृदय पर बिजय प्राप्त करने मे संलग्न हो जाता है। यदि उसको अपने इस प्रयत्न मे सफलता मिल गई तो कहना ही क्या है, पर यदि उसे सफलता न मिली तो वह उसे त्याग नहीं देता। प्राणी-विशिष्ठ प्रेम की सचाई केवल इसी बात मे है कि प्रेमी अपने प्रिय को किसी भी दशा मे अपने हृदय से दूर नही करता, वह प्रेम के क्षेत्र मे सतत आगे ही बढ़ता रहता है। वह अपने प्रिय के वियोग में आँसू बहाता है, चीखता-चिल्लाता है, तड़पता है, जङ्गलो और बयाबानो की खाक छानता है, अपना सुख-चैन हराम कर देता है, पर अपने प्रेम-पथ से हटने का नाम नही लेता। यह प्रेम दरअसल प्रिय के वियोग में तरह-तरह की वेदना सहते हुए मर मिटने वाला प्रेम है। हिन्दी के रीतिमुक्त कवियो ने इसी प्रेम के गीत गाए है। वे वस्तु-विशिष्ठ प्रेम की मंजिल से गुजरे हैं, परन्तु वे वहीं नही रुके, उससे बहुत आगे बढ़े हैं। रीतिबद्ध-कवियो का यह रवैया नही रहा है। उनके प्रेम को हम आचार्यों के शब्दों मे वस्तु-विशिष्ठ प्रेम ही कह सकते हैं। उन्हे प्राणी-विशिष्ठ प्रेम की गंध छू तक नही पाई है। रीति-बद्ध तथा रीति-मुक्त कवियों के प्रेम-निरूपण के सम्बन्ध में यह अन्तर समझ लेने के पश्चात् घनानन्द के काव्य के महत्व को समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती।

घनानन्द की काव्य-साधना

शृङ्गार-काल के रीतिमुक्त-कवियो मे घनानन्द का स्थान सर्वोच्च है। हिन्दी मे वह उन्मुक्त प्रेम के सर्वोत्कृष्ट गायक माने जाते हैं। उनकी रचनाओ में उनके अन्तरतम की अनुभूतियों के स्वर है। बुद्धि के अना-

रीतिबद्ध कवियो की भाँति घनानंद ने अपने प्रेम की त्रिवृत में 'बिछुरनि मीन की औ मिलनि पतग की' को आदर्श नही बनाया। उन्होने इसे जड़ता का लक्षण समझा और प्रिय के वियोग मे तड़प-तड़प कर भी जीना सीखा :—

'मरिबो बिसराम गनै वह तौ, यह बापुरो मीच-तज्यो तरसै ।
वह रूप-छठा न सहारि सकै, यह तेज तवै चितवै बरसै ॥
घनआनंद कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै ।
बिछुरे मिलें मीन-पतंग-दसा कहा मो जिय की गति को परसै ॥'

जल के वियोग मे मीन तुरन्त अपना प्राण त्याग देती है और संयोगावस्था में पतंग दीपक की लौ पर अपने प्राण उत्सर्ग कर देता है। संयोग और वियोग की यह चरम दशा घनानंद का लक्ष्य नही है। घनानंद प्रेम की पीर मे तड़प-तड़प कर जीनेवाले कवि हैं। वियोग तो वियोग है ही, संयोग में भी वियोग उनका पीछा नही छोड़ता :—

'यह कैसो संजोग न जानि परै जु वियोगन क्यौं हू बिछोहत है ।

घनानद के एकनिष्ठ प्रेम का यही आदर्श है। इस मे, न तो किसी प्रकार की वक्रता है, न लचीलापन, न कुटिलता, न चातुरी, न बुद्धि-विलास ! यह प्रेम का सीधा और सरल मार्ग है जिसपर चलकर कोई भटक नहीं सकता :—

'अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं ।
तहाँ साँचे चलै तजि आपनपौ झझकैं कपटी जे निसांक नहीं ॥'

शर्त यही है कि प्रेमी के हृदय मे प्रिय के प्रति सच्ची लगन हो और उसमें अहंभाव का सर्वथा अभाव हो। घनानद ने अपने लिए यही कसोटी तैयार की है और इस पर वह खरे उतरे है।

(२) **विरह-वर्णन**—घनानन्द के प्रेम-काव्य का मुख्य विषय है—विरह-वर्णन। सुजान के वियोग ने ही उन्हे काव्य-प्रेरणा दी है। 'सुजानहित' तथा 'वियोग-बेलि' मे उनकी जो रचनाएँ सगृहीत हैं उनके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वह मुख्यतः विरह के कवि थे। विरह-वेदना का उन्हे व्यक्तिगत अनुभव था। उनकी आत्मा एक विरही की आत्मा थी। रीतिबद्ध-कवियों की भाति किसी से विरह वेदना उधार लेकर उन्होंने कविता नहीं की।

प्रेम की पीर' से वह भली-भाति परिचित थे और उसकी विविध अन्तर्दशाओं से वह गुजर चुके थे। इसलिए उन्होने जो कुछ लिखा, विरह मे डूबकर लिखा और ऐसा लिखा जो किसी की भी रचना से टक्कर न ले सका।

प्रश्न उठता है कि घनानन्द के विरह-वर्णनका रूप क्या है और वह किस काव्य-परंपरा से प्रभावित है। इस प्रश्न का उत्तर देन के लिए हमे प्रेम के उन दोनो रूपो पर विचार करना होगा जिनमे से एक को सम और दूसरे को विषम कहते हैं। प्रेमी और प्रिय क बीच जब समान रूप से प्रेम उत्पन्न होता है तब वह प्रेम का सम रूप कहा जाता है। राम और सीता के बीच उत्पन्न होनेवाला प्रेम इसी प्रकार का प्रेम है। राम का सीता के प्रति उतना ही प्रेमाकर्षण है जितना सीता का राम के प्रति। भारतीय काव्य-परंपरा मे इसी प्रकार के प्रेम का वर्णन सयोग और वियोग के अन्तर्ग किया गया है। इसके विरुद्ध प्रेम का विषम रूप है। इस प्रकार के प्रेम मे प्रेम करने वाला अपने प्रिय के वियोग मे तड़पता है, आहे भरता है, रोता-चिल्लाता है, परन्तु उसके तड़पने, आहे भरने और रोने चिल्लाने का उसके प्रिय पर इतना भाव नही पडता कि वह भी पिघल जाय, वह भी तड़प उठे और वह भी सयोग के लिए व्याकुल हो जाय। लैला-मजनूँ और शीरा-फरहाद के बीच उत्पन्न होनेवाला प्रेम इसी प्रकार का प्रेम है। मजनूँ तड़पता है, पर लैला में वह तडपन नही है। नतीजा यह होता है कि मजनूँ दिन-रात उसके वियोग में तड़पता और छटपटाना रहता है। प्रेम के सम रूप मे भी वियोग की घडियाँ आती हैं, परन्तु उस वियोग मे वह घनीभूतता नही होती जो प्रेम के वैषम्य मे उत्पन्न होनेवाले वियाग मे पाई जाती है। भारतीय काव्य-परंपरा मे इस प्रकार के प्रेम को प्रश्रय नहीं दिया गया, उसमे सर्वत्र प्रेम के सम रूप का ही चित्रण हुआ। परन्तु आगे चलकर फारसी-काव्य-परपरा के प्रभाव से भारतीय काव्य मे प्रेम के विषम रूप को भी स्थान दिया जाने लगा। हिन्दी के सूफी-कवियों ने इसे विशेष रूप से अपनाया और फिर हिन्दी-काव्य मे इसकी परंपरा चल पड़ी। घनानन्द ने इसी परंपरा के अन्तर्गत अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। फारसी और उर्दू के वह अच्छे विद्वान थे, सूफियों की दार्शनिक विचार-धारा से भी उनका परिचय था। इश्क मजाज़ी

(लौकिक प्रेम) में भी वह सराबोर थे। परन्तु 'सुजान' की इन्कार ने इस इश्क मजाजी की दिशा बदल दी। घनानन्द उसके वियोग मे विरक्त हो गये। ससार का पल्ला उनसे छूट गया और फिर धीरे-धीरे वियोग मे 'सुजान' ने राधा-कृष्ण का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार उनका विरह-वर्णन विशुद्ध भारतीय नहा है, उस पर सूफियो की विरह-वेदना का स्पष्ट प्रभाव है। एक उदाहरण लीजिए :—

'अंतर हौ किधौ अंत रहौ, दृग फारि फिरौ कि अभागिनि भीरौं।
आगि जरौ अकि पानि परौ, अब कैसी करौं, हिय का विधि धीरौ॥
जौ घनआनंद ऐसी रुची, तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौ।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्है, धरती मै धसौ कि अकासहि चीरौ॥'

घनानन्द के उक्त सवैये पर सूफियो के ब्रह्म-विरह की स्पष्ट छाप है। सूफियो की भाँति घनानंद ने भी लौकिक प्रेम लीला को अलौकि प्रेम-लीला का अश माना है और अपना रचनाओं मे यत्र तत्र इसका आभास दिया है। 'उघरौ जग छाय रहे घनआनंद चातिक लौं तकियै अब तौ' से यही बात स्पष्ट होती है। किन्तु इतना साम्य होते हुए भी घनानन्द का विरह-वर्णन भक्ति-भावना-समन्वित, संयत और भारतीय काव्य-परपरा से पोषित है। भारतीय काव्य-शास्त्र मे आचार्यो ने विरह की दस अवस्थाएँ मानी है : (१) स्मृति, (२) गुण-कथन, (३) अभिलाषा, (४) मूर्च्छा, (५) व्याधि, (६) उद्वेग, (७) प्रलाप (८) जडता, (९) उन्माद और (१०) मरण। इनमे से अन्तिम मरण की अवस्था का वर्णन भारतीय काव्य-शास्त्र में निषिद्ध ठहरा गया है। घनानन्द ने अपने विरह-वर्णन मे इन सभी अवस्थाओ को स्थान दिया है। इनके अतिरिक्त उनकी रचनाओ मे कुछ और भी अवस्थाएँ मिलती है जो उनकी व्यक्तिगत अनभूति पर आश्रित हैं। इन सभी अवस्थाओ के चित्रण मे उन्हे अभूतपूर्व सफलता मिली है।

स्मृति का चित्रण घनानद के विरह जन्य काव्य की परम विशेषता है। इस संबध मे एक नहीं, अनेक ऐसे उदाहरण उनके काव्य से दिए जा सकते हैं जिनमे उनकी वियोगी आत्मा तड़प उठी है। एक उदाहरण लीजिए :—

'वहै मुसक्यानि, वहै मृदु बतरानि, वहै—
लडकीली बानि आनि उर मैं अरति है।
वहै गति लैन, औ बजावनि ललित बैन,
वहै हँसि दैन, हियरा तें न टरति है ॥
वहै चतुराई सों चिताई चाहिबे की छवि,
वहै छैलताई न छिनक बिसरति है।
आनन्दनिधान प्रानप्रीतम सुजानजू की,
सुधि सब भाँतिन सों बेसुधि करति है ॥'

यह बेसुध करनेवाली 'सुजान' की याद किसी प्रकार भी घनानंद के हृदय से नही निकलती। इसलिए खीजकर वह कहते हैं :—

'क्यौं हँसि हेरि हर्‌यौ हियरा, अरु क्यौं हित कै चित चाह बढाई।
काहे कों बोलि सुधा-सने बैननि, चैननि मैन-निसैन चढाई ॥
सो सुधि मो हिय मै घनआनँद, सालति क्यौं हूँ कढै न कढाई।
मीत सुजान अनीत की पाटी, इतै पै न जानियै कौने पढाई ॥'

विरह में प्रिय का गुण-कथन विशेष रुचिकर और सान्त्वनाप्रद होता है। सच पूछिए तो इसी के सहारे प्रेमी जीता रहता है। घनानंद ने अपने विरह-काव्य मे इसकी भी योजना की हैं। उन्होने कही अपने 'सुजान' श्रीकृष्ण के रूप की प्रशंसा की है, कही उनकी उदारता का बखान किया है और कहीं उन्हे उनके निर्मोहीपन के लिए फटकारा भी है। रूप के आकर्षण का महत्त्व इसी बात मे है कि वह चिर नवीन हो, शाश्वत हो, अनोखा हो, ऐसा हो कि उसकी तुलना मे कोई रूप जंच ही न सके। इस प्रकार का रूप प्रेमी को इधर-उधर भटकने का अवसर नहीं देता। घनानंद अपने 'सुजान' के रूप के सम्बन्ध में कहते हैं :—

'रावरे रूप की रीति अनूप, नयो-नयो लागत ज्यों-ज्यों निहारियै।'

इसी 'नयो-नयो लागत ज्यों-ज्यों निहारियै'—से प्रेम परिपुष्ट, परिपक्व एवं स्थाई होता है, इसी की याद बार-बार सताती है और इसी को देखने के लिए आखे तरसा करती हैं। घनानंद ने इसीलिए अपने विरह-काव्य

में रूप के आकर्षण का महत्व स्वीकार किया है। इसके साथ ही उन्होंने अपने प्रिय की उदारता का भी बखान किया है :—

'रसिक रंगीले, भली भाँतिनि छबीले, घन—
आनँद रसीले भरे महासुख-सार हैं।
कृपा-धन-धाम स्यामसुन्दर सुजान, मोद—
मूरति, सनेही, बिना बूझें रिझवार है॥
चाह-आलबाल और अचाह को कल्पतरु,
कीरति-मयंक, प्रेम-सागर अपार हैं।
नित हित-संगी, मनमोहन त्रिभगी, मेरे
प्राननि-अधार नंदनंदन उदार है॥'

परन्तु उन्ही उदार नदनंदन के निर्मोहीपन की भर्त्सना भी की गई है :—

'तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ, मन लेहु पै देहु छटांक नहीं॥'

विरह की तीसरी अवस्था है—अभिलाषा। प्रिय की स्मृति और उसके गुण-कथन के साथ-साथ प्रेमी के मन मे अपने प्रिय से मिलने, उसका सानिध्य प्राप्त करने, उसका दर्शन करने और अन्त मे उसके साथ मिलकर एक हो जाने की तीव्र अभिलाषा होती है। घनानंद ने एक विरही के रूप में अपनी अभिलाषा का उद्घाटन दो प्रकार से किया है : (१) साधारण और (२) विशेष। साधारण ढग से जो अभिलाषा प्रकट की गई है उसका एक उदाहरण लीखिए :—

'रूप उजियारे जान! प्रानन के प्यारे, कब
करौगे जुन्हैया दैया बिरह-महा-तमैं।
सुखद सुवा तें हँसि हेरनि पिवाय पिय,
जियहि जिवाय, मारिहौ उदेग-से जमैं॥
सुन्दर सुदेस आँखैं बहुर्‌यौ बसाय, आय,
बसिहौ छबीले जैसें हुलसि हियें रमैं।
ह्वैहै सोऊ घरी भाग-उघरी अनंदघन,
सरस बरसि लाल देखि हौ हरी हमैं॥'

प्रिय की बाँकी अदाओं के दर्शन की अभिलाषा का यह उदाहरण भी कितना सुन्दर और सत्य है :—

'छबि को सदन, मोद-मंडित बदन-चंद,
तृषित चखनि लाल ! कब धौं दिखायहौ।
चटकीलो भेष करें, मटकीली भाँति सों ही,
मुरली अधर धरें लटकत आयहौ॥
लोचन ढुराय, कछू मृदु मुसक्याय, नेह—
भीनी बतियानि लडकाय बतरायहौ।
बिरह-जरत जिय जानि, आनि प्रानप्यारे,
कृपानिधि आनँद को घन बरसायहौ।'

विरह-वर्णन में हिन्दी के अनेक कवियों ने इसी साधारण पद्धति से विरही की अभिलाषा का अभिव्यक्तीकरण किया है। इसमे प्रेमी अपने प्रिय के साथ सीधा सबंध स्थापित करता है। वह जो कुछ कहता है, अपने प्रिय को संबोधित करके कहता है। इसके विपरीत एक विशेष पद्धति भी है जिसमे किसी माध्यम-द्वारा प्रेमी अपनी अभिलाषा प्रकट करता है। संस्कृत-साहित्य में इस पद्धति से अधिक काम लिया गया है। इस पद्धति के अनुसार 'पवन' और 'मेघ' दूत बनाकर प्रिय के पास भेजे जाते हैं और उनके द्वारा विरही अपने वियोग-व्यथा की सूचना अपने प्रिय को देते हैं। घनानन्द ने भी अपने वियोग-वर्णन मे उक्त दोनों को दूत बनाया है। निम्न पक्तियो मे देखिए, वह अपने पवन-दूत से क्या कहते हैं :—

'एरे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन, वारी
तो सो और कौन, मन ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे-बडे सों समान, घन—
आनद-निधान, सुखदान दुखियानि दै॥
जान उजियारे गुन-भारे अंत मोही प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे, पीठि पहचानि दै।

बिरह-बिथाहि मूरि, आँखिन मै राखौ पूरि,
धूरि तिन पायन की हा हा ! नेकु आनि दै ॥'

पहले पवन की प्रशंसा कर और फिर उसे अपनी स्थिति का परिचय देकर अन्त मे जो अभिलाषा प्रकट की गई है वह विरह-काव्य का प्राण है। घन-दूत से भी इसी प्रकार की कुछ बात कही गई है। देखिए :—

'परकाजहि देह को धारि फिरौ, परजन्य ! जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सज्जनता सरसौ।
घनआनंद जीवन-दायक हौ, कछू मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवनि को लै बरसौ॥'

कितनी सुन्दर योजना है पवन-द्वारा प्रिय की पग-धूरि मंगाने की और मेघ-द्वारा अपने आसुओं को प्रिय तक पहुँचाने की! इन दोनो रचनाओ मे काव्य-सौष्ठव तो है ही, विरही की पूत अभिलाषा भी अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है। परन्तु जब प्रेमी की यह अभिलाषा भी किसी तरह पूरी नही होती तब वह चेतना-हीन होकर मूर्च्छित हो जाता है। मूर्च्छा से आगे की अवस्था व्याधि है जिसमे एक प्रकार की जड़ता आ जाती है। विरही पड़ा-पड़ा इधर-उधर शून्य मे देखा करता है और आँसू बहाता रहता है। यह अवस्था जब परिपक्व हो जाती है तब उद्वेग का आविर्भाव होता है। उद्वेग की अवस्था अत्यन्त पीड़ा पहुँचानेवाली होती है जिसके कारण विरही को अपने जीवन से विरक्ति हो जाती है। इसके बाद की अवस्था है—प्रलाप जब वह सब ओर से निराश होकर बकने-झकने लगता है। जड़ता और उन्माद इसके बाद की अवस्थाएँ हैं। इन सभी अवस्थाओ से गुजरकर प्रेमी अन्त में मरण की अवस्था पर पहुँचता है। परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भारतीय काव्य-शास्त्र में इसका वर्णन निषिद्ध है। धनानन्द ने तो अपनी विरह-वेदना मे मृत्यु का भी तिरस्कार किया है। उन्हे वियोग मे तड़पना पसन्द है, पर मरना पसन्द नहीं है। ऐसी स्थिति मे उनका एक मात्र अवलंबन है—नाम-जप। इसी के आधार पर जीते हुए वह कहते हैं :—

'तेरी बाट हेरत हिराने औ पिराने पल,
थाके ये बिकल नैना ताहि नपि-नपि रे ;
हिये मैं उदेग-आगि लागि रही रातद्यौस,
तोहि कों अराधौं, जोग साधौं तपि-तपि रे ॥
जान घनआनंद यौं दुसह दुहेली दसा—
बीच परि-परि प्रान पिसे चपि-चपि रे।
जीबे तैं भई उदास, तऊ है मिलन-आस,
जीवहि जिवाऊँ नाम तेरो जपि-जपि रे ॥'

और यह सब हो रहा है एक आशा के साथ। आशा यह है कि कभी प्रिय से मिलन होगा। जब तक मिलन नहीं होता तभी तक हर तरह की यातनाओं की अवधि है। मिलन होने पर, परमात्मा (प्रिय) मे आत्मा (प्रेमी) के लीन होने पर सभी कष्टो का अन्त हो जायगा। इसलिए जब तक मिलन नही होता, जब तक वह शुभ समय नहीं आता तब तक जिसका जो जी चाहे करले। घनानन्द यही सोच कर कहते हैं :—

'कारी कूर कोकिला! कहाँ को बैर काढति री,
कूकि-कूकि अबही करेजो किन कोरि लै।
पैंड़े परे पापी ये कलापी निसद्यौस ज्योंही,
चातक! घातक त्योंही तू हू कान फोरि लै॥
आनंद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरो दल जोरि लै।
जौ लौ करैं आवन बिनोद-बरसावन वे,
तौ लौ रे डरारे बजमारे घन घोरि लै॥'

घनानन्द की यह आशा उनकी इस टेक पर आश्रित है :—

'आसा-गुन बाँधि कै भरोसो-सिल धरि छाती,
पूरे पन-सिंधु मैं न बूड़त सकायहौं।
दीह दुख-दव हिय जारि, उर-अन्तर,
निरंतर यौं रोम-रोम त्रासनि तचायहौं॥

लाख-लाख भाँतिन की दुसह दसानि जांनि
साहस सम्हारि सिर आरे लौ चलायहौं।
ऐसें घनआनँद गडी है टेक मन माहिँ,
एरे निरदई! तोहि दया उपजायहौ॥'

घनानन्द की इस टेक मे उनका आत्मविश्वास है और इसी आत्मविश्वास मे भारतीय साधक की साधना सफल होती है। घनानंद ने अपने विरह-वर्णन मे यद्यपि सूफी-प्रेम-साधना से प्रभावित प्रेम के वैषम्य रूप को ही अपनाया है तथापि उसे कृष्ण-भक्ति के रग में रंगकर उन्होने आदि से अन्त तक भारतीय परपरा का ही पालन किया है। फारसी काव्य-परपरा से प्रभावित सूफी-साधना मे परमात्मा को नायिका और साधक को नायक का रूप दिया जाता है। उसमे नायिका तटस्थ रहती है और नायक क्रियाशील। हिन्दी के सूफी-कवि जायसी ने अपनी रचना 'पदमावत' मे इसी शैली का अनुकरण किया है। परन्तु भारतीय धर्म-साधना में परमात्मा को नायक और साधक को नायिका का रूप दिया जाता है। नायिका अपने नायक के वियोग मे तड़पती, रोती-बिलखती और आहें भरती है। शृङ्गार-काल के प्रायः सभी कवियों ने इसी परम्परा का पालन किया है। घनानंद भी अपने विरह-वर्णन मे इसी मार्ग के पथिक रहे हैं। परन्तु यहाँ भी वह अपने युग के पूर्ववर्त्ती कवियों से भिन्न हैं। वियोग-वर्णन मे जहाँ रीतिबद्ध काव्य-धारा के कवियों की दृष्टि परव्यजक रही है वहाँ घनानद की दृष्टि आत्मव्यजक है। कहने का तात्पर्य यह कि रीतिबद्ध काव्य-धारा के कवियों के विरह-वर्णन में उनकी अपनी अनुभूति नहीं है, परन्तु घनानंद का विरह-वर्णन उनकी अपनी अनुभूति का परिणाम है। उन्होने जो कुछ लिखा है, वह स्वयं तड़प-तड़प कर लिखा है और अपने 'सुजान' श्रीकृष्ण को सुनाया है। इसीलिए घनानंद के विरह-वर्णन में अनूठा संयम और स्वाभाविकता है। वह सत्य ही नहीं, गंभीर भी है। एक बार पढ़कर उसे बार-बार पढने को जी चाहता है। लगता है, उसमे जो कुछ है, सब अपना ही है। घनानद ने विरह की जिन-जिन अन्तर्दशाओं तथा भावना-भेदो का निरूपण किया है वे वास्तविक हैं।

कहीं-कहीं उन्होंने कृष्ण का निर्गुण आधार लेकर कुछ रहस्यमयी उक्तियाँ कहीं है, पर वे भी उनकी सच्ची अनुभूति के परिणाम हैं। कहने का तात्पर्य यह कि वह एक सच्चे विरही हैं और इस नाते उन्होंने अपनी प्रत्येक अनुभूति को सौ-सौ तरह से सफलतापूर्वक चित्रित किया है। उनका प्रत्येक शब्द और उनकी प्रत्येक उक्ति उनकी विरह- वेदना का सच्चा प्रतीक है। उनका यह छंद लीजिए और देखिए कि वह अपने 'सुजान' श्रीकृष्ण को अपने अनुकूल बनाने मे कितने सुन्दर तर्क के साथ अपनी विवशता का चित्र उतारते हैं :—

'चातिक चुहल चहुँ ओर चाहै स्वाति ही कों,
सूरे पन-पूरे जिन्है बिष सम अमी है।
प्रफुलित होत भान के उदोत कंज-पुंज,
ता बिन बिचारनि ही जोति-जाल तमी है।
चाहौ-अनचाहौ जान प्यारे पै अनंदघन,
प्रीति-रीति बिषम सु रोम-रोम रमी है।
मोहि तुम एक, तुम्है मो सम अनेक आहिं,
कहा कछु चंदहि चकोरन की कमी है।।'

और यदि इतने पर भी उनके निष्ठुर सुजान नहीं मानते तो वह यह खरी बात कहने से भी नही चूकते :—

'भए अतिनिठुर, मिटाय पहचानि डारी,
याही दुख हमै जक लागी हाय-हाय है।
तुम तौं निपट निरदई, गई भूलि सुधि,
हमै भूल-सेलनि सो क्यौ हू न भूलाय है।।
मीठे-मीठे बोल बोलि, ढगी पहिले तौ तब,
अब जिय जारत, कहौ धौ कौन न्याय है।
सुनी है कै नाही, यह प्रगट कहावति जू,
काहू कलपाय है सु कैसे कल पाय है।।'

(३) भाव-पक्ष—काव्य के अंतस मे मूलतः तीन तत्वों का समावेश कर उसे प्रभावोत्पादक बनाया जाता है। उनमे से पहला तत्त्व बुद्धितत्त्व

हैं। बुद्धि-तत्त्व से हमारा अभिप्राय कवि की उस विचार-धारा से है जिसमें उसका जीवन-दर्शन निहित रहता है। अर्थात् जब कवि काव्य के माध्यम से अपने व्यक्तिगत जीवन-दर्शन अथवा किसी सामाजिक आदर्श की व्याख्या करने लगता है तब काव्य में बुद्धि-तत्त्व की स्थापना होती है। स्पष्ट है कि काव्य मे बुद्धि-तत्त्व की स्थापना बिना मास्तिष्क को झकझोरे हुए नहीं हो सकती। घनानन्द की यह प्रवृत्ति नही है। उन्होने न तो मस्तिष्क से कविता की है और न अपनी कविता में मस्तिष्क को झकझोरनेवाली कोई व्यवस्था। उनका अपना कोई गहन और गम्भीर जीवन-दर्शन भी नहीं है। इसलिए उनकी रचनाओ मे बुद्धि-तत्त्व का अभाव है।

काव्य के अंतस का दूसरा तत्त्व है कल्पना-तत्त्व। काव्य मे इस तत्त्व का होना आवश्यक है। इसके बिना काव्य मे भाव-सौदर्य की स्थापना नहीं होती, परन्तु इसका अत्यधिक प्रयोग भाव-सौंदर्य की वृद्धि मे बाधक भी होता है। रीतिबद्ध-कवियों ने अपनी रचनाओ में इसका अत्यधिक प्रयोग कर उनकी गम्भीरता पर ही आघात नही किया है, उन्हे हास्यात्मक भी बना दिया है। उदाहरणार्थ बिहारी का यह दोहा लीजिए और देखिए कि उन्होंने कल्पना के अत्यधिक साहचर्य से एक विरहिणी की कृशता का वर्णन कर उसकी विरह-वेदना के प्रति कितना घोर अन्याय किया है—

'इत आवति चलि जात उत, चली छः सातक हाथ।
चढे हिंडोरे-सी रहै, लगी उसासन साथ॥'

बिहारी की यह कल्पना-प्रियता घनानन्द मे नहीं है। घनानन्द ने अपनी रचनाओं मे कल्पनाओ का प्रयोग एक उचित सीमा के भीतर किया है और इस बात का ध्यान रखा है कि वे जीवनपरक, सजीव, स्वाभाविक प्रभावोत्पादक, गम्भीर और भाव-सौदर्य की वृद्धि में सहायक हो। एक विरहिणी की विरह-व्यथा तथा उसकी कृशता आदि के वर्णन को वह अपनी स्वाभाविक एवं जीवनपरक कल्पना के उचित साहचर्य से कितना प्रभावोत्पादक बना देते है, इसका एक उदाहरण लीजिए :—

'अँसुवानि तिहारे वियोग हरी बरषा-रितु बेलि-सी बाल भई।
हिय-खोपनि चोपनि-कोंपनि झालरि लाज के ऊपर छाय गई॥

घनआनँद जान सदा हित झूमनि घूमनि देखियै नित्त नई।
बलि नेकु मया करि हेरौ हहा अबला किधौं फूलि रही तुरई॥'

एक नायिका के रूप-लावण्य का यह काल्पनिक चित्र भी कितना सुन्दर है :—

'चारु चामीकर चंद चपला चंपक चोखी,
केसरि-चटक कौन लेखें लेखियति है।
उपमा बिचारी न बिचारी, जाहिं जान प्यारी,
रूप की निकाई औरैं अवरेखियति है॥
सरस-सनेह-सानी राजति रवाँनी दसा,
तरुनाई-तेज-अरुनाई पोखियति है॥
मंडित अखंड घनआनँद उजास लिये,
तेरे तन दीपति दिवारी देखियति है॥'

काव्य के अंतस का तीसरा तत्त्व है—भाव-तत्त्व। इस तत्त्व का मूल स्रोत हृदय है। घनानँद हृदयवादी कवि हैं, इसलिए उनकी सपूर्ण रचनाएँ भावपरक हैं। उनके काव्य का 'थीम' है—एकनिष्ठ प्रेम। प्रेम-दशा की व्यंजना ही उनका अपना क्षेत्र है। प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशाओं का उद्‌घाटन जैसा उनमें है वैसा हिन्दी के अन्य कवियों मे नहीं पाया जाता। उनकी प्रेम-व्यंजना विशुद्ध रूप से भावात्मक है। वह लोक-भय अथवा लोक-लाज का तिरस्कार कर साहसपूर्वक प्रेम की एक निष्ठता में विश्वास करनेवाले और लीन होनेवाले कवि थे। श्रीकृष्ण और राधा का जैसा उन्मुक्त प्रेम-मय जीवन था वैसा ही बाधा-बन्धन-रहित सरल-सीधा प्रेम मार्ग उनका भी था। इसलिए प्रेम मे बुद्धि की कतर-ब्योंत उन्हें एकदम पसंद नहीं थी। वह हृदय को सामने करनेवाले और हृदय को प्रभावित करनेवाले कवि थे। उनका विश्वास था कि हृदय की रीझ रानी और बुद्धि उसकी दासी है :—

'रीझ सुजान सची पटरानी बची बुद्धि बावरी ह्वै करि दासी।'

अपने इस अटूट विश्वास के कारण घनानँद ने अपने प्रेम-वर्णन में बुद्धि की काट-छाँट को कहीं भी स्थान नही दिया। इसलिए उन्हें दूती आदि की आवश्यकता का अनुभव नहीं हुआ :—

'जान प्यारे जौऽब कहूँ दीजिए संदेसो तौऽब,
आवाँ सम कीजियै जु कान तिहि काल हैं ॥
नेह भीजी बातैं रसना पै उर-आँच लागें,
जागैं घनआनँद ज्यौं पुँजनि मसाल है ॥'

घनानँद प्रेम की विरह-ज्वाला मे स्वयं जलनेवाले प्रेमी थे। उनकी विरह-वेदना उनकी उपनी विरह-वेदना थी। इस वेदना की निवृति के लिए उन्होंने रीतिबद्ध-कवियो की भाँति न तो अनुमान का सहारा लिया और न कल्पना की ऊँची-ऊँची उड़ाने भरी। उन्होने प्रेम की यथार्थ अनुभूतियों का ही चित्रण किया। इसलिए उनके काव्य में उनकी उक्तियाँ स्वानुभूति निरूपिणि हैं। हृदय से सपृक्त अनूठी-उक्तियाँ बाँधने में वह सर्वोपरि थे। उन्होने जूठी उक्ति का पुनर्विधान अथवा पिष्टपेषण नहीं किया। एक उदाहरण लीजिए :—

'जान प्यारी ! हौं तौ अपराधनि सौं पूरन हौ,
कहा कहौ ऐसी गति, आवत गरो रुक्यौ।
सेइ मरैं सुधा तो सुभाय के मिठास, ताकी
आसा लै दहनि, भै चरन-कंज सौं ढुक्यौ ॥
इते पै जौ रोष कै रसीलो हियो पोढ़ौ करौ,
तौ न कहूँ ठौर जीबे हू को, झगरो चुक्यौ ॥
ऐसे सोच-आँचनि अनंदघन सुखनिधि,
लपट कढ़ै न नेकौ हाहा जात ज्यौ फुक्यौ ॥'

यह है एक वियोगिनी के अंतस का भाव-चित्र ! ऐसे अनेक भाव-चित्र घनानन्द की रचनाओ मे मिलते हैं। एक वियोगनी की यह उक्ति कितनी स्वाभाविक, सजीव, चूटीली और वास्तविक हैं, कहते नहीं बनता :—

'अंग-अंग छाई है उदेग-मुरझानि महा,
साँस लैबो आली ! गिरि हू तें गरुवौ लगै।
जोबन-सरुप-गुन सूल से सलत गात,
तूल तिनका लौ ह्वै गुमान हरुवौ लगै ॥

सुंदर सुजान प्रान प्यारे के निहारे बिन,
दीठि तौ अदीठि-सी, उजार घरुवौ लगै।
और जे सवाद घनआनन्द बिचारै कौन,
बिरह-बिषम-जुर जीबो करुवौ लयै ॥'

एक उक्ति और लीजिए। यह भी एक विरहिणी की युक्ति है। इस युक्ति मे घनानन्द ने विरहिणी की उस ऊँची अतर्दशा का चित्रण किया है जो उसे लौकिक प्रेम के बन्धनों से मुक्तकर अलौकिक प्रेम की ओर अग्रसर करने मे समर्थ होती है :—

'घेर्‌यौ घट आय, अंतराय-पटनि-पट पै,
ता मधि उजारे प्यारे पानुस के दीप हौ।
लोचन-पतंग संग तजै न तौऊ सुजान,
प्रान-हँस राखिबे कौ धरे ध्यान-सीप हौ ॥
ऐसें कहौ कैसें घनआनन्द बताऊँ दूरि,
मन-सिहासन बैठे सुरत-महीप हौ ॥
दीठि आगे डोलौ, जौ न बोलौ, कहा बस लागै,
मोहिं तौ वियोग हूँ मैं दीसत समीप हौ ॥

घनानन्द प्रेमी की अंतर्दशाओं के अत्यन्त सफल चित्रकार हैं। प्रेम की अथाह गहरी घाटियों में जैसी उनकी पहुँच है वैसी हिन्दी के किसी कवि की नही है। उन्होंने सर्वत्र प्रेम का उदात रूप ही ग्रहण किया है। एक विरहिणी अपने प्रिय के प्रति कैसी उदार भावना रखती है, इसे भी घनानन्द के शब्दों मे सुन लीजिए :—

'लगैगी तुम्है हूँ, कहूँ, कबहूँ सनेह-चोट,
मेरी-सी दुहेली पीर अंतर पिरायहौ।
कहा जानौ ऐसो दिन होयगो कबै धौ दैया,
बिषम बिछोह द्यौसरातिहि बितायहौ ॥
छैल ब्रजमोहन छबीले घनआनँदजू,
मोहि फिरि आपनै हू दुखनि दुखायहौ।

तातें तुम सुखी रहौ, हौं ही दहौं, कहौ कब
लपटनि ताती छाती लपटि सिरायहौ ॥'

घनानन्द ने अपने नायिकाओं की विरह-वेदनापूर्ण विविध अंतर्दशाओं के ही चित्र नही उतारे हैं; प्रत्युत उन्होंने उनके आंतरिक उल्लास का भी चित्रण किया है। उदाहरण लीजिए :—

'हरि-नेह-छकी तरुनाई के तेह सु गेह मैं लाज सों काज करै।
मिस ठानि चलै रसिया रहठानि त्यों आनि भटू आँखियान अरै॥
घनआँनँद रूप-अनूप-भरी धरनी पर सूधे न पाय परै।
प्रिय को हिय ताहि लखे अभिलाषनि लाखनि लाखनि भाँति भरै॥'

सुजान से मिलने की लालसा से प्रभावित एक नायिका की स्थिति मे क्या परिवर्तन हो गया है, यह भी देख लीजिए :—

'ललित उमंग-बेली आलबाल-अंतर तें,
आनंद के घन सींची रोम-रोम ह्वै चढी।
अगम-उमाह-चाह छायौ सु उछाह-रङ्ग,
अंग-अग फूलनि दुकूलनि परै कढी॥
बोलत बधाई दौरि-दौरि कै छबीले दृग,
दसा सुभ सगुनौती नीके इन है पढ़ी।
कंचुकी तरकि, मिले सरकि उरज, भुज
फरकि सुजान चोप-चुहल महा बढ़ी॥'

संकेत-स्थल मे एक नायिका अपने प्रिय से मिलकर कितनी आत्म-विभोर हो उठी है, इसका वर्णन भी घनानन्द के शब्दों मे सुन लीजिए :—

'भावती सहेट अंक भरि भेटि संक मेटि,
रंक थाती छाती धरि रहे आप आप कों
निपट अनूठी दसा, हेरत हिरानी बीर!
बानियौ सिरानी, क्यौ बखानियै मिलाप कों॥
आगे कहा बीती, भई तब ही सुरति-रीती,
जैसें सर छूटि न मिलत फिरि चाप कों।

सोभा-रस चाखैं अभिलाखैं हुतीं आँखैं,
घनआनंद उछरि ओछी फूली भूलीं जाप कों ॥'

फागुन मास है। राधा-कृष्ण होली खेल रहे हैं। इस अवसर पर राधा की दशा अवलोकनीय है :—

'खेलत खिलार गुन-आगर उदार राधा,
नागरि छबीली फाग-राग सरसाति है।
भाग-भरे भावते सों औसर फब्यौ है आनि,
आनंद के घन की घमंड दरसाति है॥
औचक्र निसंक्र अंक चाँपि खेल-धूंधरि मैं,
सखिन त्यौ सैननि ही चैननि सिहाति है।
केसू-रंग बोरि गोरे करि स्यामसुन्दर कों,
गोरी स्याम-रंग बीच बूड़ि-बूड़ि जाति है॥'

कृष्ण की रूप-माधुरी और उनकी मुरली की मधुर तान से प्रभावित एक गोपी क्या कहती है, इसे भी सुन लीजिए :—

'छबि सों छबीलो छैल आजु भोर याही गैल,
अति ही रंगीली भाँति औचकही आय गौ।
चटक-मटक भरी, लटकि चलनि नीकी,
मृदु मुसक्यानि देखें मो मन बिकाय गौ॥
प्रेम सों लपेटी कोऊ निपट अनूठी तान,
मो तन चिताय, गाय, लोचन दुराय गौ।
तब तें रही हौं घूमि, झूमि जकि बावरी ह्वै,
सुर की तरंगनि मै रंग बरसाय गौ॥'

घनानन्द ने अपनी रचनाओं मे अधिकांश परकिया-प्रेम का ही चित्रण किया है। शृङ्गार-काल के कवियो की प्रायः यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। उनकी इस प्रवृत्ति का मूल स्रोत है, भक्ति-कालीन कृष्ण-भक्ति-काव्य। कृष्ण-भक्ति-काव्य में परकीया-प्रेम को ही विशेष महत्त्व दिया गया है, स्वकीया-प्रेम के रस-सिक्त स्थानो का सन्निवेश उस में नहीं है। परकीया-प्रेम का क्षेत्र स्वकीया-प्रेम के क्षेत्र की अपेक्षा विस्तृत और आकर्षक होता

हैं। उसमे प्रेमी और प्रिय के बीच अलौकिक सबंध सहज ही स्थापित किया जा सकता है। कृष्ण-भक्तो ने, इसी दृष्टि से, अपनी भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति में राधा के परकीया-रूप की कल्पना की है। उनकी रचनाओं मे कृष्ण नायक और राधिका नायिका हैं। राधा और कृष्ण के बीच उत्पन्न होनेवाले प्रेम पर अलौकिक संबंध का आरोप कर उन्होने परकीया-प्रेम का परिष्कार किया है। घनानद की राधा-कृष्ण विषयक रचनाओं पर कृष्ण-भक्तो की इस प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। अपने प्रेम-काव्य मे उन्होने भी आलबन के रूप मे श्रीकृष्ण और राधा को स्वीकार किया है और परिकाया-प्रेम के परिष्कृत रूप को प्रधानता दी है, पर वह प्रत्यक्ष रूप से कृष्ण-भक्तों के मार्ग पर नहीं चले हैं। लौकिक प्रेम के प्रति उनका इतना अधिक आग्रह है कि वह उसे विस्मृत नहीं कर सके हैं। इसलिए उनके राधा-कृष्ण, भक्त-कवियों के राधा-कृष्ण की भाँति, प्रभु-रूप मे हमारे सामने नही आते, शृंगार के देवता के रूप में हमारे समाने आते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि उन्होने भक्ति की शृंगारमयी रचना का भक्ति वाला अंश त्यागकर आवरण के रूप मे ही भक्ति को अपनाया है और इस प्रकार उन्होने अपनी संपूर्ण रचनाओं में लौकिक प्रेम-प्रसंगों को ही प्रधानता दी है। विशेषता यह है कि उन्होने लौकिक प्रेम-प्रसंगों के वर्णन में आचार-निष्ठता का पूरा ध्यान रखा है। उनकी परकीया की युक्तियाँ शृगार-कालीन भावधारा से प्रभावित होने पर भी स्वकीया की उक्तियो-सी गंभीर, परिष्कृत और संयत हैं।

घनानद ने परकीया की युक्तियो के साथ-साथ खंडिता की युक्तियों को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। रीतिबद्ध-कवि दरबारी कवि थे। उन्हे अपने आश्रयदाताओ का मनोरंजन करना पड़ता था। इसलिए वे परकीया के हृदगत भावो के साथ खडिता के उद्‌गारो की भी चर्चा करते थे। घनानंद के सामने यह समस्या तो नहीं थी, पर प्रेम-वैषम्य के कारण वह खंडिता की उपेक्षा न कर सके। प्रेम की गंभीरता पर उनकी आरंभ से ही दृष्टि थी, इसलिए उन्होने खंडिता को उस रूप मे प्रस्तुत नही किया जिस रूप में रीतिबद्ध-कवि उसे अपना चुके थे। रीतिबद्ध-काव्य में

खडिता की दृष्टि सपत्नी के संसर्ग से उपलब्ध नायक के शरीर पर के चिह्नो पर ही रहती थी। इसलिए उन चिह्नो के वर्णन मे ही रीतिबद्ध-कवि अपनी सारी शक्ति लगा देते थे। खडिता के हृदगत भावों की वे थाह नहीं लेते थे। अतस का चित्रकार होने के कारण घानन्द ने खडिता के चित्रण मे रीतिबद्ध-कवियों की यह शैली नहीं अपनाई। उन्होने खंडिता का हृदय खोलने की चेष्टा की है और अपनी इस चेष्टा में उन्होंने प्रेम के उदात्त रूप को ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए उनका यह छंद लीजिए :—

'जान प्यारे नागर अनूप गुन-आगर,
उजागर सुजागर विलास-रसमसे हौ।
नवल-सनेह-साने, आरसनि सरसाने,
विधिना बनाय बाने अंग-अङ्ग लसे हौ।
छबि-निखरे ह्वै खरे नीकेई लगत मोहिं,
आनन्द के घन गूढ गाँसनि सों गसे हौ।
भोर भएँ आए भाँति भाँति मेरे मन भाए,
एहो घरबसे राति कौन घर बसे हौ॥'

हाव-भाव और मुद्राओ के चित्रण मे भी घनानंद को पूरी सफलता मिली है। विशेषता यह है कि इन शारीरिक चेष्टाओ के चित्रण के साथ-साथ उन्होंने परोक्ष रूप से हृद्‌गत भावो को भी स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए उनका यह शब्द-चित्र लीजिए जिसमे एक नायिका घूँघट की ओट से अपने नायक को अपने कटीले कटाक्षों से घायल कर रही है :—

'घूँघट-ओट तकै तिरछी घनआनंद चोट सु घात बनावै।
बाँह उसारि सुधारि बरा बर बीर! छुरा धरि छ्वकति आवै॥
कौंधि अचानक चौंधि भरै चख, चौकस चौकति छाँह न छ्वावै॥
बाल अनूठियै ऊठि गुलाल की मूठि मै ललाहि मूठि चलावै॥'

नेत्र-व्यापार की उक्तियाँ प्रायः सभी प्राचीन काव्यों मे पाई जाती हैं। भक्त, रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त—सभी कवियों ने नेत्रो पर उक्तियाँ

बाँधी हैं। घनानंद इस क्षेत्र में भी किसी से पीछे नहीं है। नेत्र-व्यापार संबधी उनकी यह उक्ति लीजिए :—

'आड न मानति चाड-भरी उघरी ही रहै अति लाग-लपेटी।
ढीठि भई मिलि ईठि सुजान, न देहि क्यों पीठि जु दीठि सहेटी॥
मेरी ह्वै मोहिं कुचैन करै, घनआनंद रोगिनि लौं रहै लेटी।
ओछी बडी इतराति लगी मुँह, नेकौ अवाति न आँखि निपेटी॥'

इसी सिलसिले में नायिका के उदर के सम्बन्ध मे भी घनानन्द की एक उक्ति सुन लीजिए :—

'चलदल-पात की प्रभा को है निपात जाते,
यातें बाय बावरो ह्वै डराय काँपिबो करै।
थोरे थिर गुन मैं बिराजै बीचि आभा ऐन,
नैन हेरें हेरनि हिये मैं भूख लै भरै॥
नेकौ सनमुख भएँ दीजै सब तन पीठि,
नीठि हाथ लागै मन पायन कहूँ परै।
ताकैं तो उदर घनआनद सुजान प्यारी,
ओछी उपमान को गरूर ओरे लौं गरै॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि घनाआनंद ने अपने शृङ्गार-काव्य में प्रेम की विविध अंतर्दशाओ के चित्रण के साथ-साथ उन स्थूल विषयो को भी यत्र-तत्र स्थान दिया है जिनके ऊहात्मक वर्णन मे रीतिबद्ध-कवियों ने अपनी काव्य-प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। उनकी काव्य-सामग्री रीतिकालीन ही है, पर उसका उपयोग उन्होंने रीति-कालालीन काव्य-परम्पराओ से मुक्त होकर किया है। उनकी कुछ रचनाएँ ऐसी अवश्य हैं जो हमे उनको रीतिबद्ध-कवियो की पंक्ति मे बैठाने के लिए उत्प्रेरित करती है; परन्तु इस प्रकार की चेष्टा करना हमारी भूल होगी। इसके दो कारण हैं : पहला तो यह कि उनकी उक्त रचनाएँ सख्या में कम हैं और दूसरा यह कि वे उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ हैं। अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति के कारण वह न तो रीतिबद्ध-काव्य-धारा के बँधे-बँधाए शास्त्रीय मार्ग पर चल सके हैं और न अपनी भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति में कृष्ण-भक्त-कवियों की

शैली पूर्णतः अपना सके हैं । उन्होंने इन दोनो मार्गों के बीच से दोनों को स्पर्श करता हुआ अपना स्वतन्त्र मार्ग निकाला है और उस पर ही वह चलते रहे हैं। यही कारण है कि उनके काव्य में हमें तीन धाराएँ, कहीं तो पृथक-पृथक रूप में और कहीं मिल-जुलकर एक रूप में प्रवाहित होती दीख पड़ती हैं। उनके काव्य की पहली धारा का उत्स रीति-काव्य है। इस धारा में अवगाहन कर उन्होंने अपनी वाणी को शुद्ध साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न मात्र किया है। उनके काव्य की दूसरी धारा का उत्स उनका अपना हृदय है। इस धारा मे पडकर ही उन्होने रीतिबद्धकाव्य-धारा का त्याग किया है और स्वच्छन्द रूप से प्रेम की विविध अंतर्दशाओ का चित्रण किया है। इसलिए उनकी इस धारा की रचनाएँ ही उनका प्रतिनिधित्व करती हैं। उनके काव्य की तीसरी धारा का उत्स भक्ति कालीन कृष्ण-भक्ति-काव्य है। वह राधा-तत्व-प्रधान निंबार्क-सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। इसलिए उन्होने अधिकाश राधा का ही गुणगान किया है। इस दृष्टि से 'प्रेम-पत्रिका', 'व्रज-विलास', 'प्रेम-पद्धति', 'वृषभानपुर-सुषमा-वर्णन' 'गोकुल-गीत', 'नाम माधुरी', 'दान-घटा', 'यमुना-यश', 'कृष्ण-कौमुदी', 'प्रिया-प्रसाद' आदि उनकी रचनाएँ भक्तिपरक हो उठी है। इन रचनाओ मे निंबार्क-सम्प्रदाय से सम्बन्धित जीवन-दर्शन की व्याख्या नहीं है। घनानंद उन्मुक्त प्रेम के गायक थे। इसलिए उन्होने अपनी इन रचनाओं मे भी प्रेम की ही चर्चा की है। कृष्ण की मुरली को भी वह नही भूले हैं। 'मुरलिका-मोद' मे तो कृष्ण की मुरली का ही बखान किया गया है। 'पदावली' के भी अनेक पद मुरली से संबधित है। उदाहरण लीजिए :—

'मुरली मेरेई गुन गावै।
सुनि री सखी स्यामसुन्दरि क्यौं न महारस पावै ॥
हौं ही भई बाँसुरी उनकी याही तें अति भावै।
अतुल प्रेम के भेद-भाव को यौं कहि कौन सुनावै ॥'

× × ×

'बँसुरिया सौति तें अधिक दहै।
बन घन लियें फिरति मोहन को यह गति कौन कहै ॥'

× × ×

'मुरली कुंजनि बाजि रही ।
ब्रजमोहन कों इकौसें लैकै मुख-सुख साजि रही ॥
हौं ह्याँ झुरति चुरति घर घेरी साँसनि लाजि रही ।
आनंदघन बस करि गरबीली निसिदिन गाजि रही ॥'

घनानद ने अपनी 'पदावली' मे उन सभी विषयो की, कहीं विस्तार से और कही संक्षेप मे, चर्चा की हैं जिनका सूर ने अपने 'सूर-सागर' में सौ-सौ तरह से बखान किया है। परन्तु इस कारण जहाॅ सूर कृष्ण-भक्तो की श्रेणी में आते है वहाॅ हम घनानद को उस श्रेणी मे स्थान नहीं दे सकते। उनके काव्य का प्रधान क्षेत्र है स्वच्छंद प्रेम, भक्ति नहीं। विनय आदि के रूप मे उनकी जो थोड़ी-सी रचनाएॅ यत्र-तत्र दिखाई देती हैं उन्हे ही हम शुद्ध शांत रस के अन्तर्गत स्वीकार कर सकते हैं। उदाहरण के लिए निम्न पद लीजिए :—

'तिहारे कौन-कौन गुन गाऊँ ।
इन अपने अनेक औगुन पै तुमहि दयालै पाऊँ ॥'

× × ×

'मोंहि भरोसो है हरि-हित को ।
जाहि सुमिरि बिसरै चित-चिंता सुभदायक नित-नित को ॥
ताकर सौपि लोक-परलोकहि तज्यौं सोच इत उत को ।'

× × ×

गोपाल भरोसे सोइयै ।
जागि-जागि भ्रम भूलि सोच मैं क्यौं यह अवसर खोइयै ॥
जो कुछ उन्हें सुहाइ सोई भई, होति है, होइयै ।
आनंदघन सों चातक-पन गहि परम प्रेम-रस भोइयै ॥'

यही है घनानंद का काव्य-सौष्ठव और इस काव्य-सौष्ठव के कारण ही वह हिन्दी के रीतिमुक्त-कवियो मे सर्वप्रथम स्थान के अधिकारी है।

(४) बाह्य दृश्य चित्रण—घनानंद ने अपनी रचनाओ मे नारी के अन्त: सौन्दर्य का चित्रण करने के साथ-साथ बाह्य दृश्यो के सौन्दर्य की भी

झाँकिया उतारी हैं। बाह्य दृश्यो के अन्तर्गत सामान्यतः रूप, नख-शिख, प्रकृति, नगर, हाट, उत्सव, रीति-रिवाज, त्योहार, गढ़, सेना आदि को स्थान दिया जाता है। घनानंद ने अपने बाह्य दृश्य के विधान में प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल रूप और प्रकृति को प्रमुख स्थान दिया है। रूप और प्रकृति के चित्रण मे उनकी शैली प्रायः रीतिबद्ध-कवियों की शैली से प्रभावित है। विशेषता यह है कि उन्होने रीतिबद्ध-काव्य से प्राप्त प्रभावों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया है। अपनी रुचि और प्रतिभा के अनुसार उन्होंने उनमें परिवर्तन किया है। इससे उनका वस्तु-वर्णन नितात स्थूल एवं मासल होने के बजाय कुछ सूक्ष्म हो गया है। रूप-वर्णन का एक उदाहरण लीजिए :—

'रूप-गुन आगरि, नवेली नेह-नागरि तू,
रचना अनूपम बनाई कौन बिधि है।
चलनि, चितौनि बंक भौहानि चपल हौनि,
बोलनि रसाल मैन-मंत्र हू कौं सिधि है॥
अंग-अंग केलि-कला-संपति-विलास घन—
आनंद उज्यारी-मुख सुख-रङ्ग-रिधि है।
जब-जब देखियै, नई-सी पुनि पेखियै यौं,
जानि परी जान प्यारी निकाई की निधि है॥'

नीली साड़ी पहने हुए एक नायिका के शारीरिक सौन्दर्य का यह चित्र लीजिए :—

'स्याम घटा लपटी थिर बीज कि सोहै अमावस-अंक उज्यारी।
धूप के पुन्ज मैं ज्वाल की माल-सी, पै दृग-सीतलता-सुखकारी॥
कै छबि छायौ सिंगार निहारि सुजान-तिया-तन दीपति प्यारी।
कैसी फबी घनआन्द चोपनि सों पहिरी चुनी साँवरी सारी॥'

घनानद ने अपने वाह्य दृश्यों के विधान मे नख-शिख का वर्णन रीतिबद्ध-कवियों की भाँति क्रमानुसार नही किया है। फिर भी उनके काव्य में यत्र-तत्र तत्संबंधी कुछ रचनाएँ मिल जाती हैं। नायिका के नेत्र के सम्बन्ध में उनकी यह उक्ति लीजिए :—

'रूप-गुन-मद-उनमद नेह-तेह-भरे,
छल-बल आतुरी चटक-चातुरी पढे।
घूमत घुरत अरबीले, न मुरत क्यौं हूँ,
प्रानन सों खेलैं अलबेले लाड के बढ़े ॥
मीन-कंज-खंजन-कुरङ्ग-मान भंग करैं,
सींचे घनआनन्द खुले सँकोच सों मढे।
पैने नैन तेरे-से न हेरे मैं अनेरे कहूँ,
घाती बड़े काती लिए छाती पै रहैं चढे ॥'

अब नायिका की कमर के संबंध में भी उनकी कल्पना का चमत्कार देखिए :—

'रूप धरे धुनि लौं घनआनँद सूझति बूझ की दीठि सुतानौ।
लोयन लेत लगाय कै संग, अनंग अचंभे की मूरति मानौ ॥
है किधौ नाहिँ लगी अलगी-सी, लखी न पैर कबि क्यौ हूँ प्रभानौ।
तो कटि-भेदहि किंकिनि जानति तेरी सौं ऐरी सुजान हौं जानौं ॥'

नारी-सौंदर्य के वर्णन मे रीतिबद्ध-कवियों ने अपनी काव्य-प्रतिभ का जी भर कर उपयोग किया है। उन्होंने उसके नग्न और वासनामय चित्र ही उतारे है। घनानंद का नारी-सौंदर्य के प्रति आकर्षण अवश्य है, पर उन्होने अपने उस आकर्षण को विकृत रूप में प्रस्तुत नही किया है। इसलिए उनका रूप-वर्णन अत्यन्त स्वस्थ, संयत, परिष्कृत और सात्विक है। किसी नायिका के रूप-सौंदर्य का चित्र उतारते समय वह उसके आकर्षण के प्रवाह में न बहकर सजग रहे हैं। इस कारण उन्होने उसमें विकृत-दोष उत्पन्न होने के पूर्व ही उसके परिष्कार की सुन्दर एव सफल योजना की है। उदाहरण के लिए उनका यह छन्द लीजिए :—

'हुलास-भरी मुसकानि लसै, अधरानि तें आनि कपोलनि जागै।
छुटीं अलकैं मृदु मंजु मिहीं स्रु तिमूल छलानि अनी मुरि लागै ॥
बड़ी अँखियानि मैं अंजन-रेख, लजीली चितौनि, हियो रस पागै।
सुहाग सों ओपित भाल दिपै, घनआनँद जान पिया अनुरागै ॥'

घनानंद के इस सवैये मे नारी के माँसल सौंदर्य का ही चित्र

नहीं हैं, उसके अंतः सौंदर्य का भी चित्र उतारा गया है। इसके अतिरिक्त अंतिम पंक्ति-द्वारा उसका परिष्कार भी किया गया है। यही उनके नारी-सौंदर्य-वर्णन की विशेषता है और अपनी इसी विशेषता के कारण वह रीतिबद्ध-काव्य-परंपरा से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी उससे मुक्त दिखाई देते हैं।

घनानंद ने अपने वाह्य दृश्य चित्रण मे प्रकृति-वर्णन को भी स्थान दिया है। उनकी रचनाओ मे प्रकृति के तीन रूप दिखाई देते हैं :—

(१) उद्दीपन के रूप मैं प्रकृति।

(२) संवेदनात्मक रूप में प्रकृति।

(३) दूत के रूप में प्रकृति।

उद्दीपन के रूप मे प्रकृति का चित्रण रीतिबद्ध-काव्य की विशेषता है और इस विशेषता से घनानंद प्रभावित हैं। रीतिबद्ध-कवियों की भाँति उन्होंने भी प्रकृति का अपनी आँखों से निरीक्षण-परीक्षण नहीं किया है। इसलिए उद्दीपन के बधन को तोडकर चलने का प्रयास वह नहीं कर सके हैं। उन्होंने भी शृगार के संयोग और वियोग, दोनों पक्षों के वर्णन में प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत स्थान दिया है। प्रकृति के उद्दीपन विभाव का संयोग पक्ष मे यह वर्णन लीजिए :—

'ब्रज की छबि हेरि हरयौ हित होत, खिली मिलि जूथनि जूथ जुही।
घन घोरि घुरे चहुँ ओरनि तें बरसैं, परसैं, सरसैं सु फुही॥
तिहि कुंजन मै रसपुँज भरे बिहरैं हरि-राधिका चोप उही।
घनआनंद नैन-पपीहन कौ नित ही रसरासि रहौ समुही॥'

घनानंद विरह-वेदना के कवि हैं। इसलिए सयोग के चित्रण में उनकी प्रकृति का वह शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक रूप नहीं लक्षित होता जो वियोग के चित्रण मे दिखाई देता है। वियोग मे विरहिणी की अन्तर्दशाओं को प्रकृति किस प्रकार उद्दीप्त करती है, इसे समझने के लिए निम्न उदाहरण लीजिए :—

'कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढति री;
कूकि-कूकि अब ही करोजो किन कोरि लै।'

× × ×

'लहकि-लहकि आवै ज्यौं-ज्यौं पुरवाई पौन,
दहकि-दहकि त्यौं-त्यौं तन ताँवरे तचै ॥'

× × ×

'कहा कहियै सजनी! रजनी-गति, चँद कढे कि जियैं गहि काढ़ै ।
अमी-निधि पै विष-सार स्रवै, हिम-ज्योति जगाय कै अंगनि डाढै ।
सु या पति-संग न जानत है घनआनंद जान-बिछोह की गाढ़ै ॥
वियोग में बैरिनि बाढति जैसी; कछू न घटै, जु संजोग ही बाढ़ै ॥'

× × ×

'वेई कुँज-पुँज जिस तरैं तन बाढ़त हो,
तिन छाँह आएँ अब गहन-ज्यौं गहि गौ ।
सुरति-सुजान-चैन-बीचिन सों सीचीं जिन,
वही जमुना, पै आली! वह पानी बहि गौ ॥
वहै सुख-स्रम-स्वेद-समै को सहाय पौन,
ताहिँ छियेँ देह, दैया महादुख दहि गौ ।
वेई घनआनँदजू जीवन कौं देते, तिन-
ही को नाम मारिनि के मारिबे को रहि गौ ॥'

× × ×

'फैलि परी धर-अंबर पूरि, मरीचिनि-बीचिनि-संग हिलोरति ।
भौंर-भरी उफनाति खरी, सु उपाय की नाव तरेरति तोरति ॥
क्यौं बचिये भजि हूँ घनआनँद बैठि रहैं घर पैठि ढँढोरति ।
जोन्ह प्रलै के पयोनिधि लौ बढि बैरिनि आज बियोगिनि बोरति ॥'

× × ×

'ललित तमालनि सों बलित नवेली बेलि'
केलि-रस झेलि हँसें लह्यौ सुखसार है ।
मधुर बिनोद स्वेद-जलकन मकरंद,
मलय समीर सोई मोद उदगार है ॥

बन की बनक देखें कठिन बनी है आनि,
बनमाली दूर आली ! सुनै को पुकार है ।
बिन घनआनन्द सुजान अँग पीरे परि,
फूलत बसंत हमैं होत पतझार है ॥'

घनानन्द की प्रकृति जहाँ वियोग मे विरहिणियो को उद्वेलित करती है वहाँ वह उसके प्रति संवेदनशील भी है । सूफी काव्य से प्रभावित प्रकृति का यह सवेदनात्मक रूप घनानन्द के काव्य की विशेषता है :—

'बिकल बिषाद-भरे ताही की तरफ तकि,
दामिनि हूँ लहकि-बहकि यौं जर्‌यौ करै ।
जीवन-अधार-पन-पूरित पुकारनि सों,
आरत पपीहा निति कूकनि कर्‌यौ करै ॥
अथिर उदेग-गति देखि कै अनंदघन,
पौन बिडर्‌यौ-सो बन-बीथिनि रर्‌यौ करै ।
बूँदैं न परतिं, मेरे जान जान प्यारी ! तेरे
बिरही कों हेरि मेघ आँसुनि झर्‌यौ करै ॥'

घनानन्द ने अपने विरह-काव्य मे प्रकृति को दूत के रूप में भी प्रस्तुत किया है । कालिदास के मेघ-दूत से प्रभावित होकर उन्होंने पवन और मेघ-द्वारा अपने प्रिय के पास सदेश भेजा है । पवन से उन्होंने प्रार्थना की है :—

'बिरह-बिथाहि मूरि, आँखिन मैं राखौं पूरि;
धूरि तिन पायन की हा हा ! नैकु आनि दै ।'

और मेघ से उन्होंने कहा है :—

'घनआनन्द जीवनदायक हौ, कछु मेरियौ पीर हियै परसौ ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुआन कौ लै बरसौ ॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि घनानन्द के प्रकृति-वर्णन में पर्याप्त नवीनता है । रीतिबद्ध-कवियो की काव्य-परम्परा का पालन करते हुए भी उन्होंने अपनी प्रकृति को जितने रूपो में जिस ढंग से चित्रित किया है उससे उनकी स्वच्छंद प्रियता और काव्य-प्रतिभा का ययेष्ट परिचय मिलता है ।

घनानंद की रस-योजना

घनानन्द की रचनाओ के सबध में अब तक जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि वह हिन्दी के रसवादी कवि है। परन्तु अन्य रसवादी कवियों की भॉति उन्होने रस के सभी भेदो के परिपाक मे अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय नही दिया है। उन्होने मुख्यत. दो रस अपनाएँ है : (१) **शृङ्गार** और (२) **शान्त**। इन्ही दोनो रसो के परिपाक मे उनकी काव्य-प्रतिभा का चमत्कार दिखाई पडता है। शृङ्गार उनके काव्य का मुख्य विषय है। इसके दो पक्ष होते हैं : (१) **संयोग** और (२) **वियोग**। घनानन्द ने अपनी रचनाओ मे वियोग को ही मुख्य स्थान दिया है। संयोग-पक्ष मे बहिर्वृत्ति की प्रधानता होती है और वियोग-पक्ष मे अतर्वृत्ति की। वस्तुतः वियोग से ही शृङ्गार का संयोग-पक्ष पुष्ट और स्थायी होता है। इसीलिए साहित्य-शास्त्रियो ने संयोग की पुष्टि के लिए वियोग की अनिवार्यता स्वीकार की है। साहित्य-दर्पणाकार का कहना है कि शृङ्गार की पुष्टि वियोग शृङ्गार के बिना हो ही नही सकती। जिस प्रेमी ने वियोग की पीड़ा नही सहन की वह संयोग का आनन्द नही उठा सकता। विरही ही सच्चा प्रेमी होता है और वही प्रेम का रहस्य समझता है। विरह मे तड़पने और सिसकने से उसका प्रेम सात्विक रूप धारण कर लेता है। यही वियोग की विशेषता है। घनानन्द ने अपने काव्य मे विरह की इस विशेषता का सर्वत्र निर्वाह किया है।

घनानन्द की विरह-वर्णन सम्बन्धी रचनाएँ दो प्रकार की है : (१) **आत्मव्यंजक** और (२) **परव्यंजक**। उनकी आत्म-व्यंजक वे रचनाएँ है जिनमे उन्होंने अपनी अनुभूतियो का ही चित्रण किया है। 'विरह-वर्णन' के अन्तर्गत हम उनकी ऐसी रचनाओ के अनेक उदाहरण दे चुके हैं। इसलिए पाठको की सुविधा को दृष्टि मे रखते हुए यहाँ एक ही उदाहरण देना अलम होगा :—

'लगी है लगनि प्यारे पगी है सुरति तो सों;
जगी है बिकलताई ठगी-सी सदा रहौं।
जियरा उड़्यौ-सो डोलै हियरा धक्यौई करै,
पियराई छाई तन, सियराई दौ दहौं॥

ऊनो भयौ जीवो, अब सूनो सब जग दीसै,
दूनो-दूनो दुख एक-एक छिन मैं सहौं।
तेरे तौ न लेखो, मोहिं मारत परेखो महा,
जान घनआनँद पै खोइबौ लहा लहौं॥

घनानंद के आत्म-व्यञ्जक विरह-वर्णन मे 'प्रेम के पीर' की घनीभूतता अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है। इसीलिए वह पाठक के हृदय को प्रभावित करने में सफल है। परन्तु उनकी परव्यंजक रचनाएँ इस टक्कर की नही हैं। उनमे प्रायः शृंगार-कालीन रीतिबद्ध-परपरा का पालन किया गया है। एक उदाहरण लीजिए :—

'भोर तें साँझ लौं कानन ओर निहारति बावरी नेकु न हारति।
साँझ तें भोर लौं तारनि ताकिबो तारनि सों एकतार न टारति॥
जौ कहूँ भावतो दीठि परै घनआनँद आँसुनि औसर गारति।
मोहन सोहन जोहन की लगियै रहै आँखिन कै उर आरति॥'

एक नायिका के प्रमोन्दमाद का वर्णन भी ठीक इसी प्रकार का है। इसमें प्रेम होने और प्रेत लगने की दशा का एकीकरण शास्त्रीय परंपरा के अनुसार ही किया गया है :—

'खोइ दई बुधि, सोइ गई सुधि, रोय हँसै उनमाद जग्यौ है।
मौन गहै, चकि चाकि रहै, चलि बात कहै, तन दाह दग्यौ है॥
जानि परै नहिं जान! तुम्है लखि ताहि कहा कछु आहि खग्यौ है।
सोचनि ही पचियै घनआनँद, हेत पग्यौ किधौं प्रेत लग्यौ है॥'

एक सवैया और लीजिए जिसमे विरह को फाग का रूप देकर काव्य में अनोखा चमत्कार उत्पन्न किया गया है :—

'रंग लियौ अबलानि के अंग तें, च्वाय कियौ चित चैन को चोवा।
और सबै सुख सोंधे सकेलि मचाय दियौ घन आनँद ढोवा॥
प्रान अबीरहि फेंट भरे अति छाक्यौ फिरै, मति की गति खोवा।
स्याम सुजान बिना सजनी! ब्रज यौं बिरहा भयौ फाग बिगोवा॥'

स्पष्ट है कि घनानन्द की ऐसी रचनाओं मे प्रेम की वह टीस, वह तड़पन और वह कसक नही है जो उनकी आत्मव्यंजक रचनाओं का शृङ्गार

है। इसलिए उनकी अधिकांश पर-व्यंजक रचनाएँ रीतिबद्ध काव्य-परंपरा के अन्तर्गत ही आती है। ऐसी रचनाओ में उनके हृदय की अपेक्षा उनका मस्तिष्क ही अधिक बोलता हुआ सुनाई पड़ता है। इस बात को और भी अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए उनकी यह रचना लीजिए जिसमें विरह ने फाग मचा रखा है :—

'घर ही घर चौचंद-चाँचरि दै, बहु भाँतिन रंग रचाय रह्यौ ।
भरि नैन हियै हरि सूझि सम्हार सबै करि नाक नचाय रह्यौ ।।
घनआनँद पै ब्रज-गोरिन कों नख तैं सिख लौ चरचाय रह्यौ ।
लखि सूनो सकै कित रावरो ह्वै, बिरहा नित फाग मचाय रह्यौ ।।'

घनानन्द ने संयोग-शृङ्गार मे भी कुछ रचनाएँ की हैं, परन्तु इस क्षेत्र मे उनकी काव्य-वृत्ति नहीं रमी है। लगता है, उन्होंने काव्य-परंपरा का निर्वाह करने के लिए ही यत्र-तत्र इस दिशा मे अपनी सहज काव्य-प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। होरी खेलनेवाली एक नायिका का यह चित्र देखिए :—

'नई तरुनई भई, मुख आछी अरुनई,
सरद-सुधाधर उदोत-आभा रद की ।
अंग अति लोनी लसै, ललित तिलोनी सारी,
भाग भरे भाल दिपै बेंदी मृगमद की ।।
बोलै हो-हो होरी घनआनँद उमंग-बोरी,
छैल-मति छकै-छबि हेरैं रदछद की ।
रोरी भरि मूठी गोरी-भुज उठी सोहै मनौ,
पराग सों रली भली कली कोकनद की ।।'

राधा-माधव के संयोग का यह चित्र भी दर्शनीय है :—

'राधा माधौ बिहरैं बन मैं ।
हरी-भरी कुँजनि जमुना-तट फूले-फूले मन मैं ।।
मदन केलि-सुख-पगे जगमगे, जगी तरुनई तन मैं ।
अरस-परस तन बन परसत आनँदघन भीजे पन मैं ।।'

भक्ति-भावना से प्रभावित होने के कारण घनानन्द ने शान्त रस के

परिपाक में भी अच्छी सफलता प्राप्त की है। इस दृष्टि से उनके पद अत्यन्त सुन्दर हैं। शान्त रस का **स्थायी भाव** 'शम' अथवा सासारिक विषय-वासनाओं के प्रति उदासीनता का भाव 'निर्वेद' है। महापुरषों और तीर्थों के दर्शन, संसार की असारता आदि इसके **आलंबन विभाव**; साधु-सत्संग, रमणीय एकान्त वन, पवित्र आश्रम आदि इसके उद्दीपन-विभाव; रोमांच, पुलकावली, अश्रु-विसर्जन आदि इसके **अनुभाव** और धृति, मति, हर्ष, स्मरण आदि इसके **संचारी भाव** हैं। घनानन्द ने इन सबको अपने शान्त रस के परिपाक मे उचित स्थान दिया है। एक उदाहरण लीजिए :—

'सुमिरि मन हरि-पद साँचौ रे।
झूठैं राचि बृथा कित धावै डगमग खाँचौ रे॥
सुथरो सुथिर जहाँ नहिं पहुँचत माया नाँचौ रे।
कृपा-गुनहिं गहि क्यों न, ज्यौं न लागै भ्रम लाँचौ रे॥
अति अखण्ड आनँदघन दरसैं पुरति न आँचौ रे।
तिहि रस सरिस होत किन कबहूँ जड रोमाँचौ रे॥'

'पदावली' मे घनानंद की कुछ ऐसी रचनाएँ भी मिलती हैं जिनमें **वात्सल्य रस** पाया जाता है। बडो का छोटो के प्रति जो स्नेह होता है वही इसका **स्थायी भाव** है। भाई, बहन, पुत्र, पुत्री आदि इसके **आलंबन विभाव**; शिशुओं आदि की मनोहर चेष्टाएँ इसके **उद्दीपन विभाव**; बालको को गोद मे लेना, उन्हे पालने मे झुलाना, उन्हे चूमना आदि इसके **अनुभाव** और हर्ष, गर्व, स्मरण आदि इसके **संचारी भाव** हैं। इस सबध में घनानद की रचनाओं से एक उदाहरण लीजिए :—

'आए बन तें गोपाल जसोमति आरती उतारै।
राई-नौन वारि-वारि तिनुका तोरि डारै।
आँचर तें उमगि-उमगि उचलति दूध-धारै।
मोद-मगन मैया मन छैया-छबि निहारै।
बदन चूमि, हिय लगाइ, मंदिर लै पधारै।
ताते जल पाय पखारि गोद मै बैठारै।

मधुर मोदक जननी-कर कछुक मुख जु ढारै ।
आनंदघन हित घमँडनि कहाँ लौ बिचारै ।।'

यह पद भी लीजिए जिसमे राधा-माधव, दोनो को यशोदाजी एक पालने में झुला रही हैं :—

'एक पालनैं झुलावति जसुमति कीरति कुँवरि आपनैं लालै ।
कही न परति अति आनंद की गति, वारि देत मनि-मोतिन-मालै ।
ओढ़ि-ओढि आँचर बिधना पै माँगत कुसर प्रीति-पन पालै ।
उनै-उनै बरसौ आनंदघन गोकुल रावलि करत निहालै ।।'

घनानद की अलंकार-योजना

हम अभी बता चुके है कि घनानंद हिन्दी के रसवादी कवि थे। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि उन्होने अपने काव्य के कला-पक्ष पर ध्यान नहीं दिया। इसमे शक नहीं कि वह रसवादी थे, परन्तु रसवादी होते हुए भी वह काव्य मे कला-पक्ष के पूर्ण समर्थक और उसमे स्वाभाविक ढंग से उसका समावेश करने के पक्षपाती थे। रीतिबद्ध-कवियो की भाँति उन्होने अपने काव्य मे रीतियो का अनुचित प्रयोग नही किया। अपने काव्य मे अलंकारो तथा शब्द-शक्तियो का प्रयोग वह उसी सीमा तक उचित समझते थे जिस सीमा तक उनसे भावो के उतार-चढ़ाव मे बाधा नहीं पड़ती थी। तात्पर्य यह कि कला-पक्ष के निरूपण मे उनका मुख्य लक्ष्य था—भावो को उत्कृष्ट बनाना और उन्हे तीव्रतर करना। इसके लिए एक कवि में जिन गुणो का होना परम आवश्यक है वे सभी गुण उनमें विद्यमान थे। वह अपनी अनुभूतियो के सच्चे चित्रकार थे और एक सफल चित्रकार की भाँति वह उन सभी उपकरणो से काम लेते थे जिनसे चित्र में सजीवता और नवीनता आती है। इसलिए हम उनके काव्य मे कला-पक्ष का वह समृद्धशाली रूप नही पाते जिसके कारण रीतिबद्ध-कवियो की रचनाएँ केवल बौद्धिक और निष्प्राण कही जाती है। काव्य मे कला-पक्ष की एक सीमा होती है। जब तक कला अपनी सीमा के भीतर रहती है तब तक वह रसोत्कर्ष मे शक्तिशाली माध्यम का काम देती रहती है, किंतु ज्योंही वह अपनी सीमा का उल्लंघन कर भावो पर नियंत्रण करने लगती है त्योंही काव्य का भाव-

सौंदर्य नष्ट हो जाता है और वह अपने अभीष्ट प्रभाव को चरितार्थ करने में विफल हो जाता है। घनानंद का सपूर्ण काव्य भाव-प्रधान है और उसमें प्रयुक्त अलंकार अपनी सहज चमक-दमक से भावों के आन्तरिक सौदर्य को उभारने और उन्हे निखारने मे सफल हैं।

घनानद ने अपनी अलंकार-योजना मे (१) **समतामूलक** और (२) **विरोधमूलक,** दोनो प्रकार के अलकारों को स्थान दिया है, परन्तु समता-मूलक अलंकारो की अपेक्षा विरोधमूलक अलकारों के प्रति उनकी विशेष रुचि है। इस क्षेत्र मे हिन्दी का कोई कवि उनसे टक्कर नहीं ले सकता। उनकी रचनाओ मे सैकडों ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें विरोध और विरोधाभास द्वारा विरहानुभूति को तीव्रतर बनाने का सफल प्रयास किया गया है। एक उदादरण लीजिए :—

'यह नेह तिहारो अनोखो लग्यौ जो पर्यौ चित्त रूखो सबै तन हीं।
बिसरै छिन जों सु करै सुधि तो, गुन-माल बिसाल गुनै गन ही॥
हित-चातिक-प्रान, सजीवान जान! रचे बिधि आनंद के घन ही।
दरसौ, परसौ, बरसौ, सरसौ, मन लै हू गए पै बसौ मन ही॥'

उक्त सवैये मे घनानद ने अपनी सहज काव्य-प्रतिभा से 'नेह' और 'रुखो', 'बिसरै' और 'सुधि', 'मन लै हू गए' और 'बसौ मन ही' आदि विरोधी-शब्दो के प्रयोग-द्वारा जो चमत्कार उत्पन्न किया है वही उनके काव्य का सर्वस्व है।

एक उदाहरण और लीजिए जिसमे विरोधाभास-द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि काले बादलो को देखकर अन्य अग्नि की उष्णता मिट जाती है, पर घनश्याम (श्री कृष्ण) को देखकर प्रेमाग्नि भभक उठती हैं:—

'जेतो घट सोधौं, पै न पाऊँ कहाँ आहि सो धौं,
को धौं जीव जारै अटपटी गति दाह की।
धूम कों न धरै, गात सीरो परै ज्यौं-ज्यौं बरै,
ढरै नैन नीर बीर! हरै मति आह की॥
जतन बुझै है सब जाकी झर आगें, अब
कबहूँ न दबै भरी भभक उमाह की।

जब तें निहारे घनआनँद सुजान प्यारे,
तब ते अनोखी आगि लागि रही चाह की ।।'

इसी प्रकार के कुछ और सुन्दर उदाहरण लीजिए जिनमे घनानद की विरहानुभूति अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है :—

(१) 'पौन सो जागति आग सुनी ही,
पै पानी तें लागति आँखिन देखी ।'

(२) 'देखिए दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की,
भसमी बिथा पै नित लंघन करति है ।'

(३) 'उजरनि बसी है हमारी अँखियान देखौ,
सुबस सुदेस जहाँ भावते बसत हौ ।'

(४) 'न खुली-मुदी जनि परैं कछु ये,
दुखदाई जगे पर सोवति हैं ।'

(५) 'बदरा बरसैं रितु मे घिरि कें नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं ।'

जहाँ घनानंद ने अपने काव्य मे भावो की घनीभूतता का परिचय दिया है वहाँ उन्होने या तो केवल विरोधाभास का सहारा लिया है या फिर विरोधाभास के साथ अन्य अलंकारो को भी स्थान दिया है। विरोधाभास के साथ अन्य अलकारो का सुन्दर प्रयोग इस उदाहरण मे देखिए :—

'आसहि अकास-मधि अवधि-गुनै बढ़ाय,
चोपनि चढ़ाय दीनौ, कीनौ खेल सो यहै ।
निपट कठोर एहो ऐंचत न आप ओर,
लाड़िले सुजान सों दुहेली दसा को कहै ।।
अचिरजमई मोहिं भई घनआनँद यौ,
हाथ साथ लाग्यौ पै समीप न कहूँ लहै ।
बिरह-समीर की झकोरनि अधीर, नेह—
नीर भीज्यौ जीव तऊ गुड़ी लौ उड़्यौ रहै ।।'

अपनी उक्त रचना मे घनानंद ने विरोधाभास के साथ रूपक तथा विभावना का अत्यन्त सटीक सामजस्य प्रस्तुत किया है। घनानद विरोधाभास के उस्ताद हैं। एक नहीं, अनेक ऐसे उदाहरण उनकी रचनाओं से दिए जा

सकते है जिनमे उन्होने विरोधाभास-द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने तथा अपनी विरहानुभूति को तीव्रतर रूप में प्रस्तुत करने के साथ-साथ अपनी अलकार-सम्बन्धी जानकारी का अत्यन्त सुन्दर परिचय दिया है। एक उदाहरण और लीजिए और देखिए कि इसमे विरोधाभास-द्वारा नायिका की वियोग-जन्य परिस्थिति का कितना सुन्दर चित्र उतारा गया है :—

'पीरी परि देह छीनी, राजत सनेह-भीनी,
कीनी है अनंग अंग-अंग रङ्ग-बोरी-सी।
नैन पिचकारी ज्यौं चल्यौई करैं दिन-रैन,
बगराए बारनि फिरति झकझोरी-सी॥
कहाँ लौ बखानौं घनआनन्द दुहेलो दसा,
फागमईं भई जान प्यारे वह भोरी-सी।
तिहारे निहारे बिन प्राननि करति होरा,
बिरह-अँगारनि निमगारि हिय होरी-सी॥'

विरोधमूलक अलकारो के अतिरिक्त घनानन्द ने अनुप्रास, यमक, प्रतीप, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, यथासंख्य, परिकरांकुर, परिवृत्ति, असंगति आदि के प्रयोग मे भी अपनी काव्य-कला का परिचय दिया है। वह अनुप्रास-प्रिय नही हैं, फिर भी उनकी रचनाओं मे अनुप्रास के जो उदाहरण मिलते हैं उनका उद्देश्य काव्य मे चमत्कार उत्पन्न करना न होकर आतरिक भावो को यथातथ्य रूप मे प्रकट करना मात्र है। **'कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री, कूकि-कूकि अब ही करेजो किन कौरि ले।'**—मे उन्होंने अनुप्रास की जैसी सुन्दर योजना की है वह उनको काव्य-कला को चरितार्थ करने के साथ-साथ उनकी वियोग-जन्य घनीभूत पीड़ा को भी व्यक्त करने मे सफल है। दो उदाहरण और लीजिए :—

(१) 'रूप-गुन ऐंठी सु अमैठी उर पैठी बैठी,
लाड़नि निरैठी, मति बोलनि हरै हरी।
जोबन-गहेली, अलबेली, अति ही नवेली,
हेली ह्वै सुरति बौरी आँचर टरै टरी॥'

(२) 'चारु चामीकर चंद चपला चंपक चोखी,
केसरि-चटक कौन लेखें लेखियत है।'

यमक का यह उदाहरण भी कितना सुन्दर है :—

'मोही मोह जनाय कै, अहे अमोही! जोहि।
सोही मोही सों कठिन, क्यौ करि सोही तोहि॥'

घनानन्द ने यमक की भाँति उत्प्रेक्षा का भी प्रयोग यत्रतत्र ही किया है, परन्तु जहाँ भी उन्होने इस दिशा मे अपनी काव्य-कला का परिचय दिया है वहाँ वह किसी रीतिबद्ध-कवि से पीछे नहीं हैं। एक नायिका के रूप की निकाई पर उनकी उत्प्रेक्षा इस रचना मे देखिए :—

'सहज उज्यारी, रूप जगमगी जान प्यारी,
रति पै रतीक आभा है न रोम-रीस की।
चीकने चिहुर नीके आनन बिथुर रहे,
कहा कहौ सोभा सुभ भरे भाल सीस की॥
बीच-बीच मंजुल मरीचि-रुचि फैलि फबी,
केलि-समै उपमा लसति बिसे-बीस की।
मानौ घनआनंद सिगार-रस सों सँवारी,
चिक मै बिलोकति बहनि रजनीस की॥'

श्लेष, रूपक और व्यतिरेक का एक साथ आनन्द लेना हो तो यह उदाहरण लीजिए :—

बनआनन्द-जीवनमूल सुजान की कौंधन हूँ न कहूँ दरसैं।
सुन जानियै धौ कित छाय रहे, इत चातिक प्रान तपे तरसैं॥
बिनु पावस तो इन थ्यावस हो न सु क्यौ करि यौ अब सो परसैं।
बदरा बरसै रितु मैं घिरिकै, नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं॥'

इसी प्रकार अनुप्रास, रूपक, पुनुरुक्ति प्रकाश, उदाहरण तथा उपमा अलंकारो का एक साथ मेल इस रचना मे देखिए :—

'चोप चाह चावनि चकोर भयौ चाहत ही,
सुषमा-प्रकास मुख-सुधाधर पूरे की।

कहा कहौं कौन-कौन बिधि की बँधनि बँध्यौ,
सुरूयौ न उकस्यौ बनाव लखि जूरे को ॥
जाही-जाही अंग पर्‌यौ ताही गरि-गरि सर्‌यौ,
हर्‌यौ बल बापुरे अनंग-दल-चूर को ।
अब बिन देखे जात प्यारे यौं आनंदघन,
मेरौ मन भवै भूट। पात ह्वै बघूरे को ॥'

निम्न पंक्ति मे अपह्नुति की मार्मिक व्यजना पर ध्यान दीजिए :—

'जारति अंग अनंग की आँचनि जोन्ह नही सु नई अगि लाई ।'

एक और कवित्त लीजिए जिसमे व्यतिरेक, परिकरॉकुर, श्लेष तथा उपमा का एक साथ सौंदर्य देखने को मिलता है :—

'कहाँ एतो पानिप बिचारी पिचकारी धरै,
आँसू नदी-नैनन उमगियै रहति है ।
कहाँ ऐसी राँचनि हरदि, केसू, केसरि मे,
जैसी पियराई गात पगियै रहति है ॥
चांचरि-चोप हू सु तौ औसर ही माचति पै,
चिंता की चहल चित लगियै रहति है ।
तपनि बुझावनि अनँदघन जान बिन,
होरी-सी हमारे हिये लगियै रहति है ॥'

उक्त उदाहरण से स्पष्ट होगा कि घनानन्द अलंकारवादी न होते हुए भी अलकारो की छटा दिखाने मे अपने युग के किसी कवि से पीछे नही हैं । क्या समतामूलक और क्या असमतामूलक, सभी अलंकारो की उन्होने अत्यन्त सुन्दर योजना की है। श्री शम्भुप्रसाद बहुगुना के शब्दा मे 'संदेह, अपह्नुति, विषम, प्रतीप, यमक, अनुप्रास आदि अनेक अलकार घनानन्द के काव्य मे प्रभावोत्पादकता, भाव-तीव्रता तथा सौंदर्य-वृद्धि के उपकरण बनकर इस रीति से आए हैं कि भाव की तीव्रता और छन्द की गति के कारण उन पर एकाएक ध्यान नही जाता । भाव की अभिव्यक्ति ही घनानन्द का मुख्य उद्देश्य था, अलंकारो से अपनी कविता को भर देना उस भावुक कवि की

प्रकृति के विरुद्ध था, इसलिए अलकारो का जितना समावेश उनकी कविता में हुआ है वह नैसर्गिक सौदर्य से युक्त है।'

घनानंद की छंद-योजना

घनानद की छंद-योजना रीतिबद्ध काव्य-धारा के कवियो की अपेक्षा अत्यन्त समृद्ध ह। रीतिबद्ध-काव्य-धारा के कवियो ने प्रायः दोहा, कवित्त, सवैया आदि का ही प्रयोग किया है, परन्तु इसके विरुद्ध घनानन्द की छंद-योजना मे शृङ्गार-काल और भक्त-काल, दोनो कालो की परपराओ का समन्वय मिलता है। 'सुजानहित' मे कवित्त और सवैया के साथ-साथ छप्पय, दोहा और सोरठा भी यत्रतत्र मिलते है। 'कृपाकंद' में भी कवित्त और सवैये अधिक है, पर उसमें विष्णुपद और गेय पदों को भी स्थान मिला है। इनके अतिरिक्त 'व्रजविलास' मे दोहा; 'सरस बसंत', 'अनुभव चद्रिका', 'रंगबधाई', 'प्रेम-पद्धति', 'वृषमानपुर-सुषमा-वर्णन', 'गोकुलगीत', 'विचार-सार', 'कृष्णकौमुदी', 'प्रियाप्रसाद', 'गिरिगाथा' और 'व्रजव्यवहार' में दोहा और चौपाइयाँ तथा 'मुरलिका मोद', 'व्रजप्रसाद', 'रसनायश', 'प्रेम-पहेली', 'गोकुलचरित्र', 'व्रजस्वरूप', 'धामचमत्कार', 'भावना प्रकाश', 'गिरिपूजन', 'प्रीति-पावस' और 'नाम माधुरी' आदि में केवल चौपाइयाँ है। 'पदावली' मे राग-रागिनियो के अनुसार कुल १०५७ गेय पद सगृहीत हैं। इनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि घनानन्द एक कुशल सगीतज्ञ भी थे। उनके सभी गेय पद निर्दोष हैं। उन्होने कुछ पंजाबी गीत भी लिखे हैं जिनसे ज्ञात होता है कि पंजाबी भाषा पर भी उनका पूरा अधिकार था। एक पजाबी गीत लीजिए :—

'सालूवाली मुरलीवाला तैंडा यार है।
घरी-घरी आवंदा घुम्मर पावँदा बिसर गया घर-बारहे॥
तुक्क बल तफदा, रहि नहि सकदा, लग्ग नबेला यार है।
मिहिर नजर मुडि वेखनी से ये आनन्दघन दिलदार है॥'

घनानन्द उर्दू और फारसी के भी अच्छे विद्वान थे। इन भाषाओं मे वह कविता करते रहे हो तो कोई आश्चर्य नही। अपनी रचनाओ में उन्होने अपनी इस प्रवृत्ति का पर्याप्त परिचय दिया है। 'वियोग बेलि' की

सपूर्ण छंद-योजना उर्दू की छंद-योजना है। उदाहरण लीजिए :—

'सलोने स्याम प्यारे क्यौ न आवौ।
दरस प्यासी मरैं तिनकों जिवावौ॥
कहाँ हौ जू कहाँ हौ जू कहाँ हौ।
लगे ये प्रान तुम से है जहाँ हौ॥'

इन्हे कोई हिन्दी-छंद-योजना के अन्तर्गत लेना चाहे तो ले सकता है, परन्तु वास्तव मे ये उर्दू-फारसी के ही छन्द हैं जिन्हे घनानद ने बड़ी सफलतापूर्वक हिन्दी मे उतारा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव आदि की भाँति वह हिन्दी के आचार्य न रहे हो, परन्तु उन्होने अपनी रचनाओ मे जितने प्रकार के छन्दो को स्थान दिया है उनसे वह पिंगल के पंडित सिद्ध होते हैं। दोहा, सोरठा, छप्पय, कवित्त, सवैया, विष्णु पद, गेय पद, अरल्ल, मॉझ, निसानी आदि सभी तरह के छन्द उन्होने अपनाएँ है। ये सभी छन्द उनकी गहन अनुभूति के प्रकाशन में सहायक हैं। उन्होने अपनी भावना और अपनी वृत्ति के अनुकूल ही अपने छन्दों का चुनाव किया है। इसलिए उनके सभी छन्द भावना से परिपुष्ट और निर्दोष हैं। अपने छन्द-विधान पर उनका पूरा अधिकार है। श्री शभुप्रसाद बहुगुना ने उनकी छन्द-योजना की सराहना करते हुए लिखा है—'घनानंद ने कवित्त और सवैयों का प्रयोग किया है, किंतु उन पर अपने व्यक्तित्व की पूरी छाप उन्होने छोड़ी है। कुशल कलाकार की भाँति वे अपनी भाव-धारा को इस ढग से आगे बढ़ाते हैं कि पाठक भी उसी मे बढ़ता हुआ जब अतिम पक्ति पर पहुँचता है तो चरम उत्कर्ष को पहुँची हुई भावना के निखार के साथ साथ वह कवित्त और सवैये के 'प्राण-शब्द' को भी पा जाता है जिससे उसे विशेष आनन्द मिलता है। 'प्राण-शब्द' के अंतिम पंक्ति मे रहने से पाठक की जिज्ञासा-वृत्ति छन्द के अन्त तक बनी रहती है और वह पूरे छन्द को धैर्य के साथ पढ़ लेता है और इस प्रकार कवि की उस सारी बात को सुन-समझ लेता है जिसे कवि कहना चाहता है।'

घनानंद की शैली

एक आलोचक का कहना है कि शैली से लेखक की पहचान होती

है। इसी बात को यदि और स्पष्ट शब्दो मे कहना चाहे तो यों कह सकते हैं कि शैली एक ऐसा दर्पण है जिसमे लेखक अथवा कवि का व्यक्तित्व बराबर झलकता रहता है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, बिहारी आदि मे से किसी की भी रचना आप उठा लीजिए, उसके प्रत्येक शब्द मे आपको उसके प्रयोगकर्ता के दर्शन होगे। यदि ऐसा न हो तो समान क्षेत्रवाले दो कवियो की रचनाओ को पहचानना कठिन हो जाय। घनानंद और रसखान प्रायः एक ही मार्ग के पथिक हैं, परन्तु उनकी शैली में अन्तर होने के कारण दोनो दो रूपों मे हमारे सामने आते हैं।

कवि अथवा लेखक का व्यक्तित्व ही उसकी शैली को रूप देता है। जिसकी जैसी रुची और वृत्ति होती है उसी के अनुरूप उसकी शैली होती है। घनानद की वृत्ति स्वच्छंद (Romantic) है। उनकी इसी स्वाभाविक वृत्ति ने उन्हे काव्य-प्रेरणा दी है। इसलिए उनकी सभी रचनाओ मे हमे इस वृत्ति का चमत्कार दिखाई देता है। इस वृत्ति की प्रधानता के कारण ही उन्हें मुक्तक काव्य की शरण लेनी पड़ी है। मुक्तक काव्य ऐसी रचना होती है जिसमें कोई विशेष कथा नहीं होती, पर उसमे किसी रस अथवा भाव की अभिव्यक्ति अवश्य होती है। 'मुक्तेन मुक्तकम्' के लक्षण के अनुसार आगे और पीछे के तारतम्य से मुक्त रहने के कारण स्वतः पूर्ण पदो को मुक्तक की संज्ञा दी जाती है। विषय के अनुसार इसके दो भेद हैं; (१) **प्रबन्ध-मुक्तक** और (२) **भाव-मुक्तक**। प्रबन्ध-मुक्तक मे किसी छोटी-मोटी कथा के आधार पर किसी भाव की अभिव्यक्ति होती है, पर भाव-मुक्तक मे केवल भावो की ही प्रधानता रहती है। घनानंद ने अधिकाश भाव-मुक्तक ही लिखे हैं जिनमे दोहा, छप्पय, सोरठा, कवित्त और सवैया छन्दो का प्रयोग किया गया है। मुक्तक (१) पाठ्य और (२) गेय भी होते है। घनानंद के जो मुक्तक सवैया, कवित्त, दोहा, सोरठा आदि छन्दो मे मिलते है वे पाठ्य हैं। इनके अतिरिक्त 'पदावली' मे उनके गेय मुक्तक संगृहीत है।

घनानन्द ने मुक्तक-प्रबन्ध भी लिखे हैं। मुक्तक-प्रबन्ध ऐसे काव्य को कहते है जिसमें मुक्तक छन्दों को मिलाकर एक कथा का ढाँचा खड़ा कर

दिया जाता है। घनानन्द-कृत 'ब्रजव्यवहार', 'गिरिगाथा', 'दानघटा', 'सरस बसत', 'गिरि-पूजन', 'रंगबधाई', 'प्रेम-पत्रिका' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इनमें कवित्त, सवैया, दोहा और चौपाई छन्दो का प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त कुछ प्रशस्तियाँ भी हैं जो दोहा-चौपाई में मिलती हैं। 'गोकुल-गीत', 'नाम-माधुरी', 'भावना-प्रकाश', 'कृष्ण-कौमुदी' आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। इस प्रकार क्या विषय, क्या भाव और क्या छन्द, सभी दृष्टियो से घनानन्द के मुक्तक संपन्न हैं।

काव्य के मुख्यतः दो पक्ष होते हैं, (१) आन्तरिक अथवा भाव-पक्ष और (२) बाह्य अथवा कला-पक्ष। रीतिबद्ध-कवि काव्य के कला-पक्ष के प्रेमी थे। इसका यह मतलब नहीं कि वे काव्य मे भाव-पक्ष की आवश्यकता नहीं स्वीकार करते थे, बल्कि यह कि वे भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष को काव्य की सौंदर्य-वृद्धि मे विशेष उपयोगी समझते थे। घनानन्द की वृत्ति इस कोटि की नही थी। वह भाव-प्रवण कवि थे। उन्होंने अपने काव्य की सहज रमणीयता, उसकी स्वच्छन्दता और उसकी भाव-शबलता पर अपनी बौद्धिकता अथवा कला-प्रियता से चोट नहीं की। इसलिए भाव-पक्ष और कला-पक्ष, काव्य के इन दोनो पक्षो के निरूपण में वह स्वाभाविक बने रहे। उनकी कविता निर्झरणी की भाँति स्वतः उनके हृदय से प्रवाहित होती रही। उसे गतिशील बनाने, उसे सजाने-सँवारने और उसकी रूप-रेखा निर्धारित करने मे उन्हे अपनी ओर से कुछ भी नही करना पड़ा। वह काव्य के अपरिचित और बीहड़ पथों से नही गुजरे, पेचीदा मजमूनो को उन्होने काव्य की परिधि मे कसने की चेष्टा नही की, उक्ति-वैचित्र्य एवं क्लिष्ट कल्पनाओ के व्यूह मे उन्होने प्रवेश नही किया और न उन्होने काव्य की शास्त्रीय पद्धतियो को ही अपनाया। फिर भी वह रीतिबद्ध-काव्य-धारा के किसी कवि से पीछे नहीं है। उनके काव्य मे कला-पक्ष का पूर्ण सौंदर्य है। उनकी रस-योजना, उनकी अलंकार-योजना, उनकी छंद-योजना, उनकी भाषा-शैली, उनका अभिव्यक्ति-कौशल, उनका लाक्षणिक मूर्ति-विधान, उनका प्रयोग-वैचित्र्य सब कुछ उनका अपना है। आचार्य शुक्लजी ने उनकी लाक्षणिक-पद्धति की आलोचना करते हुए लिखा है—'लक्षण का विस्तृत मैदान खुला रहने

पर भी हिन्दी के कवियो ने उसके भीतर कम ही पैर बढ़ाया है। एक घनानन्द ऐसे कवि हुए हैं जिन्होने इस क्षेत्र मे अच्छी दौड लगाई है। लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य की जो छटा इनमे दिखाई पड़ती है, खेद है कि वह पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में अर्थात् वर्तमान काल की नूतन काव्य धारा ही अभिव्यंजनावाद के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिए प्रगट हुई है।' कहना न होगा कि घनानद की इस विशेषता ने उनके काव्य मे चार चॉद लगा दिए हैं और वह अपनी स्वाभाविक परिधि के भीतर रहते हुए कला-पक्ष का सुन्दर नमूना बन गया है। तात्पर्य यह कि उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति आदि अलंकारो से युक्त रचनाओ की अपेक्षा लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और उक्ति-वैचित्र्य से युक्त उनकी रचनाएँ इतनी सरल, सरस, स्निग्ध और साथ ही इतनी गंभीर हैं कि वे बरबस हमारे हृदय के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं। पं० विश्वनाथ प्रसाद ने उनकी शैली के संबंध मे विचार करते हुए लिखा है—'घनानद ने तो ऐसे पथो से भावना को ले जाने का साहस किया है जिन पर पुराने कवि गए ही नही; नए कवि भी जाने का साहस कम करते हैं।' इस सम्बन्ध मे उन्होंने जो दो उदाहरण दिए है उन्हे हम यहाँ साभार प्रस्तुत करते है :—

(१) 'मो से अनपहचान को पहचानै हरि कौन।
कृपा-कान मधि-नैन ज्यौं, त्यौ पुकार मधि-मौन॥'

इनकी 'पुकार मौन मे' है तो उधर नेत्रो मे कृपा के कान लगे हुए है।

(२) लिखि राख्यौ चित्र यौं प्रवाहरूपी नैननि पै,
लही न परति गति ऊलट अनेरे की।
रूप को चरित्र है अनंदघन जान प्यारी,
ऐ किधौं विचित्रताई मो चित-चितेरे की॥'

'रग से बना' चित्र प्रवाह में न तो स्थिर रह सकता है और न उसका रङ्ग ही धुले बिना बच सकता है, पर यहाँ नेत्रो के प्रवाह मे ही प्रिय का

चित्र बना हुआ है। ऐसी विलक्षण स्थिति का कारण प्रिय का सौंदर्य है अथवा प्रेमी का मन, कुछ कहा नहीं जा सकता।'

उक्त उद्धरणो से यह भी स्पष्ट होगा कि घनानंद की शैली अलंकृत शैली है। उसमे भावो की उत्कृष्टता के साथ-साथ अलकारो की छटा भी दर्शनीय है।

कहा जा सकता है कि रीतिबद्ध-कवियो ने भी अलकृत शैली का प्रयोग किया है। परन्तु जैसा कि अन्यत्र बताया जा चुका है, घनानद की अलकृत शैली रीतिबद्ध-कवियो की अलकृत शैली से सर्वथा भिन्न है। रीति-बद्ध-कवियो की अलकृत शैली से उनके पांडित्य-प्रदर्शन का आभास मिलता है और घनानंद की अलंकृत शैली से उनके हृदय की स्थिति का सच्चा आभास। इस प्रकार का आभास देने के लिए उन्होने सैकड़ों अलंकारों में से केवल एक अलंकार चुना—विरोधाभास। विरोधाभास का उन्होंने खुलकर प्रयोग किया, पर अपनी इस अलकार-प्रियता के कारण उन्होंने भाषा की मुहावरेदानी पर आँच नही आने दी।

घनानंद की रचनाओ मे वाग्वैदग्ध और उक्तिवैचित्र्य के अनेक उदाहरण मिलते है। इनके द्वारा उन्होने अपनी व्यजना-शक्ति को अधिक सजीव, स्वस्थ, शक्तिशाली एव प्रभावोत्पादक बनाने की सफल चेष्टा की है। वाग्वैदग्ध का एक सुन्दर उदाहरण लीजिए :—

'घनआनंद मीत सुजान सुनौ यहाँ एक ते दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढे हो कहौ, मन लेहु पै देहु छटांक नही॥'

उक्ति-वैचित्र्य से तो घनानद की रचनाएँ भरी पड़ी हैं। कुछ उदाहरण लीजिए :—

(१) 'जीवन मूरति जान को आनन है बिन हेरे सदा हो अमावस।'
(२) 'अब बिन देखे जान प्यारे यों अनंदघन'
मेरो मन भँवै भट्ट! पात ह्वै बघूरे को।'
(३) 'ह्वै है सोऊ घरी भाग-उघरी अनंदघन,
सुरस बरसि लाल देखिहौ हमै हरी।'

श्री केशनी प्रसाद चौरसिया के शब्दो मे—'घनानंद कुछ गिने-चुने

शब्दो-द्वारा बिम्ब-ग्रहण कराने की कला मे विशेष कुशल है।' इस सबंध मे उन्होंने घनानंद की जो रचना दी है उसे हम साभार यहाँ देते हैं।

'झलकै अति सुन्दर आनन गौर छके दृग राजत कानन छ्वै।
हँसि बोलन में छबि फूलन की, बरसा उर ऊपर जाति है ह्वै॥
लट-लोल कपोल कलोल करैं, कलकंठ बनी जलजावलि द्वै।
अंग-अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै॥'

इस प्रकार हम देखते है कि घनानंद की शैली उनके पूर्ववर्ती तथा समकालीन कवियो की शैली से सर्वथा पृथक है। उसकी अपनी ऐसी विशेषताएँ है जिन तक हिन्दी के बड़े-बड़े कवियो की पहुँच नही है। वह सरल, सरस, स्वाभाविक, प्रभावोत्पादक, भावानुकूल, कलापूर्ण, भाषा की शक्तियों से सम्पन्न तथा प्रसाद एव माधुर्य गुणो से युक्त है।

घनानंद की भाषा

धनानंद की भाषा शुद्ध साहित्यक ब्रजभाषा है, परन्तु उनकी ब्रजभाषा वह ब्रजभाषा नही है जिसे रीतिबद्ध-कवियों ने अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। रीतिबद्ध-कवि भाषा मे काव्य के कला-पक्ष की चरम स्थिति मानते थे। उन्हे भाषा मे बाहरी तड़क-भड़क पसंद थी। इसलिए वे अपनी भाषा को आडंबरपूर्ण बनाते जा रहे थे। इससे घनानंद के समय तक ब्रजभाषा का रूप अत्यन्त रूढ़िग्रस्त हो गया था और उसका स्वच्छंद-प्रवाह अवरुद्ध-सा हो गया था। घनानंद जिस काव्य-पथ के पथिक थे उसके लिए ऐसी भाषा नितान्त अनुपयुक्त थी। इसलिए उन्होने साहित्यिक ब्रजभाषा के साथ बोल-चाल की ब्रजभाषा का समावेश किया और इस पकार उसे लोकप्रिय बनाया। वह 'भाषा-प्रबीन' थे। ब्रजभाषा की कोमलता और मधुरता से वह भली भाँति परिचित थे। ब्रज में उन्होने अपने जीवन का अधिक समय बिताया था। इसलिए ब्रजभाषा के साथ उनका सीधा संपर्क था। ब्रजभाषा उनकी मातृ भाषा-सी हो गई थी। उर्दू की मुहावरेदानी से भी वह परिचित थे। फारसी का उन्हे अच्छा ज्ञान था। स्वानुभूति के चित्रण के लिए कैसी भाषा होनी चाहिए, इसे भी वह भली भाँति जानते थे। इसलिए उन्हें अपनी भाषा को भावपरक बनाने में प्रयत्न नहीं करना पड़ा। वह भाषा के

पीछे नही चले, भाषा स्वयं उनके पीछे चलती रही। भाषा पर इतना अच्छा अधिकार उनके अतिरिक्त और किसी का भी नहीं था। वह अपनी भावना के प्रवाह के साथ अपनी भाषा को जिधर चाहते थे उधर बेधड़क मोड़ सकते थे। उनकी इसी विशेषता मे उनके 'भाषा-प्रवीन' होने का रहस्य छिपा था। वह 'भाषा-प्रवीन' ही नहीं, 'ब्रजभाषा-प्रवीण' भी थे। भाषागत अपने विविध अनुभवो से उन्होने ब्रजभाषा को बहुत शक्ति दी। उन्होने उसे प्रसाद एवं-माधुर्य गुणो से संपन्न किया, उसे व्यंजना एवं लक्षणा से समृद्धशाली बनाया; उसे मुहावरो, लोकोक्तियो एवं बोल-चाल के शब्दो की अनुपम निधि देकर उसको लोक-प्रिय बनाया; उसे वाग्योग के विधान से विभूषित किया और उसे अर्थ की सम्पत्ति से गौरवान्वित किया। एक साथ ब्रजभाषा मे इतनी अधिक विशेषताओं का समावेश कर उसे रूढ़िग्रस्तता तथा कृत्रिमता के बंधनों के मुक्त करने का श्रेय यदि शृगार-काल के किसी कवि को दिया जा सकता है तो वह घनानंद ही हैं।

घनानंद की ब्रजभाषा के दो रूप है : (१) **शुद्ध साहित्यिक** ब्रजभाषा और (२) उर्दू **से प्रभावित ब्रजभाषा**। शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा ही घनानद की भावाभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम है। इसलिए इसी का उनकी रचनाओं मे विशेष महत्त्व है। इसमे ब्रज के बोल-चाल के शब्द तथा सस्कृत के तद्भव शब्द मिलते हे। शब्दो के चयन मे घनानद ने विशेष सावधानी से काम लिया है। शब्दाडम्बर तो उनकी भाषा मे है ही नहीं। भावो के अनुकूल शब्दो का चयन करने मे उनकी कला बेजोड़ है। इस सबंध में एक बात और ध्यान देने योग्य है और वह यह कि उन्होने अपनी शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा मे उर्दू, फारसी अथवा अरबी के तत्सम अथवा तद्भव शब्दो को कहीं भी स्थान नही दिया है। यह विशेषता उनके अतिरिक्त शृंगार-काल के अन्य किसी कवि मे नही पाई जाती। इस से यह भी प्रमाणित होता है कि अपनी ब्रजभाषा पर उनका अन्यतम अधिकार था और उनका शब्द-भाण्डार अत्यन्त समृद्ध था। उनका कोई कवित्त, उनका कोई सवैया, उनका कोई दोहा अथवा सोरठा आप ले लीजिए उसमे आप को शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा मिलेगी।

घनानंद की शुद्ध साहित्यिक व्रजभाषा अत्यन्त प्रवाहपूर्ण है, पन्रतु उस में प्रवाह का वेग सर्वत्र एक-सा नही है। भावो के उतार-चढ़ाव के अनुकूल उसके दो रूप है : (१) मंथर प्रवाह और (२) तीव्र प्रवाह। घनानंद ने जहॉ विरह-जन्य स्वानुभूतियो का चित्रण किया है वहॉ उनकी भाषा का प्रवाह मद है। वह आवेश मे आकर नही कहते, उचित-अनुचित पर विचार कर कहते है। इसलिए उसमे संयत गभीरता भी बनी रहती है। किन्तु जब वह उल्लास आदि मनोवेगो का चित्रण करने लगते हैं तब उनकी भाषा में निर्झरणी का सा प्रवाह आ जाता है। इस विशेषता के अतिरिक्त उनकी भाषा प्रसाद एव माधुर्य गुणो से युक्त, व्यजना एव लाक्षणिक प्रयोगो से सम्पन्न, मुहावरो एव कहावतो से समृद्ध, अर्थ की संपत्ति से गौरवान्वित, व्याकरण परक और ध्वनि-सौदर्य से विभूषित है। एक उदाहरण लीजिए :—

'लहकि-लहकि आवै ज्यौ-ज्यौ पुरवाई पौन,
दहकि-दहकि त्यौं-त्यौ तन ताँवरे तचै।
बहकि बहकि जात बदरा बिलोकें हियौ,
गहकि-गहकि गहबरनि गरे मचै ॥
चहकि-चहकि डारै चपल चखनि चाहे,
कैसे घनआनंद सुजान बिन ज्यौ बचै।
महकि-महकि मारै पावस-प्रसून-बास,
त्रासन-उसास दैया को लौ रहियै अचै ॥'

उक्त रचना मे 'लहकि-लहकि', 'दहकि-दहकि', 'बहकि-बहकि', 'गहकि-गहकि', 'चहकि-चहकि' और 'महकि-महकि' द्वारा जो भाव-सौंदर्य उत्पन्न किया गया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। घनानंद अपनी भाषा के प्रति तो स्वच्छद है ही, वह शब्दो के ग्रहण के प्रति भी स्वच्छद हैं। उनकी इसी प्रवृत्ति ने उनकी भाषा को प्रवाहपूर्ण, शक्ति-सपन्न और प्रभावयुक्त बनाया है। भाषा मे उनकी मुहावरेदानी देखनी हो तो निम्न उदाहरण लीजिए :—

'इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि कैसे उराहनो दीजियै जू।
अब तौ सब सीस चढ़ाय लई, जु कछू मन भाई सु कीजियै जू ॥

घनआनंद जीवन प्रान सुजान तिहारिय बातनि जीजियै जू।
नित नीके रहौ तुम्हे चाड कहा, पै असीस हमारियौ लीजियै जू।।'

उर्दू-कवियो की भाँति घनानद ने मुहावरों के प्रयोग से अपनी भाषा की अभिव्यजना-शक्ति को अत्यधिक समृद्ध किया है। अपने किसी-किसी छद मे तो उन्होने मुहवारो की ऐसी झडी लगाई है कि सारी रचना ही उनके बल पर खड़ी मालूम होती है, परन्तु क्या मजाल कि कहीं भी भावाभिव्यक्ति मे शिथिलता अथवा अर्थ-दोष हो। देखिए :—

'तपति उसास, आँधि रूँधियै कहाँ लौं देया,
बात बूझै सैननि ही ऊत्तर उचारियै;
उडि चल्यो रंग कैसे राखियै कलंकी मुख,
अनलेखे कहाँ लौ न घूँघट उघारियै।
जरि-बरि, छार ह्वै न जाय हाय ऐसी बैस,
चित-चढी मूरति सुजान क्यौ उतारियै।
कठिन कुदाय आय घिरी हौ अनदघन,
रावरी बसाय तौ बसाय न उजारियै।।'

मुहावरो की भाति ही घनानद ने अपनी भाषा मे अर्थ-गौरव की प्रतिष्ठा करने के लिए पद-ध्वनि और वाक्य-ध्वनि के साथ-साथ पदाश-ध्वनि से भी काम लिया है। कुछ उदाहरण लीजिए :—

(१) 'मेरो मनोरथ हू बहियै अरु है मो मनोरथ पूरनकारी।'
(२) 'रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यान मे।'
(३) 'भाजि न जाय आज यह मोहन सब मिलि घेरौ री।

इस ध्वनि-बलिष्टता के कारण घनानन्द के काव्य मे ऐसी अनेक विशेषताएँ आ गई हैं जो किसी भी ब्रजभाषा के कवि की रचनाओं में नही मिलती। घनानन्द अपनी भाषा के धनी हे। उनकी भाषा में नाद-सौदर्य के साथ-साथ अनेक युक्तियो की पूर्ण योजना अत्यन्त प्रशंसनीय है। इसके अतिरिक्त उसमे सङ्गीतपरकता और मूर्तिकरण की भी अद्भुत क्षमता है। घनानन्द ने इस क्षमता के बल पर अरूप, अमूर्त एव सूक्ष्मतम भावो को भाषा और शैली की शक्ति से मूर्त कर दिया है। यह विशेषता

घनानन्द के पश्चात् पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी में परिलक्षित होती है।

घनानन्द की ब्रजभाषा का दूसरा रूप उर्दू और पंजाबी से प्रभावित ब्रजभाषा है। यह उनकी साधारण और अत्यन्त सरल भाषा है। इसमें प्रवाह तो है, पर साहित्यिकता नही है। 'इश्कलता' मे उन्होने इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। एक उदाहरण लीजिए :—

'हो हलधर दे वीर चले कित जात हौ।
निठुर कान्ह महबूब न सुनदे बात हौ।
इत्थूँ आवत नाहिं सु को तकसीर है।
आनन्द-जीवन ज्यान बढी उर पीर है॥'

'पदावली' मे घनानन्द के कुछ ऐसे पद भी संगृहीत हैं जिनमे शुद्ध पंजाबी भाषा का प्रयोग हुआ है। इसका भी एक उदाहरण लीजिए :—

'साड रा न बुझदा है गुज्झी गल्लाँ कैनू आखि सुनावाँ।
ब्रजमोहन दी बेपरवाइयाँ मरहम किसे भी न पावाँ।
दरद दिवानियाँ खरी निमानियाँ कोवा दिल पर चावाँ।
आनन्दघन वेमिहराँ दी हाँसी असी वो रो रो झडलावाँ॥'

इस प्रकार हम देखते है कि घनानन्द कई प्रकार की भाषाओं के प्रयोग मे अत्यन्त प्रवीण हैं और उनका उन पर पूरा अधिकार है। जिस भाषा को उन्होने अपनाया है उसमे उन्होने अपने हृदय की सारी विरह-वेदना निचोड़ दी है और उसे भावपरक बना दिया है। आचार्य शुक्लजी के शब्दो मे 'भाषा मानों इनके हृदय के साथ जुड़कर इतनी वशवर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भावभंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप मे मोड सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गति-विधि का आभास हुआ और वह पहले से कही अधिक बलवती दिखाई पडी। जब आवश्यकता होती थी तब ये उसे बँधी प्रणाली पर से हटाकर अपनी नयी प्रणाली पर ले जाते थे। भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम चलाकर उन्होने उसे अपनी ओर से नयी शक्ति प्रदान की है। घनानन्द जी उन बिरले कवियों में से हैं जो भाषा की व्यजकता बढ़ाते है अपनी भाव-

नाओ के अनूठे रूप-रङ्ग की व्यंजना के लिए। भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करनेवाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नही हुआ। भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।'

घनानन्द : एक शृङ्गारी कवि

घनानन्द के सम्बन्ध मे यहाँ तक विचार करने के पश्चात् जो एक विवादग्रस्त प्रश्न उठ खडा होता है वह यह है कि घनानन्द को शृंगारी कवि माना जाय अथवा भक्त-कवि। यदि इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप मे देना हो तो कहा जायगा कि घनानन्द शृङ्गारी कवि थे। इसका कारण केवल यही नही है कि वह शृंगार-काल मे हुए थे, बल्कि यह भी है कि उन्होने शृंगार के वियोग-पक्ष की अंतर्दशाओ के चित्रण मे ही अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। वह प्रेमी जीव थे। सुजान पर वह सौ जान से निसार थे, पर सुजान का उनके प्रति वह आकर्षण नही था। ठेस लगने पर जैसे मनुष्य उसकी पीड़ा से छटपटा उठता है, ठीक वैसी ही दशा घनानन्द की भी हुई। उनकी प्रेम-संबधी बहिर्वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गई और वह सुजान के वियोग मे ससार से विरक्त होकर राधा-माधव के उपासक हो गये। कहने का तात्पर्य यह कि प्रेम के वैषम्य ने उन्हे लौकिक प्रेम-मार्ग से विमुख कर अलौकिक प्रेम-मार्ग अथवा भक्ति-मार्ग की ओर उन्मुख किया। इस आधार पर उनकी भक्ति को यदि हम कोई संज्ञा देना चाहे तो उसे 'प्रेम-लक्षणा भक्ति' की सज्ञा दे सकते है, परन्तु इस क्षेत्र में भी वह भक्ति की कसौटी पर खरे नही उतरते। इसमे संदेह नही कि लौकिक-प्रेम और प्रेम-मूलक भक्ति, दोनो मे प्रेम की विषमता होती है, पर लौकिक प्रेम की विषमता और प्रेम-मूलक भक्ति की विषमता मे अंतर है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दो मे 'प्रेम में प्रिय-पक्ष मे निष्ठुरता, कठोरता, क्रूरता आदि का आरोप होता है, पर भक्ति मे नही। भक्ति के आलंबन भगवान के जिस रूप की कल्पना इस क्षेत्र में हुई वह भगवान मे हृदयपक्ष या करुणा के अत्यधिक आरोप का लेकर ही हुई। अतः भक्ति के क्षेत्र मे क्रूरता का अधिक आरोप प्रेम-लक्षणा भक्ति मे शृङ्गार का अवयव अधिकाधिक आने पर ही हुआ। गोपियो की भक्ति के साथ-साथ शृङ्गार का दृष्टांत प्रबल पड़ने

पर ही उसमे श्रीकृष्ण की निष्ठुरता आदि का उल्लेख हो चला। 'भागवत' मे यह प्रसङ्ग भ्रमर-वृत्तान्त के रूप मे जुड़ा हुआ है। कृष्ण-भक्तो में भ्रमर गीत के भीतर इसी का अधिक विस्तार हुआ। भ्रमर के व्याज से श्रीकृष्ण कितव, छली, कपटी आदि कहे गये, यह भक्ति मे माधुर्य भाव के ही कारण।' फारसी-काव्य मे भी प्रिय की वास्तविक कठोरता का वर्णन विस्तार के साथ और प्रतिपाद्य रूप में स्वीकृत है। घनानन्द ने अपनी माधुर्य-भाव की भक्ति में उक्त दोनों काव्य परपराओ का सामजस्य किया और उस पर लौकिक स्वरूप इतना अधिक आरोपित कर दिया कि उनकी रचनाएँ घोर शृङ्गारी कवियो की रचनाओ से टक्कर लेने लगीं। भक्ति को आड़ मे उन्होने प्रेम के क्षेत्र का कोना-कोना छान डाला और इस छान-बीन मे उन्हे जो कुछ मिला उसे उन्होने शृगार के माध्यम से व्यक्त किया। फलतः उनकी भक्ति-भावना शृङ्गार रस के सागर में ही गोते लगाती रही, वह उससे बाहर निकल कर अपनी सीमाओं का विस्तार न कर सकी।

घनानन्द कृष्ण-भक्ति की ओर क्यो आकृष्ट हुए, इसका भी एक रहस्य है। भक्ति-काल मे दो काव्य-धाराएँ प्रवाहित हो रही थी :(१) निर्गुण-काव्य-धारा और (२) सगुण-काव्य-धारा। शृंगार-काल के रीतिबद्ध और रीति मुक्त, दोनो श्रेणी के कवियों को सगुण-काव्य-धारा से ही विशेष प्रेरणा मिली। रीतिबद्ध-कवि तो नहीं, पर रीति-मुक्त कवियो मे से कई अपने जीवन में प्रेम की एकनिष्ठता के उपासक थे। 'प्रिय की उदासीनता अथवा उसके तटस्थ होने पर उनमे जो वैराग्य-भावना उत्पन्न हुई वह कृष्ण-भक्ति के ही सर्वथा उपयुक्त थी। निर्गुण में रूप की योजना न होने के कारण उसकी उपासना उनके मनोनुकूल नही हो सकती थी। अतः उन्होने सगुण ही मे अपनी वृत्ति लीन की। घनानन्द के कृष्ण-भक्ति के प्रति आकृष्ट होने का यही रहस्य है। ज्ञान-मार्ग से भक्ति-मार्ग को ऊँचा बताते हुए उन्होने कहा है कि भोगियों का भोग अथवा विषयानन्द प्रेममूलक भक्ति मे तिरोहित हो जाता है :—

'ज्ञान हूँ ते आगे जाकी पदवी परम ऊँची,
रस उपजावै तामैं भोगी भोग जात ग्वै।

जान घनआनद अनोखो यह प्रेम-पंथ,
भूले ते चलत रहैं सुधि के थकित ह्वै ॥'

घनानन्द की प्रेममूलक भक्ति का यही दर्शन है। स्पष्ट है कि यह भक्त-कवियो का दर्शन नही है। भक्त भगवद्भक्ति अथवा अलौकिक प्रेम को ही साध्य मानते है और यह स्वीकार करते है कि उसे ही एकनिष्ठ, निर्हेतुक एव समरस होना चाहिए, पर घनानन्द लौकिक प्रेम मे भी इसे स्वीकार करते है। यही भक्त-कवियो से उनका पार्थक्य है। एक बात और है और वह यह कि जिस प्रकार उन्होंने रीति की साम्प्रदायिकता से अपनी रचनाओं को मुक्त रखता है उसी प्रकार उन्होने अपने भक्तिपरक भावो को भी भक्ति की साम्प्रदायिकता से स्वच्छद रखा है। उन्हाने अपने जीवन के अतिम समय में निबार्क-संप्रदाय मे दीक्षा ली थी, पर इस स्थिति मे रहकर भी वह 'लौकिक सुजान का नाम' विस्मृत न कर सके। श्रीकृष्ण का सुजान, जानराय, जान आदि विशेषण रख कर वह उनकी प्रेममयी कथा निरतर गाते रहे। कृष्ण-लीला उनकी अभिव्यक्ति के लिए सामग्री बन गई। इस सामग्री का उपयोग उन्होने साधन के रूप मे किया, साध्य के रूप मे नहीं। सूर अथवा इसी कोटि के अन्य भक्त-कवियो की भाँति उन्होने अपने 'सुजान श्रीकृष्ण' को कभी प्रभु के रूप मे याद नही किया। 'पदावली' मे उनकी कुछ ऐसी रचनाएँ अवश्य सग्रहीत हैं जिनसे उनकी भक्ति-भावना का आभास मिलता है, परन्तु उनकी सपूर्ण रचनाओ में उनका वही स्थान है जो केशव, बिहारी, देव, सेनापति आदि की रचनाओ मे उनकी कतिपय भक्तिपरक रचनाओ को दिया जाता है। अन्यथा पद्माकर, मतिराम, देव आदि की जैसी उक्तियाँ हैं वैसी ही उनकी भी है। बिहारी ने अपनी 'सतसई' मे कई भक्तिपरक दोहो की रचना की है; सेनापति ने राम, कृष्ण गंगा आदि की स्तुति मे अपनी भक्ति-भावना का अत्यन्त सुन्दर परिचय दिया है; रहीम ने प्रायः सभी देवी-देवताओ के सम्बन्ध मे कुछ-न-कुछ कहा है; पद्माकर ने तो 'गंगा लहरी' ही लिख डाली है और शेख तथा आलम ने भी अपनी भक्ति-भावना का परिचय दिया है। परन्तु वे भक्त नहीं, शृङ्गारी कवि ही स्वीकृत हैं। इसलिए घनानन्द को भी हम शृङ्गारी कवि ही मान सकते हैं।

काव्य-शैली के प्रयोग की दृष्टि से भी घनानन्द शृङ्गारी कवि ही ठहरते है। कृष्ण-भक्त कवियो की अधिकांश रचनाएँ गीतो मे ही मिलती हैं। भक्ति-भावना के स्फुरण के लिए गीत ही अधिक उपयुक्त होते हैं। घनानन्द ने भी गीत लिखे है और वे विविध राग-रागिनियो से समन्वित भी है, परन्तु उनमे वह तन्मयता, वह भाव-गांभीर्य, वह अर्थ-गौरव और भाषा की काट-छाँट नही है जो उनके कवित्त-सवैयो मे पाई जाती है। उनके गीत भक्त कवियो के गीतो की अनुकृति-से लगते है, परन्तु उनके कवित्त-सवैयो मे उनका हृदय बोलता हुआ-सा सुनाई पड़ता है। उनकी यह प्रवृत्ति शृङ्गारी कवियो की प्रवृत्ति है। शृगारी कवियो की भाँति उन्हे कवित्त और सवैयो की रचना मे जो सफलता मिली है वह उन्हे गीतों की रचना मे नही मिल सकी है।

घनानन्द के शृङ्गारी-कवि होने के पक्ष मे एक बात और विचारणीय है। कृष्ण-भक्त कवि प्रबन्ध-रचना की ओर नही मुडे। अपनी भक्ति-भावना के प्रवाह मे उन्होने इसकी आवश्यकता नही समझी। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दो में 'रीतिबद्ध शृङ्गार की रचना करनेवाले भी प्रबन्ध की ओर उन्मुख नही हुए', क्योकि उन्हे अपनी अनूठी उक्तियो-द्वारा अपने आश्रयदाताओ को प्रसन्न करना पड़ता था। घनानन्द के सामने न तो कृष्ण-भक्त कवियो की परिस्थिति थी और न रीतिबद्ध-शृङ्गारी कवियो की। इसलिए वह प्रबंध-रचना की ओर भी मुड़े। 'दान-घटा', 'गिरि गाथा', 'सरस वसत', 'अनुभव-चंद्रिका', 'रंगबधाई', 'प्रेम-पद्धति', 'धाम-चमत्कार' आदि उनकी इसी प्रकार की रचनाएँ है जो श्रीकृष्ण विषयक होने पर भी उन्हे भक्ति-कवियो की श्रेणी मे बैठाने मे असमर्थ हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि घनानद किसी भी दृष्टि से भक्त-कवियो की श्रेणी मे सम्मिलित नही किए जा सकते। उनकी वृत्ति मुख्यतः शृङ्गारी है जो अपने ऊपर कृष्ण-भक्ति की झीना आवरण डालकर हमारे सामने व्यक्त हुई है। झीने घूँघट के भीतर से जैसे नायिका के मुख की आकृति और उसकी आभा झलकती रहती है वैसे ही भक्ति के झीने आवरण के भीतर से घनानन्द की शृङ्गारी भावनाएँ हमे अपना आभास देती रहती

है। इस कारण वह कृष्ण-भक्त होने पर भी कृष्ण-भक्त कवियो की पंक्ति में बैठने के अधिकारी नहीं माने जा सकते।

घनानंद और बिहारी : तुलनात्मक अध्ययन

घनानंद की काव्य-प्रवृत्तियो के सबन्ध में यहाँ तक विचार करने के पश्चात् अब हमे यह देखना है कि रीतिबद्ध काव्य-धारा के प्रमुख कवि बिहारी से उनका कहाँ साम्य और कहाँ विरोध है। घनानंद और बिहारी दोनो शृङ्गार-काल के कवि हैं। बिहारी (सं० १६५२-१७२७) शृङ्गार-काल के पूर्वार्द्ध के कवि है और घनानद (स० १७४६-१८१७) उसके उत्तरार्द्ध के। इस प्रकार काल-क्रम के अनुसार दोनो को स्थिति में लगभग एक शताब्दी का अन्तर है। इस बीच मुगल-साम्राज्य कहाँ-से-कहाँ खसक आया, इसे भारतीय इतिहास के विद्यार्थी भली भाँति जानते हैं। बिहारो का समय मुग़ल-साम्राज्य के उत्कर्ष का समय था। ऐसे समय मे भोग-विलास के साधन अपनी चरम सीमा पर पहुँचे हुए थे। राजदरबारो मे कभी संगीत की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती थी, कभी कविया की वाणी की अजस्र धारा प्रवाहित होती थी तो कभी नर्तकियो के हाव-भाव से मस्ती का वातावरण उत्पन्न हो जाता था। यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो यह स्वीकार करना होगा कि उस समय जिस साहित्य का निर्माण हुआ वह उक्त वातावरण के सर्वथा अनुकूल था। उस समय के कवि लोक-रुचि के परिष्कारक न होकर लोक-रुचि के पोषक थे। बिहारी भी इसी कोटि के कवि थे। नारी के अंग-प्रत्यंग परखने तथा रति की विविध क्रीड़ाओ के वर्णन मे ही उन्होने अपनी सारी काव्य-प्रतिभा लगा दी और अपने आश्रय-दाता का मनोरंजन करते रहे। उन्होने प्रेम की विविध दशाओ का वर्णन किया, पर अपने व्यक्तिगत जीवन मे उनका कभी अनुभव नहीं किया। नारी के प्रति उन्होने भोग-विलास की दृष्टि से देखा और उसी रूप में उसका चित्रण किया। युग की यही माँग थी और इसकी उन्होने जी-भर पूर्ति की। परन्तु घनानंद के सम्बन्ध मे हम यह बात नहीं कह सकते।

घनानंद का समय मुग़ल-साम्राज्य के पराभव का समय था। उस समय केन्द्र की सारी शक्तियाँ तितर-बितर हो गई थीं और सामन्ती राज्य

सत्ता-हीन हो गए थे। सबको अपनी-अपनी जान के लाले पड़े थे। ऐस स्थिति मे कवियों की विलासमयी वाणी सुनने की किसी को फुर्सत नही थी बेचारे देव आजन्म इधर-उधर भटकते रहे और उन्हे एक भी अच्छ आश्रयदाता नही मिला। हिन्दी-साहित्य के विकास की दृष्टि से यह शुभ ह सिद्ध हुआ। आश्रयदाता के अभाव मे हिन्दी-कवियो को स्वतत्र रूप र अपनी भावाभिव्यक्ति का अवसर मिला और उन्होने लोक-रुचि के प्रवा मे न बहकर ऐसी रचनाएँ की जो लोक-रुचि की परिष्कारक सिद्ध हुई ऐसे ही कवियो मे घनानद की गणना की जाती है।

घनानंद और बिहारी की काव्य-प्रतिभा मे भी अन्तर है। बिहार की रचनाएँ रीतिबद्ध-काव्य-धारा के अन्तर्गत लक्ष्यमात्र काव्य मानी जात हैं। लक्ष्यमात्र वे इसलिए है कि उनमे न तो शृङ्गार के भेदो का क्रमबद्ध वर्णन है और न समग्र भेदो के उदाहरण जुटाने का प्रयास। अपनी इस स्वच्छन्दता के कारण बिहारी अपने समय के उन रीति-ग्रन्थ लिखनेवालो से भिन्न प्रतीत होते हैं जो शास्त्र मे गिनाई सामग्री की योजना करने मे लगे रहते थे। घनानद भी बिहारी की भाँति शृङ्गारी-कवि है, परन्तु उन्होने अपने काव्य मे बिहारी से भी अधिक अपनी स्वच्छंदता का परिचय दिया है। वह न तो लक्षणबद्ध काव्य के ढर्रे पर चले हैं और न लक्ष्यमात्र काव्य के। इन दोनों के प्रति उनका विद्रोह रीति-मुक्त अथवा स्वच्छन्द काव्य-धारा के रूप में व्यक्त हुआ है। उनका काव्य शुद्ध प्रेम-काव्य है जिसमे उनकी अनुभूतियो का वेग स्वाभाविक ढग से व्यक्त हुआ है। बिहारी का भी काव्य-विषय प्रेम ही है, परन्तु प्रेम के प्रति उनका सहज आकर्षण न होकर केवल बौधिक है। यही कारण है कि उनका शृंगार-वर्णन हमारे हृदय को स्पर्श न कर हमारे मस्तिष्क को चमत्कृत कर देता है। एक उदाहरण लीजिए:—

'ताहि देखि मन तीरथनि, बिकटनि जाय बलाय।
जा मृगनैनी के सदा, बेनी परसत पाय॥'

बिहारी क उक्त दोहे मे बिहारी की रसिकता है, बिहारी की मस्ती है, बिहारी की विलासिता है, विहारी का नारी के प्रति भद्दा दृष्टिकोण है, विहारी का मस्तिष्क है और इन सब के साथ बिहारी का काव्य-कौशल

है। बिहारी कल्पना के उस्ताद हैं। उनका रूप-वर्णन काल्पनिक है, उनका संयोग वर्णन काल्पनिक है और उनका वियोग-वर्णन काल्पनिक है। वह प्रेम की गहरी घाटियो मे कभी नही उतरे, दूर से उनका दृश्य अवश्य देखते रहे। इसलिए उनका सारा काव्य उनकी 'दिमागी ऐयाशी' का नमूना बनकर रह गया है :—

'कन देबो सौंप्यो ससुर, बहू थुरहथी जानि।
रूप-रहँचटँ लगि लग्यो, मांगन सब जग आनि॥'

नायिका की सुकुमारता के सम्बन्ध में उनका यह दोहा लीजिए और इसमे कल्पना का उड़ान देखिए :—

'छाले परिबे के डरनि, सकै न हाथ छुवाय।
झझकति हिये गुलाब के, झँवा झँवावत पाय॥'

घनानन्द ने भी अपने काव्य मे यत्रतत्र नायिका के रूप की झाकी उतारी है जिससे न तो उनके स्थूल दृष्टिकोण का आभास मिलता है, न उनकी अतिशयोक्ति प्रवृति का और न उनकी कल्पना की ऊँची उडान का। नायिका के रूप का जो प्रभाव उनके मन पर पडा है उसी का हूबहू चित्र उन्होने उदार दिया है :—

'लाजनि लपेटी चितवनि भेद-भाव-भरी,
लसति ललित लोल चख-तिरछानि मैं।
छबि को सदन, गोरो बदन, रुचिर भाल,
रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि मैं॥
दसन-दमक फैलि हियें मोती-माल होति,
पिय सों लड़कि प्रेम पगी बतरानि मैं।
आनँद की निधि जगमगति छबीली बाल,
अंगनि अनंग-रंग ढुरि-मुरि जानि मैं॥'

घनानन्द नायिका-भेद के चक्कर मे नहीं पडे। 'सुजान' के रूप ने उन्हे इतना आकृष्ट किया कि वह उसी के हो रहे और अपने जीवन के अंत तक उसी के बने रहे। उसके रूप-सौंदर्य ने उन पर ऐसा जादू डाला कि वह उसके वर्णन में ही असमर्थ हो गए :—

'रूप की उझलि आछे आनन पै नई-नई,
तैसी तरुनई तेह-ओपी अरुनई है।
उलटि अनंग-रंग की तरंग अंग-अग,
भूषन-बसन भरि आभा फैल गई है ॥
महारस-भीर परैं लोचन अधीर तरैं,
आछी ओक धरैं प्यास-पीर सरसई है।
कैसे घनआनँद सुजान प्यारी छबि कहौं,
दीठि तौ चकित और थकित मत भई है ॥'

ऐसे रूप की रीति में क्या अनोखापन है, इसे भी घनान्द के शब्दों में जान लीजिए :—

'रावेर रूप की रीति अनूप, नयो-नयो लागत ज्यों-ज्यों निहारिये।'

घनानंद के इस कथन मे उक्ति-चमत्कार तो है ही, साथ ही उनकी अनुभूति की स्वीकृति भी है। बिहारी ने भी अपनी एक नायिका के संबंध मे कुछ ऐसी ही बात कही है, परन्तु उससे उनकी स्थूल कल्पना का ही आभास मिलता है :—

'लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥'

बिहारी का यह दोहा पढ़कर पाठक उनके उक्ति-चमत्कार की प्रशंसा करके रह जायगा, पर घनानद की पंक्तियो मे उसे रूप की अलौकिक छबि का आभास मिलेगा।

बिहारी और घनानद, दोनो का काव्य-विषय शृंगार है। बिहारी ने संयोग और वियोग—शृंगार के दोनो पक्षों मे अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। इसलिए उन्हे हम न तो संयोग-पक्ष का कवि कह सकते हैं और न वियोग-पक्ष का। संयोग और वियोग, दोनों पक्षो के चित्रण में उनकी कला का एक ही रूप है। परन्तु घनानंद के शृंगार-वर्णन के संबध में यह बात नहीं कही जा सकती। घनानद की काव्य-प्रवृत्ति वियोगात्मक है। इसलिए वह शृंगार के वियोग-पक्ष के सर्वोत्कृष्ट कवि माने जाते हैं। हिन्दी-काव्य मे उनका विरह-वर्णन अद्वितीय है। बिहारी क्या, दिन्ही का

कोई भी कवि इस क्षेत्र मे उनकी टक्कर का नहीं है। उनकी विरहानुभूति को लक्ष्य कर श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने लिखा है—'विरह तो घनानंद की पूँजी ठहरा। विरह के जो स्वर उनके हृदय से निकले हैं वे रीति-काल तो क्या, सूर की कविता मे भी दुर्लभता से मिलते हैं। रीति-काल की बौद्धिक विरहानुभूति की निष्प्राणता और कुंठा के वातावरण में घनानंद की पीड़ा की टीस सहसा ही हृदय को चीर देती है और मन सहज ही यह मान लेता है कि दूसरो के लिए किराए पर आँसू बहानेवालो के बीच यह एक ऐसा कवि है जो सचमुच अपनी पीडा से रो रहा है.।' रीतिबद्ध-कवियो मे बिहारी का विरह-वर्णन अत्यन्त उत्कृष्ट समझा जाता है, परन्तु उनके विरह-वर्णन में वह विशेषता नहीं मिलती जो घनानद के विरह-वर्णन मे पाई जाती है। बिहारी का विरह-वर्णन बौद्धिक है और घनानद का स्वानुभूति-संपन्न। इसे हम यो भी कह सकते हैं कि घनानंद ने अपने आँसुओ से अपने काव्य का शृंगार किया है, इसलिए वह आत्म-व्यंजक है और बिहारी ने दूसरो के आँसुओ से अपने काव्य का शृंगार किया है, इसलिए वह पर-व्यंजक है। यह अन्तर उदाहरण से और भी स्पष्ट हो जायगा। बिहारी कहते हैं :—

'पलनि प्रगटि बरुनीन बढि, छिन कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतिया छिनक, छनछनाय छपि जात॥'

× × ×

'इत आवति, चलिजात उत,चली छः सातक हाथ।
चढी हिंडोरे-सी रहै, लगी उसासन साथ॥'

× × ×

'आड़े दै आले वसन, जाडे हू की राति।
साहस कै कै नेह-बस, सखी सबै ढिग जाति॥'

× × ×

यह दशा है वियोग मे बिहारी की विरहिणियो की। ध्यान मे देखा जाय तो पता चलेगा कि वियोग-वर्णन मे बिहारी का उद्देश्य विरहिणियो की अन्तर्दशाओं का चित्रण करना नही, वरन् शास्त्रीय पद्धति के अनुसार

उनकी बाह्य दशाओं का ऊहात्मक वर्णन करना है। इसकी तुलना मे घनानंद क्या कहते हैं, यह भी समझ लीजिए :—

'उठि न सकत, ससकत नैन-बान-बिंधे,
इते हू पै विषम विषाद-जुर लू बरै।
सूरे पन-पूरे हेत-खेत तें हटैं न कहूँ,
प्रीति-बोझ बापुरे भए है दबि कूबरे॥
संकट-समूह मैं बिचारे घिरे घूटैं सदा;
जानी न जात जान! कैसे प्रान ऊबरे।
नेही दुखियानि की यहै गति अनंदघन,
चिंता मुरझानि सहै न्याय रहैं दूबरे॥'

एक विरहिणी की यह युक्ति भी विचरणीय है :—

'घर बन बीथिन मैं जित-तित तुम्हें देखौ,
इते हू पै जान! भई नई बिरहामई!
बिषम उदेग-आगि लपटैं अन्तर लागैं,
कैसें कहौ जैसें कछु तचनि महातई॥
फूटि-फूटि, टूक-टूक ह्वै कै उड़ि जाय हियो,
बचिबो अचंभो, मीचौ निदर करैगई।
आनँद के घन लखें अनलखें दुहूँ ओर,
दईमारी हारी हम आप हौ निरदई॥'

वियोग घनानन्द और उनकी विरहिणियों के जीवन का एक ऐसा अग बन गया है कि उन्हे संयोग मे भी वियोग की खटक लगी रहती है। 'मिले हूँ मैं मारै जारै खरक बिछोह की'—का यही मतलब है। उन्हें न तो संयोग में चैन है और न वियोग मे। तड़पना, छटपटाना, रोना-धोना उनका स्वभाव-सा हो गया है। बिहारी की विरहिणियाँ इस स्थिति में नही है। यदि संयोग मे उनका रति-विलास अपनी चरम सीमा पर है तो वियोग में भी उनकी दशा किसी अग्नि-पुंज से कम नहीं है। इससे यह ध्वनित होता है कि बिहारी की विरहिणियो का प्रेम वासना-जन्य है और वे वासनामय प्रेम की उपासिका हैं।

घनानन्द और बिहारी, दोनो ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण किया है। बिहारी का षट्ऋतु-वर्णन रीतिबद्ध-काव्य में अत्यन्त उत्कृष्ट और सुन्दर है,परन्तु वह है शास्त्रबद्ध। उसमें उक्ति-चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ नही है। संयोग मे पावस का यह चमत्कार देखिए :—

'छिनकु चलति, ठठकति छिनकु, भुज प्रीतम-गर डारि।
चढ़ी अटा देखति छटा, बिज्जु-छटा-सी नारि॥'

इसी प्रकार वियोग-पक्ष मे यह दोहा लीजिए :—

'पावक-झरते मेह-झर, दाहक दुसह विशेष।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देख॥'

घनानन्द भी अपने प्रकृति-वर्णन में उद्दीपन के पाश से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने बिहारी की भाँति षट्ऋतुओ का वर्णन तो नहीं किया है, पर चातक, कोयल, घन, बिजली और होली को वह विस्मृत नही कर सके हैं। फागुन मास मे उनकी एक विरहिणी पर क्या बीत रही है, इसका अनुभव निम्न पक्तियों मे कीजिए :—

'फागुन महीना की कही न परैं बातैं, दिन—
रातैं जैसैं बीतत सुने तें डफ-घोर कों।
कोऊ उठै तान गाय, प्रान बान पैठि जाय,
हाय चित-बीच, पै न पाऊँ चित-चोर कों॥
मची है चुहल चहूँ दिसि चोप-चाँचरि सों,
कासों कहौ, सहौ हौ, वियोग-झकझोर कों।'
मेरो मन आली वा बिसासो बनमाली बिन,
बावरे लौ दौरि-दौरि परैं सब ओर कों॥'

घनानन्द की ऐसी रचनाएँ उनकी उन प्रारम्भिक रचनाओ के अतर्गत आती हैं जो काव्य-रीतियों से प्रभावित है। उन्होने अपने काव्य में प्रकृति को अत्यधिक महत्त्व नहीं दिया है। उसका जितना अंश उन्होने लिया है वह भी परिमित है और उसके कुछ चुने हुए प्रसङ्ग ही मिलते हैं।

यहाँ तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि यदि बिहारी अपनी रचनाओ मे कला-प्रधान हैं तो घनानन्द भाव-प्रधान। भावुक कवि होने के

नाते घनानन्द ने रस-परिपाक की ओर ही अधिक ध्यान दिया है।वह क
वादी न होकर रसवादी थे। उन्होने अपने भावावेग को कभी अपनी क
कारिता से दबाने की चेष्टा नही की। उनका विश्वास था कि काव्य
कला का प्रयोग उसी सीमा तक वांछित है जिस सीमा तक वह भावो
उत्कर्ष में सहायक होती है। भावों पर अपना प्रभुत्व एवं एकाधिकार जम
वाली कला मस्तिष्क को झकझोरने वाली होती है, हृदय को उद्वेलित क
वाली नही। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण उन्होने अपनी रचनाओ में अ
कारो का प्रयोग अत्यन्त स्वाभिक ढङ्ग से किया है। इसके विरुद्ध बिहारी च
कारवादी कवि थे। उन्होने अपनी रचनाओ मे अधिकाश शब्दो की कल
बाजी ही दिखाई है। नायिका की एड़ी से उसकी चोटी तक के वर्णन मे उन्हो
भाषा-कोश और अलंकार-शास्त्र का एक-एक रत्न परखा है और उससे अप
काव्य का शृङ्गार किया है। उन्होने कविता की है अपनी वाणी, अप
प्रतिभा, अपनी बहुज्ञता और अपनी शास्त्रीय विद्वता का पाठको के हृदय प
सिक्का जमाने के लिए। पर घनानन्द का यह उद्देश्य नही था। उनव
कविता का स्रोत उनके हृदय से अनायास ही फूट पडा था और वह कवि
गए थे। उनकी कविता को परखने के लिए उनका-सा हृदय चाहिए। बिहा
की कविता बहिर्मुखी है। इस लिए उसके जौहर कोई भी काव्य-शास्त्र
परख सकता है। परन्तु घनानन्द की कविता का मूल्याकन करने के लि
काव्य-शास्त्र के ज्ञान के साथ-साथ हृदय की विविध अन्तर्दशाओ का ज्ञा
भी अपेक्षित है। दोनो की काव्य-साधना पर विचार करते हुए श्री शम्भु
प्रसाद बहुगुना ने लिखा है—'बिहारी की कविता काट-छाँट कर सँवारे
हुए फूलो का गुलदस्ता अथवा सगमरमरो की चित्रकला है तो घनानन्द की
कविता, मीरॉ के काव्य की भॉति उस विरहिणी का घर है जिसके आँसू
शून्य में सूख जाते हैं और जो बीती हुई बेला और भुलाया हुआ प्यार होने
से अपने उच्छ्वासो के आँसुओ की माला पिरोया करती है।'

भाषा की दृष्टि से यदि देखा जायगा तो ज्ञात होगा कि घनानन्द
और बिहारी दोनो ब्रजभाषा के कवि हैं। दोनों ने ब्रजमडल में रहकर
अपना समय बिताया है और इस प्रकार ब्रजभाषा की आत्मा से परिचय

प्राप्त किया है। दोनों ने अपनी रुचि और प्रतिभा के अनुरूप ब्रजभाषा को नयी शक्तियों से मंडित किया है और उसमे मुहावरों तथा लोकोक्तियो का समावेश कर उसे सजीवता प्रदान की है। दोनों की भाषा मे नाद-सौंदर्य है और दोनों ने वाक्य-ध्वनि, पद-ध्वनि और पदाश-ध्वनि से काम लिया है। प्रवाह और गति भी दोनो की भाषा में समान है। बोल-चाल के शब्द भी दोनों ने अपनाएँ हैं। परन्तु फिर भी दोनों की भाषा में अन्तर है। घनानन्द की भाषा बिहारी की भाषा की अपेक्षा अधिक सरस, लचीली, भावानुकूल, विषयपरक और व्याकरण के नियमो से बधी हुई है। इसके अतिरिक घनानन्द ने अपने कवित्त-सवैयों की ब्रजभाषा में विदेशी शब्दो का प्रयोग नही किया है। लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ से भी उनकी भाषा परिपूर्ण है। मुहावरों के प्रयोग मे भी वह बिहारी से आगे हैं। विरोधमूलक प्रयोग-वैचित्र्य से चुभती हुई वचन-वक्रता का आविर्भाव जैसा उनकी भाषा मे हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।श्री शभु प्रसाद बहुगुना के शब्दों मे 'भाषा की समाहार और समास-शक्ति के कारण बिहारी बड़े कवि हैं, किंतु भाषा की सरल स्वाभाविक स्वच्छता और वेदना की करुण अभिव्यक्ति के लिए घनानन्द रीति-काल के कवियो मे अद्वितीय हैं।' संक्षेप मे बिहारी की भाषा कृत्रिम और घनानन्द की भाषा स्वाभाविक है। छद-योजना की दृष्टि से बिहारी घनानन्द से बहुत पीछे हैं। बिहारी ने केवल दोहे-सोरठे लिखे हैं, पर घनानन्द ने दोहों और सोरठों के अतिरिक्त कवित्त, सवैया, छप्पय, पद आदि अनेक छन्दों मे अपनी काव्य-प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। इन छंदों में उनके कवित्त-सवैये ही भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से बेजोड़ हैं। इस क्षेत्र में हिन्दी का कोई भी रीतिबद्ध अथवा रीतिमुक्त कवि उनसे होड़ नही ले सकता। दोहों के प्रयोग मे बिहारी की भी ऐसी ही स्थिति है। उनके दोहे 'नाविक के तीर' कहे गए हैं। उनमें भाषा की ऐसी सुन्दर समाहार और समास शक्ति है कि उनके सम्बन्ध में 'गागर में सागर' वाली कहावत चरितार्थ होती है। घनानन्द को अपने कवित्त और सवैयों मे भावो की अच्छी दौड़ लगाने का अवसर मिला है। इसलिए उनमें भाषा का संकोच नहीं है। फिर भी उसमे निरर्थक शब्दो का समावेश नहीं हो पाया

है। मुक्तक दोनो है, पर घनानन्द प्रबंध की ओर भी झुके हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि बिहारी और घनानन्द, दोनो की काव्य प्रतिभाओ में पर्याप्त अन्तर है। घनानन्द को प्रेम-भावना यदि आत्मिक सौंदर्यान्वेषिणी है तो बिहारी की बाह्य सौंदर्यान्वेषिणी। प्रेम की वह गहन अनुभूति जो घनानन्द की रचनाओं मे पाई जाती है, बिहारी की रचनाओं मे नही है। पुनरावृत्ति के लिए यह कहा जा सकता कि बिहारी को घनानन्द की भाँति प्रेम की विविध अंतर्दशाओ का ज्ञान नही है। इस कारण जहाँ घनानन्द मे अभिव्यक्ति की स्वच्छदता पाई जाती है वहाँ बिहारी में काव्य की बधी-बँधाई परंपरा को पालन करने की प्रवृत्ति। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण बिहारी कला की दृष्टि से ही अपने काव्य मे ऊँचे उठ सके हैं। उनकी भाषा मे जो समास-शक्ति, जो प्रवाह, जो चुलबुलापन, जो चमत्कार, जो विविधता और जो आकर्षण है वह उनकी कला की देन है। घनानन्द में कलात्मक प्रयत्न नहीं है। वह अपनी वियोग-व्यथा के स्वाभाविक चित्रण के कारण ही महान है।